

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

कबीर : एक विवेचन :

[कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का गवेषणात्मक अध्ययन]

लेखक

डा० सरनामसिंह शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, राजस्थान कालेज, जयपुर

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य सत्सार, दिल्ली-६

मूल्य

साढ़े बारह रुपये (१२.५०)

प्रथम सस्वराण

जून, १९६०

मुद्रक

भारत मुद्रणालय, शाहदरा दिल्ली
नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, चौडा रास्ता, जयपुर

प्राक्कथन

कबीर मध्यकाल के तान्त्रिक पुरुष थे जिन्होंने अपना जीवन म तो उत्क्रान्ति की ही, साथ ही समाज में भी एक हलचल पैदा कर दी थी। उन्होंने अन्तर और बाहर की परिस्थितियों पर एक ही साध-धाया बोर कर समाज और मान-लोकों को जो प्रेरणा दी उस न तो इतिहास भुला सकता है और न साहित्य ही। कबीर का जीवन विलक्षण जीवन था और उनकी समग्र विलक्षणताएँ एक महापुरुष के जीवन की विलक्षणताएँ थीं। एक ओर वे निरक्षर भट्टाचार्य थे जिन्होंने (ममि) और कागज को छुया तक नहीं था और दूसरी ओर वे ज्ञान, अनुभूति और प्रेम के प्रगाथ भंडार थे। उन्होंने जुनाहा कुत में उत्पन्न होकर बड़बड़ पड़िता और काजियों की जिस निर्भीकता से खबर ली उसकी कल्पनामान अधमा के उद्धार की प्रेरणा बन सकती है। इतनी बलिष्ठ रूढ़ियाँ पर किस साहस और शक्ति से उन्होंने प्रहार किया था यह देखते ही बनता है। कबीर का काम एक ऐसे चतुर एवं कुशल सज्जन का काम था जिसके सामने समाज के हृदय के अपारेशन का प्रश्न था। उस अपारेशन के लिए कबीर ने पूरी तैयारी की थी। ✓

एक दान्त परिवार में उत्पन्न होकर भी उन्होंने इतने बड़े समाज का अध्ययन किया, उसकी दुर्बलताओं पर इतनी सूक्ष्मता से दृष्टांत किया और सुधार की इतनी रेखाएँ खींचकर उन्होंने जो कल्पित-चित्र तैयार किया उस पर किसी भी आदर्श समाज को गर्व हो सकता है। उनकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी अनुभूतियों को दूसरों के कल्याण के लिए इतनी ईमानदारी से प्रेषित करते थे कि स्वयं प्रेषण में निमग्न हो जाते थे। इसी ईमानदारी में उनका सत-स्वभाव निहित है।

यों तो उनसे पहले भी बहुत से सत हो चुके थे किन्तु किसी को सतमत के प्रवर्तन का श्रेय नहीं मिला। विद्वानों का कहना है कि रामानन्द को यह श्रेय दिया जा सकता है किन्तु मैं समझता हूँ कि सतत्व के विशेष कृपापान कबीर ही थे और उन्हीं को सतमत के प्रवर्तन का श्रेय मिलना चाहिये। सतमत के साथ कबीर का निर्गुण मत भी जुड़ा हुआ है जो धार्मिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण उत्क्रान्ति का रूप में दृष्टव्य है।

सतमत और निर्गुणमत, य दो ऐसे शब्द हैं जो मत कविता की विचार धारा की ओर मकेत करते हैं। सत शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार में की जाती है। कुछ विद्वान इन शब्द की 'सान्त' शब्द से व्युत्पन्न मानत ह और कुछ इसको 'सत' शब्द वा बहुवचन रूप (सन्त) मानते हैं जो अथ एक-वचन में प्रयुक्त होत लगा है। दोनों अर्थों में इस शब्द का प्रयोग सन्त कविता के लिए उपयुक्त है किंतु सत्य की ओर मकेत करने के अतिरिक्त 'सत्' शब्द में साधुताका बोध भी होता ह इस प्रकार सन्त शब्द प्रभूत सकें प्रयोग करके असाधु के विरोध में साधु का पर्यायवाची बन गया है। धार्मिक जीवन के क्षेत्र में तो यह शब्द सुरदास तुलसीदास जैसे सगुण भक्तों को भी जो किसी भिन्न विचारधारा से संबंधित है, आत्मसात् कर लेता ह।

'निर्गुण मत' की कल्पि सु-नाम नहीं है। कट्टरता का छेड़ देने पर सत मत व तो परमान्मा के सगुण रूप का ही तिरस्कार करता ह और न निर्गुण रूप को ही अन्तिम मान बैठते ह क्योंकि तत्त्व दोना से परे है और उसकी प्राप्ति दोनों से ऊपर होने पर ही हो सकती है। जबकि इस मत के पीछे के मनों में इन रूपों से ऊपर जाने की प्रवृत्ति कुछ अधिक होकर कठोर हो जाती है तो इन नाम की अयुक्तता स्पष्ट हो जाती है। फिर भी परंपरागत प्रयोग को शक्ति से सम्पन्न होत के कारण इस शब्द का प्रयोग हो ही रहा है और एसा प्रतीत होता है कि कबीर आदि सत मत भी इस शब्द को स्वीकार कर लिया था।

यहां यह कहना अनुचित न होगा कि कबीर आदि सतों को निर्गुणी हम केवल इसलिए कहते हैं कि उन्होंने सगुण भक्ति के स्थूल रूप (यथा मुक्तिदा और अवतारा की पूजा) को मान्यता नहीं दी।

ध्यान रखने की बात तो यह है कि 'सतमत' निर्गुण और भुक्तीमत से भिन्न है यद्यपि ये दोनों मत सतमत से कुछ कुछ मिलते जुलते हैं। तात्त्विक दृष्टि में निरञ्जल मत हिन्दू मत है और सूफी मत इस्लामी। ये सतमत से बेवत उस सीमा तक भिन्न हैं जहां तक कि ये अपने अपने मूल धर्मों के साथ शान्ति एवं सौम्य से युक्त प्रतीत होत ह यद्यपि ये भी निस्सन्देह यही चाहत हैं कि अनन्त जितने आत्माओं के होने हुए भी लोक विद्व-आन्देह के अर्थ अपने यह प्रसित्व को सिद्ध करे। निरञ्जनी लोग हिन्दू-विद्वेद के पूजा को समाप्त करत ह यद्यपि वे अनन्त दृष्टिदाया और

अवतारों को निरजन ब्रह्म की अपेक्षाकृत लघु अभिव्यक्ति मानकर उनको पूजने की आवश्यकता नहीं मानते, फिर भी वे परंपरागत सामाजिक नियमों का विरोध नहीं करना चाहते ।

सूफ़ी लोग भी अपने अनेक नवियों और रसूलों का समादर करते हैं । यद्यपि उन्होंने रामानुज से कुछ-कुछ मिलते-जुलते अनिस्लामी वेदान्त से ही अपने मत का पूर्ण कलेवर तैयार किया है । फिर भी इस्लाम के प्रति उनका प्रेम और आदर है । सूफ़िया की दार्शनिक धारा विधिष्ठाद्वैतिक दृष्टि की है और निरजनियों की दर्शन-प्रणाली कबीर की सी है । निरजन मत नाथ पथ की ही एक विकसित शाखा है । इसमें योग वेदान्त से पूर्णतः प्रभावित है । अतएव यह कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि निरजन मत की स्थिति नाथ पथ और कबीर पथ के मध्य में है । दार्शनिक क्षेत्र में कबीर की विचार-धारा से उसका बहुत साम्य है और रामानन्द के साथ भी वह उभी स्थिति में रखा जा सकता है । विशेष अन्तर तो उस समय व्यक्त होता है जबकि कबीर के अनुयायी और धर्मदासी तथा राधास्वामी जैसे अन्य लोग निरजन का कालपुरूप के रूप में निरूपण करते हैं ।

जो हो, मतमत और निर्गुण मत दोनों के संबन्ध से गत पच्चीस-तीन वर्षों में कबीर की 'बानियाँ' का अध्ययन होता आ रहा है । कबीर की बाणी-किसी एक प्रान्त या अंचल के आदर की वस्तु नहीं रही है । उसका अध्ययन पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में सब ओर हुआ है । मध्यकालीन सन्तों में कबीर का विशेष स्थान होने के कारण विद्वानों ने उनका अध्ययन विशेषता से किया है । यो तो समस्त सन्त-साहित्य का अध्ययन हमें सन्तों की शिक्षाओं एवं सांस्कृतिक रुचि एवं प्रवृत्ति का ज्ञान कराता है, किन्तु कबीर का अध्ययन इस दृष्टि से बड़े महत्व का है । उनकी बाणी में सांस्कृतिक परंपरा का एक ऐसा विकास दृष्टिगोचर होता है जिनमें अन्धकारमय मस्त्रुतिक का इतना मधुर पुट है कि उसकी अन्धकारमयता प्रतीत नहीं होती । कुछ लोगों का तो अवतक यह विरवापि रहा है कि कबीर अशिक्षित थे और इनके कारण उनके दार्शनिक विचार निराधार, अपरिपक्व एवं असंबद्ध थे, किन्तु यह उनका भ्रममात्र है । कबीर-पथ का अपना मौलिक एवं दृढ धरातल है और उसमें एक दार्शनिक प्रवृत्ति है जिसमें भौतिकता के पुट के अन्धीकरण को शक्ति एवं व्यर्थस्थिति करने की चेष्टा की है । सन्तों की दार्शनिक कदवा भी समीचीन व योग्य माने कि

व तो भक्त भी थे । नन्त भी ऊच दर्जे के श्रीर कबीर की भक्ति ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करती है जिसमें ज्ञान और योग का मधुर मिलन हुआ है । जहाँ-जहाँ भक्ति और ज्ञान का मधुर मिलन दखना हो, वहाँ-वहाँ उनकी रहस्य-साधना भी देखने योग्य है । या तो योग न भी रहस्य की भूमिका पर अपना रूप सभाला है किन्तु उमम वह माधुम नहीं आ पाया जो उनकी अद्वैतिक रहस्योक्तिमें म आया है ।

कबीर ने जा धम स्वीकार किया है यह सरल सहज और व्यापक है । उन्होंने परंपरागत धर्म की विकृत रूढ़ियाँ को उच्छिन्न करके वास्तविक धर्म की तात्त्विक प्रकृति को व्यक्त किया है जिसे हम उनकी वाणी में इस प्रकार देख सकते हैं— स्वामी के प्रति सत्वाचरण करो और दूसरा के प्रति सदाचार—साईं सती साच चलि औरा सू मुध भाइ । भाये लाम्बे केस फस, भाये धुरडि मुडाइ ॥” इसी वास्तविकता की प्रकृति के कारण कबीर ने धर्मों के दमा और पालड़ा का विरोध किया था जिसकी गवणण मौलिक आध्यात्मिक धर्म की गई थी इसी के आधार पर तुकाराम ने कबीर की गणना उन चार महापुरुषों में की थी जो अनुगमनीय हैं । चौथा भी तरि धरि सोइ रे—अन्यतीन नामदेव ज्ञानदेव, और एकनाथ हैं ।

कबीर की कीर्ति पताका को धर्म लोक में फहराती हुई देखकर पीपा और रंदास विस्मय में पुकार उठे— कबीर नवलख और त्रिलोक में प्रसिद्ध हैं—नाव नवलखण्ड परिसिध कबीरा ।’ कुछ लोग भ्रमवश वास्तविकता की प्रकृति का स्पष्ट तक न करते हुए कबीर को इस्लाम का गुप्त प्रचारक मान कहते हैं, यह बड़े खेद की बात है । वे कबीर के आध्यात्मिक विचारों में वह सार, न जाने क्या नहीं देखते जिसपर भारतीय संस्कृति की आधारशिला रखी हुई है । भारतीय विचारधारा में जो कुछ बरिष्ठ है, कबीर पथ उस सबका तो सुमिथक है ही साथ ही उसमें उन अमरतीय विचारों का भी समावेश कर लिया गया है जो भारतीय विचारों के अनुकूल रहे हैं ।

उसमें अपनी सारग्राहिता के कारण भारत के सभी अध्यात्म मार्गों का सार ग्रहण कर लिया है । भारत में समय समय पर हानि वाल विभिन्न आन्दोलनों से आध्यात्मिक संस्कृति के धन में जो कुछ उपलाभ हुआ वह कबीर के उदय से पूर्व ही निर्गुण विचारधारा में सन्निहित हो गया था । अजया जाप के साथ योगाभ्यास, तानिक शरीर विज्ञान, प्राणायाम-नवधी

अनेक प्रक्रियाएँ शंकर का अद्वैतवाद, अनुग्रह का सिद्धान्त, अनासक्तिमय प्रेम की तीव्रता (जिसकी अभिव्यक्ति तत्रो म मिलती है) — इन सबका एकत्र सार-संग्रह कबीर की वाणी में हुआ है।

बड़े विस्मय की बात तो यह है कि ऐकान्तिक धर्म और बौद्ध धर्म के रूप में प्रारंभ होने वाली दो विभिन्न आध्यात्मिक धाराएँ यथार्थ शताब्दियों तक पृथक पृथक विकसित होती हुई अन्त में क्रमशः वैष्णव धर्म और नाथपंथ के रूप में आकर निर्गुण मत में एक हो गयीं। इस एकता का विरोप श्रेय कबीर को है। कबीर की निर्गुण वाणी में अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो मिलने से पूर्व भिन्न-भिन्न रूप में विकसित होनेवाली उक्त दोनों धाराओं का स्मरण दिलाते हैं। हरि, नारायण, नारदी भक्ति, आदि शब्द ऐकान्तिक धर्म से प्रवाहित होनेवाली धारा की ओर संकेत करते हैं और शून्य विज्ञान निर्वाण आदि शब्द बौद्ध धर्म से विकसित धारा की सूचना देते हैं। पहली धारा से प्रानेवाले शब्दों के अर्थ में इतना भारी परिवर्तन नहीं हुआ जितनी दूसरी धारा के शब्दों के अर्थ में हुआ। शून्य और विज्ञान का संघ बौद्ध दर्शन के नियत मतों से रहा है। नागार्जुन का शून्य शून्य मंडल में सुरक्षित है और वही गोरक्षनाथ के योग-दर्शन में होकर निर्गुण मत में ब्रह्मरूप का अर्थ व्यक्त करने लगा है। कबीर की वाणी में शून्य ब्रह्म-बोधक भी है। कबीर ने मत्स्य का शून्य रूप में भी वर्णन किया है। शून्य एक ही स्थिति भी है और स्थान भी, स्वयं साधारण भी है और निराधार भी।

सत्य को शून्य कहने से नागार्जुन का अभिप्राय यह था कि वह सत् और असत्, दोनों से परे है, किन्तु शंकराचार्य का अनुकरण करते हुए जिन्होंने नागार्जुन के तर्कों का अपने अद्वैतवाद के प्रतिपादन के लिए बड़े कौशल से उपयोग किया। कबीर ने सत्य को मत्स्यस्वरूप ही स्वीकार किया। कबीर के कुछ आधुनिक अनुयायी 'शून्य' को समाधि की वह प्रवस्था माना है जो इन्द्रियानुभूति से परे है। इसी प्रकार ग्रामग का विज्ञान शंकर अद्वैतवाद में होकर विवर्त का अर्थ देने लगा है। कबीर की वाणी में निर्वाण ने भी अपना अर्थ बदल दिया है। जबकि बौद्ध साहित्य में उसका मौलिक अर्थ 'नाश' या 'अन्त' था, कबीर ने उसका प्रयोग 'मुक्ति' के अर्थ में किया है।

कबीर पंथ वैष्णव आन्दोलन से संबंधित है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु नाथों के योग मत में भी उसका कुछ संघ है, यह भी सदिग्ध

नहीं है। योग कबीर का लक्ष्य नहीं है। उन्होंने योग को साधन के रूप में स्वीकार किया है और साधन-रूप में भी उन्होंने योग की केवल वे बातें स्वीकार की हैं जो मन को एकस्थ करने में अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। कबीर-पंथियों ने गोरखनाथ और अन्य योगियों के प्रति विरोध की भावना व्यक्त की थी। इससे विद्वानों को यह भ्रम हो गया था कि उन दोनों मतों का आपस में कोई संबंध नहीं है। विरोध की भावना दादू के समय तक रही आयी थी किन्तु दादू पंथ की स्थापना के पश्चात् उसका दम घुट गया।

कबीर का अध्ययन महात्मा रामानन्द के मूल्य की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि कबीर की विचारधारा के निर्माण में महात्मा रामानन्द का बड़ा योग रहा है। वैष्णव धर्म और नाथ धर्म का मिलन सबसे पहले रामानन्द के व्यक्तित्व में हुआ। इतना ही नहीं वरन् यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि रामानन्द ने निर्गुण मत के किसी एक पक्ष को ही पुष्ट नहीं किया, अपितु उसे विकास का वह पूर्ण रूप दिया जो कबीर के हाथों आया।

कबीर के हाथों में निर्गुण विचारधारा को कुछ योग इस्लामिक स्रोत से भी मिला, किन्तु कबीर-पंथ के लिए उसका मूल्य अधिकतम निषेधात्मक ही है। इस्लाम से जो सबसे बड़ी चीज कबीर को मिली वह आलोचनात्मक दृष्टिकोण के रूप में मिली। इससे उन्होंने हिन्दुओं के अन्ध-विश्वासों और खोखले रीति-रिवाजों की कलाई खोलकर रख दी। मूर्ति-पूजा और अवतार पूजा के विरोध में उठने वाले स्वर में भी इस्लाम की ही प्रेरणा थी। सामाजिक विषमता में सक्षिप्त अन्याय के प्रति भी लोगों की आँखें खोलने में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इस्लाम का हाथ अवश्य रहा किन्तु कबीर की आलोचना-दृष्टि ने इस्लाम की दुर्बलताओं को भी अछूता न छोड़ा। कबीर ने सूफीमत से बहुत कुछ लिया किन्तु विचार नहीं, अभिव्यक्ति की खोली। और यह स्वीकार करना भी अनुचित न होगा कि कबीर को सूफीमत से जो सबसे बड़ी चीज मिली वह थी दाम्पत्य प्रेम से संबंधित विरह तीव्रता। उससे संबंधित 'प्रतीकवाद' भी कबीर को सूफियों से ही प्राप्त हुआ किन्तु यह समझ बैठना अनुचित होगा कि कबीर-पंथ में प्रतिपन्न प्रेम सूफीमत का देन है। इसे तो रामानन्द के वारह शिष्यों ने, जिनमें एक कबीर भी थे, अपने गुरु से ही प्राप्त किया था।

भक्ति प्रायः नवधा मानी गयी है किन्तु उन ऐकान्तिक धर्म में जो रामानन्द को मिला, 'प्रेम भक्ति' सर्वोत्तम मानी गई थी। इसलिए उसे 'दशधा' भक्ति के नाम से अभिहित किया गया। ऐकान्तिक धर्म के प्रवर्तक माने जाने वाले नारद के 'भक्ति-सूत्र' में भक्ति की व्याख्या वे घन्तर्गत उसे 'मात्स्वस्मिन् परम प्रेमरूपा' कहा गया है। इसी 'प्रेमा भक्ति' को रामानन्द ने अपने शिष्यों को दिया और कबीर उसी में निमग्न हो गये। स्वयं कबीर ने 'नारदी भक्ति म निमग्न होकर भवसागर से तरने का' उपदेश इन शब्दों में दिया है।—

“भगति नारदि मगन शरीरा ।

इहि विधि भवतिरि कहं कबीरा ॥”

कबीर के सुरति निरति शब्द अपनी बनावट में अधिक पुराने नहीं लगते। सुरति शब्द को सिद्धों से तथा निरति वे केवल नाथों में संबंधित कर सकते हैं किन्तु वे जिन अर्थों को व्यक्त करने हैं वे योग में सिद्ध हो सकते हैं। यदि उनमें कुछ गवीनता है भी तो यह किसी अन्धकार से आयी हुई नहीं है, वह कबीर की मौलिक उद्भावना है। कबीर के सुरति और निरति को योग की 'सम्प्रज्ञात' तथा 'असम्प्रज्ञात' समाधि मानी खोज सकते हैं, उनका रूप कुछ-कुछ उनसे भी मिलता है। किन्तु उनमें कबीर का सा प्रेम तत्व कहा है ?

कबीर का मूल्य आँकते समय प्रायः उनका विचारक सामने आ खड़ा होता है किन्तु उनका प्रेमी अधिक बलिष्ठ है। कबीर वे 'विचारक' में भी उनका 'प्रेमी' आधार रूप में मनिविष्ट है। 'विचारक' कबीर समाज और धर्म दोनों पर विवेकपूर्ण दृष्टि से देखते हैं और एक सत्य की खोज करते हैं। प्रेमी कबीर उसी सत्य को प्रिय के रूप में देख कर अपने प्रेम को उसी में चरणों में समर्पित कर देते हैं। विचारक कबीर अनसत्य का उच्छेदन करता है और प्रेमी समाज को प्रेम के सूत्र में बांधने का प्रयत्न करता है। कबीर वाली में ये दोनों चित्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। विचारक का एक चित्र इन शब्दों में देखा जा सकता है —

“एक पवन एक ही पाणी, करो रसोई न्यारी जानी ।

माटी सू माटी ले पोती, लागी कही कहा धू छोती ॥

धरती लीपि पवित्र की ही छोति उपाय लोक बिच बोहो ।
याका हमसू कहौ बिचारा क्यू भव तिरिहो इहि आचारा ॥'

मध्यकालीन विचारको म कबीर का स्थान बहुत ऊचा है । कबीर ने ता एस विचारका म स ह जो नवीनता पर प्राचीनता को थोपते ह और न एमे ही विचारका मे स ह जो प्राचीन और नवीन का सामजस्य करते हुए प्राचान के खडन और नवीन क मडन म दबी जवान स काम लेते हो । कबीर एक तीमरे ही प्रकार क विचारक व जिनके सामन रुढियो आडबरो और पाखडा का कोई महत्व नहीं था । उनके विचारो म मानव धम और मानव कल्याण की प्रतिष्ठा थी । उनके विचारा की स्वतंत्रता पर बुद्ध और महावीर की कितनी छाया था यह कहना ता कठिन है किंतु उनके विचारो म बहुत साम्य था यह कहना अनुचित न होगा ।

कबीर स्वतंत्र विचारक हाते हुए भी उच्छखल नहीं कहे जा सकते । उहान तो वास्तव म दश क विशाल वातावरण को मर्यादित एव व्यवस्थित करन का प्रयत्न किया । कहन की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने अपने समय म धम की जो दुदशा एव अधोगति देखी थी उससे वे सतक और जागरूक हो गये थे । इसी जागरूकता न उह सार सग्रह की प्ररणा दी । साथ ही उच्छृ खलता के वातावरण म भडक उठन वाली अमात्मिकता और मूर्खता के विरुद्ध क्रांतिकारी उदघोष किया और धमाधमता के निवारण के लिए बौद्धिक ज्योति का चमकाया जिसम किसी जाति या वर्ग के लिए कोई विशेष अवकाश नहीं था अपितु उमका लाभ मानवमान उठा सक्त था ।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर विचारक और प्रेमी थ । उनका विचारक जिस प्रकार दार्शनिक और सुधारक था उसी प्रकार उनका प्रमा भी सुधारक और भक्त था । कबीर का भक्त किसी संप्रदाय या वर्ग का समर्थक नहीं था । वह अपने आराध्य के समान उदार एव दयालु था और उसी क समान निष्पक्ष एव तटस्थ था । इससे कुछ लागू ने उह गलत समझ लिया है । उनका दार्शनिक दृष्टिकोण देश काल की सीमाग्रा स ग्राम को चीज है । यह बात उनक समकालीन किसी अन्य विचारक म नहीं मिलती सूफी विचारका म अवश्य हा कुछ चिंतन स्वतंत्रता की भलक दिखायी देती है किंतु उनकी धारणा म कबीर का सा ओज और बर्मा प्रखरता नहीं मिल सकती ।

मध्ययुगीन विचारकों में कबीर का विशेष स्थान है। उनके स्वतंत्र चिन्तन में निष्पक्षता, प्रखरता, सयम और शालीनता के साथ-साथ तर्क और पभाव शक्ति भी है। भारतीय विचारधारा को कबीर की वाणी एक बरदान के रूप में प्राप्त हुई। भारतीय जनता पर उनका अमित आभार है। जनता में अपने सहज धर्म द्वारा स्वतंत्र चिन्तन की भावना को जागृत कर देना कबीर का ही काम था। स्वतंत्र चिन्तन के साथ धर्म के प्रति आकर्षण पैदा करना कोई सरल काम नहीं है और इस दिशा में कबीर का प्रत्यक्ष कदम दृढ़ एवं स्तुत्य था। वर्ग और सम्प्रदाय के बन्धनों को तोड़कर मानव को स्वतंत्र वातावरण में स्वाम्य लेने के लिए प्रेरणा देकर उन्होंने मानो बुद्ध के अधूरे काम को पूरा करने का प्रयत्न किया। कबीर का सुधार भी बुद्ध के सुधार की भाँति अनुभव की गोद में पला था किन्तु आस्तिक्य भाव का जो बल कबीर के सुधार को प्राप्त हुआ वह बुद्ध के सुधार को प्राप्त नहीं हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ने भारत में जिन समाज-धर्म के ढाँचे को खड़ा किया उनसे जनता को अमोघ बल मिला, उनके नैतिक जीवन में सुधार की प्रवृत्ति सजग हो उठी और सभी में अपने जीवन, अपने समाज और अपने धर्म के प्रति स्वतंत्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया।

कबीर ने अपने समय की सघर्षमूलक प्रवृत्तियों को शान्त करने का प्रयत्न तो किया ही साथ ही रुढ़िवादियों को प्रकाश देकर समन्वय और शान्ति का मार्ग सुझाया। या तो विश्व में मानव-कल्याण के लिए अनेक महापुरुषों ने अपने-अपने ढंग के प्रयत्न किये। महात्मा बुद्ध, ईसा, मोहम्मद, गाँधी आदि उनके उदाहरण हैं किन्तु कबीर का प्रयास उसके व्यक्तित्व और कवित्व, दोनों का सम्मिलित प्रयास है। कबीर की वाणी में चाहे महान् धार्मिक ग्रन्थ की प्रतिष्ठा न हो किन्तु गुरु महान् रचना के सारे सूत्र उनमें विद्यमान हैं। उसकी विशेषता यह है कि उसमें मानव हित का मूल श्रोत विद्यमान है।

साहित्य के किसी रुढ़िवादी दृष्टिकोण से कबीर का मृत्याकन करना साहित्य के साथ अन्याय करना होगा। कबीर का साहित्य उनके हृदय की प्रेरणा और मस्तिष्क की धारा है। इन दोनों की सहज अभिव्यक्ति कबीर की भाषा की विशेषता है। उसमें न तो शब्दों की जटिलता है, न अलंकार का घटाटोप और न छन्दों की उछल-कूद।

कबीर की वाणी को बड़ी सावधानी से परखन की आवश्यकता है अन्यथा अनर्थ हान की संभावना है। उसका रूप प्रबन्ध-काव्य का रूप नहीं है अनएव भावा और विचारों का सश्लेष दूर तक हमारे सामने कोई चित्र प्रस्तुत नहीं करता। कबीर विचारक भी हैं और भावुक भी। जहाँ वे विचारक हैं वहाँ उनका भावुक आकर भी उममें मिल नहीं सका है और जहाँ वे भावुक हैं वहाँ ऐसा लगता है कि कबीर के विचारों और भावों में कोई सामंजस्य नहीं है किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है कुछ विशेष स्थल ही इस प्रकार के हैं।

कबीर की वाणी ने भाषा के क्षेत्र में बड़ी भारी उत्क्रान्ति की और उस काम को पूरा किया जिमको बुद्ध और उनके अनुयायी न कर सके। बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार के लिए जनता की भाषा को अपनाया था। उनके अनुयायियों ने भी किसी सीमा तक इस बात का पालन किया किन्तु उस बात में सक्षीणता थी क्योंकि बुद्ध और उनके अनुयायियों ने किसी एक भाषा को अपनाया था किन्तु जो भाषा कबीर और उनके अनुयायियों से हमको मिली है वह एक ऐसी लिच्छवी है जिसमें दस के अनेक भू-खण्डों की वाणी का समावेश है। इसी कारण कबीर-श्रवणावली का भाषा में राजस्थानी, गुजराती, ब्रज, पूर्वी आदि की शब्दावली और रूप-राशि का समावेश दिखायी देता है। एक जनतंत्रीय भाषा का क्या रूप हाना चाहिये इस प्रश्न का उत्तर कबीर-वाणी में मिल सकता है।

कबीर जनता के कवि थे। उनकी वाणी साधारण शब्दों में प्रकट हुई थी। उसमें प्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ था इसीलिए जनता ने उस अपनाया और साधारण लोगों में उमका उनी प्रकार समादर हुआ जिस प्रकार शिष्यों समाज में रामचरित मानस का। कबीर के पदों को किसी ने तानपुरे पर गाया और किसी ने साँरणी पर सुनाया। किसी ने भक्ति के पद मुन और किसी ने विरचित थे।

कभी कभी ऐसा लगन लगता है कि कबीर की वाणी में क्षेत्र विस्तार नहीं है। यही आरोप सूर के काव्य पर भी लगाया जाता है किन्तु सूर के सबंध में उनके उपमानों का सहारा लेकर इस आरोप का परिवारण कर दिया जाता है। कबीर ने चाहे उपमानों के क्षेत्र में कोई प्रयत्न भले ही न किया हो, किन्तु उनके उपमानों से सजीव एवं उनके दैनिक जीवन में मिलने वाले उनसे भी कबीर के क्षेत्र का विस्तार तो बढ़ता ही है। माध्यम की कबीर

ने अपने वर्ण को काफी फैलाया भी है। धर्म समाज याचरण नीतिरता, व्यवहार आदि सभी विषयों पर कबीर की वाणी का स्फुरण हुआ है। कबीर का विरहोपचार बड़ा भासिक है। आत्मा तथा परमात्मा के मिलन का जो मर्ष कवि ने चित्रित किया है वह अद्वितीय है। उसमें श्रृंगार है और वह भी समग्र रागात्मक वृत्तियों को झट्ट कर देने वाला किंतु वासना से एकदम विनिमुक्त। उसमें श्रृंगार का आनन्द आता है किंतु पाठक उममें वह नहीं पाता। यही कबीर का विद्यापति और जयदेव से अलग है। कबीर के श्रृंगार को कुछ 'नहरा का चित्र देखिय—

साईं बिन दर्द करेजे होय ।

दिन नहिं घैन रात नहिं निदिया कासे कहूँ दुख होय ।

आधो रतिया पिछले पहरवा साईं विना तरस रही सोय ।

कहत कबीर सुनो भाई प्यारे साईं मिले सुख होय ॥'

यदि साहित्य चिंतन अनुभूति कल्पना और अभिव्यजना का एक झट्ट मंदिर है तो कबीर का साहित्य इस सुंदरता और झट्टता से वंचित नहीं है। यह ठीक है कि कबीर न तो सर्वत्र कवि हैं और न सर्वत्र विचारक या सुधारक ही किंतु जहाँ वे प्रेमी दिखाई पड़ते हैं वहाँ कवि भी हैं।

कबीर का जीवन एक मजदूर का जीवन था किंतु उन्होंने अपने इस जीवन को अपनी उन्नति में बाधक नहीं समझा। वरन् अपनी आध्यात्मिक अभिव्यजना में उन्होंने अपने जीवन का पूरा उपयोग किया और अपने रोम-रोम से संचित वाणी को जिस प्रचार काय में लगाया, उसका प्रभाव स्पष्ट है। कबीर का जीवन छोटी-बड़ा के लिए आज तो एक बहुत बड़ी प्रेरणा है। इसलिये आज जबकि एक मानव धर्म की आवश्यकता है कबीर की वाणी का और भी अधिक उपयोग है। उसमें पापानुवाद का स्वर खोजना अनुचित है किंतु दर्प और हीनता का समझौता उनकी वैराग्यवक्तियों में अवश्य मिलता है। कहते हैं कि कवि अमर होता है क्योंकि उसकी वाणी युग-युग के लिए सन्देश देती है। कबीर भी अमर हैं क्योंकि उनकी वाणी भी आज हम सन्देश दे रही है। वह हमें धर्म और समाज की एकता सिखता रही है और नीति का माग प्रशस्त कर रही है।

राजस्थान वालेज जयपुर

—सरनामसिंह

२२ जून, १९६०

विषय-सूची

१—अध्ययन की सामग्री

१७—२४

अध्ययन का आधार कबीर मन्त्र वी दालोचना मरु साहित्य,
हिंदी उर्दू अंग्रेजी के ग्रंथ तथा पत्र पत्रिकाओं को कबीर संबंधी
सामग्री ।

२—कबीर का जीवन वृत्त

२५—२६

जन्म तिथि और समय स्थान जाति नाम परिवार गुरु
स गुरु शिष्य देगाटन वैराग्य ज्ञानाजन किंबदंतिया चित्र
आम माक्षात्कार उपदेश स्वभाव जीवन विधायक निष्कप ।

३—कबीर का समकालीन वातावरण

२७—१०१

राजनीतिक वातावरण देश और राजधानी पर प्रभाव
राजनीतिक प्रभाव का पयवेक्षण धार्मिक वातावरण कीर गव
सम्प्रदाय गवमत शाक्तमत गव गवत और वण्यव मतों
का सम्बन्ध बौद्ध धर्म नाथ पय निरजन सम्प्रदाय इस्लाम
और सूफी मत नाथिक समुदाय जैन धर्म सक्षप व्यवसाय
और व्यापार ।

४—साहित्यिक वातावरण

१०२—१०७

वातावरण का साहित्य पर प्रभाव साहित्य निर्माण की उस
समय की शक्ति हीनता जैन सिद्धों और नाथों के धर्म प्रचार
सव्या भाषा सघक्की चौपाई और रमनिया ।

५—वातावरण का प्रभाव क्रिया और प्रतिद्रिया

१०८—१२१

राजनीतिक अस्थिरता धार्मिक ईर्ष्या द्वेष धार्मिक सवीणता
का कबीर पर प्रभाव भारतोय भक्तिधारा—भाव प्रधान और
ज्ञान प्रधान निगुण पथ ।

६—सिद्धों और नाथों की परम्परा म कबीर

१२२—१५२

हीनयान और महायान सम्प्रदाय वच्ययानी और सहजयानी

सम्प्रदाय, मत्स्थान्द्रनाथ और गोरखनाथ सरहपा, सिद्ध साहित्य, नाथ पथ, ठठयोगिया की साधना-पद्धति, गोरखनाथ की रचनाएँ, कबीर पर प्रभाव ।

कबीर की आलोचना-पद्धति । ✓

१५३—१६५

समाज में सुरूप और कुरूप, आनाच्य विषय, समाज से कुरूप का विघटन, मिथ्याचार का मण्डन, व्यस्यो का समावेश, गर्बो-वितया, निरह्वारता की कृत्क, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक बरातल पर साम्य की प्रतिष्ठा स्थापन में मर्म-स्पर्शिता ।

कबीर का व्यक्तित्व

१६६—१७०

मत्चे प्रतिनिधि, निर्भोक्त, स्पष्टनावादी और विनयी, जागरूक चिन्तक और निष्पक्ष आलोचक, पलायनवाद, अनामकत योगी और ईश्वरानकत भजन । ✓

लोक-मगल की साधना

१७१—१८८

लोक-कल्याण की भावना, लोक-कल्याण में धर्म की महा-यता, कबीर-बाणी में लोक-मगल की साधना, साधु सगति, समाज के शतत्व—अच्छा और कुरा, कर्ण प्रदर्शन, अहम् का नाश, आभ्यात्मिकता, लोक-मगल की दिशा में धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण, हिन्दू मुस्लिम एकता, नारी, विश्व-प्रेम, सामाजिकता, विनयता, हरिजन प्रेम, बुद्ध और राधी की तुलना में कबीर ।

लोक-काव्य की कसीटी पर कबीर-बाणी

१८९—१९७

लोक-काव्य की परिभाषा, कबीर का जीवन-दर्शन, लोक गीत, माखिया, कबीर की वैराग्योक्तियाँ, कला पथ ।

हिन्दी-कविता की प्रतीक-परम्परा में कबीर का योग ✓

१९८—२०६

प्रतीक-शैली की प्राचीनता, प्रतीको के प्रचलन का इतिहास, कबीर की प्रतीक-योजना ।

कबीर-बाणी में समाज-चित्रण

२१०—२३६

कवि पर समाज का प्रभाव, कबीर की बाणी में दो ✓

संस्कृतियों के स्वस्थ मिलन का प्रभाव, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य, बाह्याचारो का खोखलापन, पंडितो और मुल्लाओतवाकाजियों की पोल, मन्-तन्, वेश-भूषा, छापा-तिलक, सकरा-नखरा, माला-कठी, मूर्ति-पूजा और तीर्थ व्रत, रोजा-नमाज, अजा और हज की निस्मारता, पतिव्रता और सती नारी का महत्त्व, कबीर के समय के व्यापारी, कृषक, बलाल, दलाल, सूदखार के सजीव चित्रण, मत्तो प्रथा, पर्दा प्रथा, वर्ण भेद की निन्दा ।

१३—कबीर की प्रेम-साधना ० २३७—२६५

प्रेम क्या है ? प्रेम-पथ विघ्न और साधन, कामादि वा त्याग, ममता, विश्वास, गुणगान, सुरति, निष्कामना एवं अनन्यता, प्रेम की कसौटी, प्रेम की आवश्यकता, प्रेम का फल, प्रेम का प्रभाव, प्रेम विरह ।

१४—भाषा, शैली और कवित्व ० ६९ २६६—२८२

भाषा, शैली, कबीर की कविता में प्रतीक योजना ।

१५—एकता के पथ पर २८३—३०५

एकता की आवश्यकता, आध्यात्मिक एवता, भाषा, ब्रह्म सत्य, अनन्यता, मिथ्या, सहज या शून्य दशा, सुरति-निरति, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में कबीर का एकत्ववाद ।

१६—कबीर का मानववाद एवं साम्यवाद ३०६—३११

मानव बन्धुत्व और द्रेश्वर पितृत्व की पुकार से एकता का आदर्श, यदि महात्मा गांधी के युग में कबीर भी होते, अद्वैतवादी कबीर की सामाजिकता, साम्यवाद का अर्थ, कबीर के साम्यवाद की विशेषताएँ ।

१७—कबीर की उलटवांसियाँ ३१२—३३४

भाषा की अभिव्यजना-शक्ति, प्रतीक-परम्परा, उलटी-उक्तियाँ, सोत, उलटवांसियों का इतिहास, उलटवांसी शब्द की व्युत्पत्ति, दुष्टपूटो का प्रचलन एवं हिन्दी के अन्य कवि, कबीर की उलटवांसियों में विरोधमूलक अलंकार, गोरख धन्वे उलटा मन और उलटा बाजल ।

१८—कवीर की प्रगतिशीलता ✓

३२५—३५२

मात्रवाद और प्रगतिवाद प्रगतिशील गद की याख्या
 कवीर न प्रगतिवाद—अधविश्वामा और आत्मवरा न सत्तन
 अनादुता और धृवता ती भमना मकीणता वा परि धाग
 यथ ध वा चित्रण न कानान परिमितिना म्प्रगतिमूलकता

१९—कवीर का रहस्यवाद 660

३५२—३६६

रहस्यवाद गद की याख्या रहस्यवाद की अनक परिभा
 पाए अतवा ज्ञान और भक्ति अनुभूति सबवाद भारतीय
 स रिय म रहस्यवाद की तीन धाराए प्राचान रहस्यवाद और
 आधुनिक रहस्यवाद कवीर वाणी म रहस्यवाद ।

२०—भारतीय भक्ति परम्परा म कवीर की भक्ति

३६७—४५५

भक्ति परम्परा भक्ति का तात्विक निरूपण भक्ति का
 विकास भक्ति की विभिन्न धाराए एक नयी कडी वृष्णव
 भक्ति की परम्परा म कवीर की भक्ति भक्ति क अनक तत्त्व
 कवीर की भक्ति का तात्विक स्वरूप परमात्मा का स्वरूप
 मानग्रहना भाव भक्ति विद्वान जीवन धार भक्ति भक्ति
 की आवश्यकता भक्ति की भक्ति—(१) श्रद्धा और
 विश्वास (२) साधु-सत्ता (३) नाम-स्मरण (४) गुरु
 कीर्तन (५) विनय दय प्रवाशन (६) गुरुणागति एव ध्या म
 समपण भक्ति क अतराय भक्त के लक्षण निष्कप ।

२१—कवीर का योग-दर्शन

४५६—४७८

कवीर की साधना म योग का स्थान योग और प्रम परम
 पद के माग कवीर एव योग सम्बन्धी रुद्धिया यम नियम
 ध्यान प्राणायाम प्राणायाम और मन नञ्चिर्वा प्रमुख तन्त्रियों
 ना प्रतीक त्रिवर्णा वाणी पञ्चक सहस्रवार चक्र और
 उसकी विरोधता चनाधिष्ठेच वृष्णविनी अमत कवीर की
 योग-साधना का स्वरूप नहजयोग मुद्रादि ध्यान और न
 वायु और मन मन मास्त और ना मत्र और ना अना
 त्वादा व अय नाम लय निष्कप ।

२२—कवीर का चिन्तन-पक्ष

४८०—५०७

अद्वैत त व नामध एव भक्ति दशकाल धवस्था स य

सत्य की खोज, सत्य और नानात्व, अद्वैत सत्य की सम्यता, आत्मा, सत्य और जगत्, शरीर, मृत्यु, जन्म, जगत्, जीव, जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध, सुख-दुःख का कारण, फल, कर्म और कामना, माया, ब्रह्म और माया, माया का ज्ञान, माया का प्रसार, मुक्ति ।

२३—शून्य के विकास में कबीर का योग ५०८—५२६ ५

वैदिक साहित्य में शून्य, बौद्ध धर्म में शून्य, तन्त्रा में शून्य, निष्ठा के मतों में धर्म सम्प्रदाय में शून्य, नाथ सम्प्रदाय में शून्य, निष्कर्म ।

२४—एक ही पथ के दो पथिक ५३०—५३८

गांधी जी के अनुसार आध्यात्मिक शब्द का अर्थ, गांधी जी और कबीर का सत्य के प्रति आग्रह, सत्य के प्रति खोज और दोना की समानता, सत्य पर दृढ़ता, सतोप धन, कबीर और गांधी की साधना पद्धति में प्रथित अन्तर ।

परिशिष्ट—१ ५३६

क—कुछ पारिभाषिक शब्दों का परिचय

ख—कबीर के कुछ प्रश्न

परिशिष्ट—२ ५८५

सहायक ग्रंथों की सूची

हिन्दी ग्रंथ, संस्कृत ग्रंथ, अंग्रेजी ग्रंथ, पत्र-पत्रिकाएँ ।

अध्ययन की सामग्री

किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें दो बातों का विशेष ध्यान रखना होता है—एक तो यह कि वह क्या कहता है और दूसरी यह कि उसके विषय में दूसरे लोगों का क्या मत है और उसका क्या आधार है ? किसी प्राचीन राजा आदि के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण की शोध उस समय की लिखित सामग्री में हो सकती है, किन्तु किसी कवि को हम उसकी रचना में भी खोज सकते हैं। वरन् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कवि को प्रायः हम उसकी रचना में ही पाते हैं। कवि अपनी रचना में रहता है। वही उसका जीवन और वही समकालीन जीवन का मजीब चित्र है। हाँ, रचनाओं में कवि की खोज करने समय उनकी प्रामाणिकता के विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता रहती है, क्योंकि महापुरुषों के नाम पर अनेक सस्ती रचनाएँ जबानों और दुकानों पर चढ़ जाती हैं जिन से सत्य की खोज भ्रम की भूल-भुलैयाँ में पड़ कर बहक जाती है।

जहाँ तक रचनाओं का सम्बन्ध है, शायद कबीर ने तो अपने हाथ में कभी लिखा नहीं था क्योंकि वे पढ़े लिखे नहीं थे। यों तो महात्मा रामानन्द के शिष्यों के सम्बन्ध में आधाररूपतः यह प्रसिद्ध है कि वे पढ़े लिखे नहीं थे किन्तु कबीर के सम्बन्ध में तो यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि 'भनि वागद छुआ नहीं' कबीर के सभी पाठकों की जिह्वा पर आरूढ है। जब वे यह कहते हैं कि 'विदिया न पढ़उं वाद नहीं जानहुँ' तो इससे न केवल यही ध्वनित होता है कि वे वाद विवाद के पचड़े में नहीं पडना चाहते थे, वरन् यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने किसी पाठशाला या मकतब में अध्ययन नहीं किया था। जब दोनों उक्तियों से यह अनुमान लगाना असंभव न होगा कि लिखना-पढ़ना न जानने के कारण कबीर की 'बानियों' को उनके शिष्य ही लिखते रहे होंगे।

कबीर पथ के प्रचार और प्रसार का इतिहास देख कर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि कबीर के पश्चात् उनकी 'बानियों' की अनेक प्रतिलिपियाँ हुई होंगी, किन्तु उनमें से प्रामाणिक वे ही मानी जा सकती हैं जो उनके

समय या उसके कुछ ही बाद की हो। अधिक बाद की प्रतिलिपियों में परिवर्तनों की बहुत संभावना है।

कबीर की 'बानियाँ' अनेक ग्रन्थों में बिखरी मिलती हैं। उनमें से कुछ संग्रह ऐसे भी मिलते हैं जिनमें केवल कबीर की बानियों का ही संकलन है। 'कबीर-ग्रन्थावली' ऐसा ही संग्रह है। इसका संकलन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया था। वे लिखते हैं उनके इस संकलन का आधार सवत् १५६१ की लिखी हस्तलिखित प्रति है। यह प्रति खेमचन्द के पढ़ने के लिए मल्लूदास ने काशी में लिखी थी। यह पता नहीं लगा कि ये खेमचन्द और मल्लूदास कौन थे। क्या ये मल्लूदास कबीरदासजी के वही शिष्य तो नहीं थे जो जगन्नाथपुरी में जाकर रामे और जिनकी प्रसिद्ध खिचड़ी का वहाँ अब तक भोग लगता है तथा जिनके विषय में कबीरदास जी ने स्वयं कहा है 'मिरा गुरु बनारसी चला समंदर तीर' ? यदि ये वही मल्लूदास हैं तो इस प्रति का महत्त्व बहुत अधिक है। यदि ये वह न भी हों, तो भी इस प्रति का मूल्य कम नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि सवत् १५६१ तक की सभी 'कबीर-बानियाँ' इसमें संगृहीत हैं। एक दूसरी प्रति सवत् १८८१ की लिखी हुई मिलती है। इसमें पहली प्रति की अपेक्षा केवल १३१ दोहे और ५ पद अधिक हैं। दोनों के प्रतिलिपि काल में ३२० वर्षों का अन्तर है, किन्तु दोनों में पाठ-भेद बहुत कम है।"

कबीर-ग्रन्थावली का मूल आधार पहली प्रति होते हुए भी इसमें 'ग्रन्थ साहब' के वे सब पद और दोहे भी सम्मिलित कर लिए गये हैं जो पहली प्रति में नहीं थे किन्तु जो बानियाँ मूल अंश में आ गई थी, उनको छोड़ कर शेष सब परिशिष्ट में दे दी गई हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि 'ग्रन्थ-साहब' का संकलन पाचवे गुरु श्री अर्जुनदेव ने स० १६६१ में अर्थात् पहली प्रति के भी वर्ष पीछे किया था जिसमें अनेक भक्तों की वार्षी का समावेश किया गया है। 'ग्रन्थ-साहब' की प्रामाणिकता में कबीर-ग्रन्थावली के इस अंश की प्रामाणिकता को बहुत पक्का कर दिया है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी इस संग्रह की भाषा अधिक प्रामाणिक दीख पड़ती है। यह १६वीं और १७वीं शताब्दी के रूप के बिल्कुल अनुरूप है। 'ग्रन्थ साहब' और कबीर के नाम पर बिकने वाले ग्रन्थों के पदों आदि की भाषा में आकाश-पाताल का अन्तर है। इस कारण 'ग्रन्थ-साहब' में संकलित 'बानियों' को कबीर-वृत्त मानने में आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

'कबीर-बानियो' के सम्बन्ध में दूसरा प्रामाणिक सकलन डा० रामकुमार वर्मा का 'सन्त कबीर' है। उसका संग्रह भी 'ग्रन्थ साहब' के आधार पर ही किया गया है। डा० त्रिगुणायत ने 'संत कबीर' को 'कबीर-ग्रन्थावली' में अधिक प्रामाणिक माना है। कबीर ग्रन्थावली की जो बानियाँ 'ग्रन्थ-साहब' में आई हुई बानियो से मिलती हैं उनकी प्रामाणिकता तो डा० त्रिगुणायत के मत से ही सिद्ध है, किन्तु जिन बानियो का संग्रह म० १५६१ वाली प्रति के आधार पर किया गया है उनकी प्रामाणिकता भी पाश्चीनता एवं भाषा-विज्ञान के हाथों में सुरक्षित है।

म० १५६१ वाली प्रति के प्रथम एवं अन्तिम पृष्ठ 'ग्रन्थावली' में प्रकाशित कर दिये गये हैं। अन्तिम पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति को देखने से यह भ्रम हो सकता है कि मूल लिपि प्रामाणिक नहीं है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेद ने अपने 'कबीर' और डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'संत कबीर' में उसी भ्रम को पाठकों के सम्मने रखा है। मेरी समझ में अन्तिम पंक्ति के कारण रचना की प्रामाणिकता का खडन नहीं किया जा सकता। यह बहुत संभव है कि लिपि-कर्ता ही अन्तिम पंक्ति लिखना भूल गया हो और थोड़े दिन बाद उसके किसी शिष्य ने उसमें उसका लिपि-काल लिख दिया हो। डा० त्रिगुणायत का यह मत उचित ही है कि उक्त प्रतिलिपि को बाद की प्रतिलिपि मान लेने से भी उसकी अप्रामाणिकता की पर्याप्त सिद्धि नहीं होती। भारतीय शिष्य-परंपरा में गुरु-वाणी की मौलिकता कितनी पावन और अपरिवर्तनीय हैं, 'ग्रन्थ-साहब' आदि अनेक धर्म-ग्रन्थ इसका प्रमाण हैं। इस दृष्टि से भी उक्त प्रति में कबीर की बानियो के अप्रामाणिक होने का प्रश्न नहीं उठता।

उक्त दो संग्रहों के अतिरिक्त कबीर की बानियो का एक तीसरा संग्रह महाकवि अयोध्याभिहू उपाध्याय ने 'कबीर-वचनावली' के नाम से प्रकाशित करवाया था। विद्वानों में इस संग्रह की बड़ी प्रसिद्धि है। संग्रहकर्ता ने मुख-बध में स्वीकार किया है कि इस संग्रह का सकलन कबीर-बीजक, बीरासी अंग की साली तथा बेलबेडियर प्रेम की पुस्तकों के आधार पर हुआ है।

'बीजक' कबीर-पद्य की सबसे अधिक प्रामाणिक रचना है। कबीर के अनेक आलोचकों ने इसी ग्रन्थ को अपने अध्ययन का आधार बनाया था। कबीर-बीजक के अनेक संस्करण हो चुके हैं जिनमें पाठान्तर और मत-भेद के कारण प्रामाणिक और प्रक्षिप्त अंशों की गुत्थी को सुलभाना कठिन है।

विश्वभारती पत्रिका' १ मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बीजक के अनेक अंशों को न्यूनाधिक प्रामाणिक कह कर सदेह को अधिक प्रखर कर दिया है। बीजक से सम्बन्धित जग्गीदास-भग्गीदास भगवानदास आदि की कथाएँ बीजक की प्रामाणिकता पर सन्देह का आघात करती हैं। ऐसी कथाओं से यही ध्वनित होता है कि बीजक अपने मूलरूप में अप्राप्य हैं।

सन्त बानी संग्रह' सीरीज प्रकाशन करके वेलवडियर प्रेस ने हिन्दी-साहित्य की बड़ी भारी सेवा की है किन्तु उक्त संग्रहों की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है। कबीर-बानी-संग्रह के सम्बन्ध में भी सदेह के कारण प्रस्तुत हैं। संग्रह की आधारभूत प्रतियाँ और उनके लिपि-काल के अभाव में उसको प्रामाणिक मानना उचित नहीं है। इन 'बानियाँ' की भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि शुद्धि के आग्रह ने बानियाँ की मौलिकता भ्रष्ट कर दी है। यह भी असम्भव नहीं है कि बानियाँ के संग्रहकर्ताओं के राधास्वामी सम्प्रदाय से संबंधित होने से इनमें धार्मिक और साम्प्रदायिक आग्रह भी प्रथित रहा है।

इनके अतिरिक्त कबीर के नाम से अनेक 'रचनाएँ' प्रसिद्ध हो गई हैं। जिस प्रकार किन्हीं दाहों के साथ तुलसी लगाकर उसे प्रामाणिक बनाने का आग्रह दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार 'कविरा' और 'कबीर' के संयोग से अनेक अप्रामाणिक दाहों को कबीर की साखियों' में प्रतिष्ठित किया गया है। विलसन ने केवल आठ ग्रन्थों को कबीरकृत माना है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में कबीर के नाम पर ७५ ग्रन्थों की सूची दी हुई है। रामदास गौड़ ने 'हिन्दुत्व' में कबीर के नाम पर ७१ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कबीर सागर में, जिसका प्रकाशन बंकरेश्वर प्रेस से हुआ है, ४० ग्रन्थों की चर्चा की गई है, 'मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के नाम से प्राप्त ६१ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। काशीनागरी प्रचारिणी पत्रिकाओं ने अपने उर को विस्तार करके कबीर के ग्रन्थों की संख्या १३० तक पहुँचा दी है। कबीर की लोक-प्रचलित बानियाँ के कुछ संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें आचार्य शक्तिमोहन सेन कृत संग्रह प्रसिद्ध है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर का अध्ययन करने के लिए उनके ग्रन्थ ही पर्याप्त नहीं हैं, वरन् वह सब सामग्री भी बड़े काम की है

जो अनेक इतिहासकारों और आलोचकों ने समय-समय पर प्रस्तुत की है। यह सामग्री हिन्दी, फ़ारसी, उर्दू और अंग्रेजी भाषा में बिखरी पड़ी है। इतिहास में धार्मिक इतिहास भी सम्मिलित करना होगा क्योंकि मध्यकालीन धर्म-क्षेत्र में कबीर का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। सन्त-इतिहास की सूची में कबीर का नाम प्रथम श्रेणी में आता है। धर्म के इतिहास में कबीर अपने पथ के प्रवर्तक के रूप में ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। धर्म-परम्परा की एक कड़ी के रूप में कबीर का निरूपण करने वाले अनेक ग्रन्थ देखने में आते हैं, किन्तु सब उल्लेखनीय नहीं हैं। प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—१ चैप्लेनविजम, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स—डा० भंडारकर, २ आउट-लाइन्स आफ रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया—फर्कुहर, ३ मेडिबल मिस्ट्रीसिज्म—आचार्य क्षितिमोहन सेन, ४ रिलीजन नेक्शन आफ हिन्दूज—विल्सन, ५. सिख रिलीजन—मैकलिफ, ६ बुद्धिज्म एण्ड हिन्दूइज्म—इलियट, ७ इण्डियन थोइज्म—मैकनिकल, ८ वैष्णव रिफार्मस आफ इण्डिया—राजगोपालचारी, ९ इन्प्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर—डा० ताराचन्द, और १० रामानन्द टु रामतीर्थ—नटसन कम्पनी। इनमें से कबीर-सम्बन्धी अध्ययन के लिए पहले, तीसरे, चौथे और नवें ग्रन्थ का अधिक मूल्य है। शेष में साधारण विवेचना देकर ही सन्तोष प्राप्त किया गया है।

पहला ग्रन्थ संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् डा० भंडारकर का लिखा हुआ है। इसमें वैष्णव धर्म के साथ-साथ भारत के अन्य धर्मों के उदय और विकास पर भी काफी प्रकाश डाला गया है। यही रामानन्द के साथ कबीर अपने धार्मिक आलोक से आम-बलिन दीख पड़ते हैं। विद्वान लेखक ने सृष्टि की उत्पत्ति एवं अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना में कबीर के अनेक उद्धरणों का बड़ी योग्यता से उपयोग किया है। दूसरा ग्रन्थ भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य क्षितिमोहन सेन का लिखा हुआ है। कबीर रवीन्द्र की भूमिका से इसमें 'सोने में मुगन्ध' का योग हो गया है। आचार्य सेन ने कबीर और उनके गुरु रामानन्द को स्वतन्त्र चिन्तक सन्तों की परम्परा में बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया है। इस ग्रन्थ के दो अर्थ, भूमिका और परिशिष्ट, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। परिशिष्ट में बाउल सम्प्रदाय तथा कबीर पर उनके प्रभाव की सुन्दर विवेचना मिलती है। तीसरा ग्रन्थ विल्सन का लिखा हुआ है। इसमें हिन्दुओं के अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की शोधपूर्ण विवेचना है। यद्यपि कबीर की विवेचना की

दृष्टि में यह ग्रन्थ अविद्य महत्त्व नहीं रखता किन्तु कबीर के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह उपन्न करके मनीषियों के लिए एक प्रश्न प्रस्तुत कर देता है जिम्मा ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा मूल्य है। अध्ययन की सामग्री की दृष्टि से इ.प्लुएन्स आफ इस्लाम ग्रान इण्डियन कल्चर नामक ग्रन्थ बड़ा काम का है। इसके यशस्वी लेखक डा० ताराचन्द ने प्रारम्भ में सूफी मत की प्रौढ़ आलोचना देकर फिर कबीर पर इस्लाम और सूफीमत का प्रभाव दिखलाया है। चिन्तन गभीरता की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है।

ईसा की बीसवीं शताब्दी के पूर्व कबीर पर स्वतंत्र रूप से कोई ग्रन्थ नहीं निकला था। कबीर के अध्ययन का श्री गणेश कबीर नसूर से मानना चाहिये जिसका प्रकाशन बम्बई में सन् १९०२-३ में हुआ। पन्द्रह सौ पृष्ठों की यह एक विंगाल रचना है। पन्थ सबधी अनेक कहानियाँ और सिद्धान्तों में यह ग्रन्थ भरा पड़ा है। इसका साहित्यिक मूल्य चाहे अधिक न हो किन्तु कबीर पर सबसे पहली पुस्तक होने से इसका मूल्य अतुलनीय है।

कबीर ज्ञान नाम का दूसरा ग्रन्थ सन् १९०४ में प्रकाशित हुआ। इसका रचयिता कोई सुखदेव प्रसाद नामक हिन्दू ईसाई था। धार्मिक सकीर्णता के कारण यह ग्रन्थ सत्य का उद्घाटन न कर सका। सन् १९०५ में कबीर साहब का जीवन चरित्र और सन् १९०६ में कबीर कसौटी का प्रकाशन हुआ। पहली रचना सरस्वताविनास प्रसन्न नरसिंहपुर से प्रकाशित हुई। इसका दृष्टिकोण धार्मिक होने से अधिक साहित्यिक महत्त्व नहीं है। दूसरी रचना पद्य में है। इसका प्रकाशन श्री बकटेश्वर प्रसाद बम्बई से हुआ था। इसमें वैज्ञानिक विवेचना का अभाव है। इसके रचयिता कोई कबीर पथी सज्जन बाबू लहनासिंह थे। इसके अनन्तर कबीर चरित्र बोध नामक ग्रन्थ के अतिरिक्त सन् १९१६ तक कोई और ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया। यह ग्रन्थ बम्बई के लमराज श्रीकृष्णदास के यहाँ से प्रकाशित हुआ था। आलोचना के स्तर पर यह रचना भी नहीं आ पाई।

इसके उपरान्त सन् १९१६ में कबीर वचनावली की भूमिका से कबीर के अध्ययन का आलोचनात्मक आधार प्रस्तुत हुआ। इसमें हरिऔध ने साहित्यिक आलोचना के साथ-साथ सद्बालिक आलोचना देकर कबीर के अध्ययन के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। सन् १९२८ में बाबू श्यामसुन्दर

दाम ने 'कबीर ग्रन्थावली' का सकलन करके उसकी भूमिका से कबीर सबकी अध्ययन के सदन की मज्जा की। आलोचना के विकास के इतिहास में 'कबीर ग्रन्थावली' की भूमिका का कुछ कम सम्मान नहीं है, फिर भी कबीर के सिद्धान्तों की समुचित विवेचना का अभाव इसमें खटकता ही है। सन् १९३१ में 'कबीर का रहस्यवाद' प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ अपने ढंग का अकेला है। इसमें विषय की विशद व्याख्या और विवेचना की गई है। इसके पश्चात् 'कबीर का रहस्यवाद' के लेखक, डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के सम्बन्ध में दो सग्रह प्रकाशित किए एक 'कबीर पदावली' के नाम से और दूसरा 'सन्त कबीर' के नाम से। पहले ग्रंथ में कबीर के चुने हुए पदों को सगृहीत करके उसे सक्षिप्त पाण्डित्यपूर्ण भूमिका से सुशोभित किया गया है। सन्त कबीर' में लेखक ने कबीर की प्रामाणिक वाणियों को 'ग्रंथ साहब' से सकलित करके टीकासहित प्रस्तुत किया है। भूमिका इस ग्रंथ की भी सुन्दर है। कबीर के जीवन पर इसमें काफी प्रकाश डाला गया है।

सन् १९४१ में डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' ने प्रकाशित होकर शोध के छात्र को प्रचुर सामग्री प्रदान की। सामाजिक और धार्मिक गवेषणा ने कबीर के सिद्धान्तों को समझने में बड़ी सहायता दी। गवेषणा और पाण्डित्य की दृष्टि से यह कृति अब तक प्रकाशित ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

इधर गत ५-६ वर्षों के भीतर कबीर पर कुछ और पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं जिनमें से डा० त्रिगुणायत कृत 'कबीर की विचारधारा' सर्वोत्तम है। विद्वान् लेखक ने श्रम और अध्यवसाय से अपने प्रबन्ध को शोध के छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया है। सैद्धांतिक मत-भेद होते हुए भी मैं लेखक के 'चिन्तन' की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। डा० रामरतन भटनागर के 'कबीर एक अध्ययन' और महावीरसिंह गहलौत के 'कबीर' ने भी कबीर के अध्ययन को प्रोत्साहित किया है।

उक्त हिन्दी ग्रंथों के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी कबीर पर कुछ ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'प्रोफेक्ट्स आफ इंडिया'—मन्मथनाथ गुप्त, 'कबीर एण्ड कबीर-पथ'—जी जी एच वेस्कट, 'कबीर एण्ड हिज फालोअर'—रेवेरेण्ड एफ ई, निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री—डा० बडधवाल, 'कबीर एण्ड हिज

७२२ '—० मो नर्मिंह, और 'कबीर एण्ड दी भक्ति मूवमेन्ट'—

डा० मोहननिह, अधिक महत्वपूर्ण हैं। 'हर्डेड पोएम्स आफ कबीर'—कवीन्द्र रवीन्द्र (भूमिका लेखिका—ईवीलिन ब्रडरहिल), भी अपना साहित्यिक मूल्य रखता है।

कुछ पत्र-पत्रिकाओं में भी कबीर-सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते रहे हैं। चन्द्रवली पाण्डेय ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १४ पृ० ५३६) में 'कबीर साहब का जीवन वृत्त' नामक लेख प्रकाशित करके साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण काम किया है। कन्याण के योगाक में आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'कबीर का योग वर्णन' लेख लिख कर कबीर के योग-सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। कल्याण के वेदान्ताक में 'कबीर और वेदान्तवाद' लेख ने कबीर के दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का समर्थ प्रयत्न किया है। 'कबीर का अलंकारिक दृष्टिकोण' नामक लेख में डा० ओ३म प्रकाश ने कबीर की काव्य-कला पर अपना मत प्रकट किया है। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने 'हिन्दुस्तानी' भाग २, अ० २, पृ० २०७ पर 'कबीर जी का समय' लेख लिख कर कबीर के समय पर ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। 'कबीर साहब का साधना-पथ' (ले० उदयशंकर शास्त्री), 'जिन्द कबीर की सक्षित चर्चा' (विचार-विमर्ष सम्मेलन, प्रयाग) और 'कबीर' (एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स) नामक लेखों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कबीर को पाठकों के सामने रख कर कबीर-सम्बन्धी अध्ययन को आगे बढ़ाया है।

कबीर-संबन्धी आलोचनात्मक ग्रन्थ उर्दू में भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें से 'सम्प्रदाय'—प्रोफेसर वी वी राम (मिशन प्रेस लुधियाना, सन् १९०६), 'कबीर और उनकी तात्वी'—शिवव्रत लाल (सन् १९१२), 'कबीर साहब'-श्री लुन्सी (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, सन् १९३०), और 'कबीर पथ'—शिवव्रत लाल (मिशन प्रेस, इलाहाबाद) बड़े महत्व के हैं। अन्तिम ग्रन्थ में कबीर-पथ का शास्त्रीय एवं वास्तविक स्वरूप निरूपित करने की चेष्टा की गई है। प्रारम्भिक प्रयत्नों में ग्रन्थ के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस प्रकार कबीर के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री होती हुए भी चिन्तन की व्यापकता के क्षेत्र में उमकी पूर्णता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि कबीर के जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कोई नया तथ्य प्रकट न हो सके, किन्तु चिन्तन के गर्भ में नए अनुमानों और नए दृष्टिकोणों के लिए सदैव अवकाश रहता है। प्रस्तुत लेखकों के प्रयत्नों में भी नया दृष्टिकोण प्रकट हो सकता है।

जीवन

किसी कवि या लेखक के जीवन-वृत्त के लिखने में अन्त साक्ष्य और वहि साक्ष्य, दोनों ही को आधार बनाया जाना है। कबीर की रचनाओं में एक पक्ति के सिवा कहीं भी उनके जीवन-काल का संकेत नहीं

जन्म-तिथि और समय मिलता—'गुरु परसादी जैदेव नामा, भगति के प्रेम इन्हि है जाना !' इस पक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर जयदेव और नामदेव के पश्चात् हुये थे। समय की दृष्टि से इन दोनों में जयदेव पहले आते हैं। कहा जाता है कि जयदेव राजा लक्ष्मण से की सभा (सन् ११७०) को सुशोभित करते थे। गीतगोविन्द इन्हीं की रचना है। यहाँ तक माना जाता है कि 'गीतगोविन्द', 'विज्ञान गीता' या 'प्रबोध चन्द्रोदय' की तरह साकेतिक रचना है। इसमें 'ज्ञान-शृणु' की ओर संकेत किया गया है। 'राधा' जीव-मुक्ति को संकेत करती है। कृष्ण और राधा—ज्ञान और मुक्ति—परस्पर सम्बन्धित प्रेमी और प्रिया है। यह रूपक मान लेने में जयदेव की भक्ति का रूप-चित्र ही बदल जाता है।^१ ऐसी भक्ति कबीर के मत के प्रतिकूल नहीं है।

नामदेव का समय सन् १२७० के आस-पास माना जाता है। ये सतारा जिले में नरसीबमनी स्थान पर एक छोटा बरा में पैदा हुए थे। इनका परिवार शिव भक्त था। कहा जाता है कि बड़े होकर ये कुमार्ग-नामी हो गये और बट-मारी तथा राहजनी करने लगे, किन्तु पंथिक भक्ति-भावना क्षीघ्र ही उमड़ आई और वे 'विठोबा' के भक्त हो गये। उन्होंने हिंदी और मराठी दोनों में कविता की है।

बीजकगत ^२ एक पद में कबीर ने रामानन्द के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। कबीर ग्रन्थावली में कबीर का संकेत एक ऐसे साधु गुरु के प्रति है

^१ मैकलिफ—सिक्ख, Vol VI, पृ० १०

^२ रामानन्द रामरस भाते। कहहि कबीर हम कहि कहि थाके ॥

जितने भ्रामानुभव को रोकने वाले पाखण्ड और अज्ञान के द्वार का भङ्गन कर दिया था। दक्षिण के लखक न भी कबीर को रामानन्द का शिष्य माना है। नाभाजी और धोरछा के हरिराम व्यास का भी यही मत है। यह सम्बन्ध कबीर के समय पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है।

अग्रन्त्य संहिता के बाद के परिशिष्ट 'भविष्यात्तर खण्ड' के अनुसार रामानन्द का जन्म सन् १२६६ ई० म हुआ था और उसी मृत्यु सन् १४१० में हुई थी। डा० भण्डारकर और डा० त्रियसंन ने रामानन्द की जन्म-तिथि सम्बत् १३५६ मानी है जो अग्रन्त्य संहिता के अनुरूप है। डा० फकुर्हर और की साह्रवै ने रामानन्द का समय सन् १४०० से १४७० तक निश्चिन्त किया है।

डा० फकुर्हर और की साह्रवै के मत से रामानन्द की आयु ७० वर्ष की ठहरती है जो भक्तमाल की बहुत काल वपु धारिकं — उक्ति के अनुरूप नहीं है। सम्बत् १३५६ को रामानन्द की जन्म तिथि स्वीकार कर लेने पर सन्त पीपा को जिनका समय सम्बत् १४८२ निश्चित किया जाता है, उनका शिष्य मानने में अड़चन पड़ती है। स० १३५६ को रामानन्द की जन्म-तिथि मान लेने से पीपा के जीवन काल में ही रामानन्द की आयु १२६ वर्ष की हो जाती है। यदि शिष्य होने के समय पीपा को २० वर्ष का भी मान ल तो रामानन्द की आयु १४० वर्ष हो जाती है जो प्रत्यन्त असंभव दिखाई पड़ती है। अतएव स० १३५६ को भी रामानन्द की जन्म तिथि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भक्तमाल के टीकाकार हरिवरन ने रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में रामानन्द का पाचवा माना है। डा० त्रिगुणायत चार पीढ़ियों के लिए ३०० वर्ष का समय मानते हैं। इस दृष्टि से रामानन्द का समय स० १३७५ के आस-पास आता है क्योंकि विद्वाना ने रामानुज का समय स० १०७३ के समीप निश्चित किया है। अपन अनुमान को धोड़ी ढील देकर डा० त्रिगुणायत ने रामानन्द की जन्म तिथि स० १३८५ मानी है और उनकी निधन तिथि लगभग स० १५०० निश्चित की है। 'प्रसंग पारिजात' नामक ग्रन्थ में उनकी निधन तिथि स० १५०५ दी हुई है। यदि यही तिथियाँ मत्त्व मानल तो रामानन्द की आयु १२० वर्ष की होती है जो जनश्रुति से समर्थित है।

प० रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की जन्म तिथि जठ सुदी पूर्णिमा सोमवार स० १४५६ वि० मानी है किन्तु यह तिथि डा० वड्डवाल को मान्य नहीं है। वे कबीर की जन्म तिथि स० १४०७ और स० १४४७ के बीच अनुमान करते हैं। उनका कहना है कि नामदेव की कहानियाँ कबीर के समय में बहुत प्रचलित गई थी और नामदेव की मृत्यु स० १४०७ में होने से

सं० १४०७ के पश्चात् ही ठहरता है। डा० बडधवाल रामानन्द की निधन तिथि सं० १४६७ के लगभग मानकर कबीर की आयु उम समय कम से कम १८-२० वर्ष मानते हैं। इस प्रकार वे सं० १४०७ और सं० १४४७ के बीच में कबीर की जन्म-तिथि का अनुमान लगाते हैं। उनका कहना है कि कबीर का जन्म सन् १३७० ई० अर्थात् सं० १४२४ वि० के आस पास हुआ होगा। डा० त्रिपुरायाल ने कबीर की जन्म-तिथि सम्बन्ध १४५५ मानी है जो 'कबीर चरित बोध' में दी हुई तिथि के अनुरूप है। यह तिथि प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा मानी हुई तिथि से लगभग मिल जाती है। जो हो यही तिथि लोकप्रसिद्ध है। किसी गवेषणात्मक निरर्थक के अभाव में 'प्रतिद्धि' को स्वीकार न करना अनुमान के दायन को स्वीकृति देना है।

कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में जो दाहे प्रचलित हैं वे ये हैं --

- (१) सवत पन्द्र सौ औ पांच मो, मगहर कियो गौन ।
अगहन सुदी एकादसी मिलो पौन से पौन ॥
- (२) सवत पन्द्र सौ पछतरा, कियो मगहर को गौन ।
माघ सुदी एकादसी, रजो पौन में पौन ॥
- (३) सवत पन्द्रह सौ उनहतरा हाई ।
सतगुर चले उठ हसा उगई ॥

—(धर्मदाय द्वादस पथ)

- (४) पन्द्रह सौ उनचास में मगहर कीनो पौन ।
अगहन सुदी एकादसी, मिलो पवन में पौन ॥

--(भक्तमाल की टीका)

उक्त चारों दोहों में कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में चार तिथियाँ मिलती हैं — (क) सं० १५०५, (ख) सं० १५७५ (ग) सं० १५६६ और (घ) सं० १५४६। इनमें से किसी तिथि के सम्बन्ध में प्रमाण नहीं है। अनन्तदाम की परिचर्च के अनुसार कबीर ने १२० वर्ष की आयु प्राप्त की थी। सं० १४५५ (कबीर की जन्म-तिथि) में १२० वर्ष जोड़ देने पर उनको निधन-तिथि सं० १५७५ आ जाती है। इससे कबीर को सिकन्दर लोदी, रामानन्द तथा गुरु नानक का समकालीन मानने में कोई अड़चन नहीं आती। त्रिगुण के अनुसार सिकन्दर से कबीर की भेट सं० १५५३ में, जबकि वे ६८ वर्ष के होंगे, हुई थी। मि० वेस्काट का मत है कि गुरुनानक २७ वर्ष की अवस्था में कबीर से मिले थे। गुरु नानक की जन्म तिथि सं० १५२६ मानी जाती है। इसमें स्पष्ट कबीर की भेट सं० १५५३ में हुई थी।

डा० बडधवाल का कहना है कि स० १५७५ को कबीर की निधन तिथि मानने में उनको विशेष आपत्ति नहीं है, किन्तु यह तिथि प्रमाणों से पुष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के सबष में राजदण्ड का आविष्कार ही कबीर की सिकन्दर लोदी (सन् १४८६-१५१७ ई०) से जोड़ने का कारण बना है। शायद यह प्रह्लाद और कबीर की तुलना को पूरा करने की दृष्टि से किया गया गया हो। वे डा० रामप्रसाद त्रिपाठी के इस मत से सहमत हैं कि सिकन्दर लोदी के समय तक कबीर अपनी खडग-पद्धति को लेकर नहीं पहुँचे होंगे।

किन्तु डा० बडधवाल के इस विचार को भी कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है कि कबीर की मृत्यु स० १५०५ (सन् १४४८) में हुई थी। वे डा० युहरर के इस मत से प्रभावित हुए दोष पड़ते हैं कि 'नवाब बिजली खाँ' ठान ने स० १५०७ में कबीर की कब्र पर एक स्मारक^१ बनवाया जिसकी ररमत स० १६२४ में नवाब फिदाईखाँ ने कराई। डा० युहरर के प्यान को प्रामाणिक तो स्वयं डा० बडधवाल भी नहीं मानते, फिर उसके आधार पर मानी हुई कबीर की मृत्यु-तिथि को प्रमाणित कैसे माना जा सकता है ?

उक्त स्मारक के सम्बन्ध में डा० त्रिगुणायत का यह मत उचित ही दीख पड़ता है कि बिजली खाँ कबीर का भक्त रहा होगा। उसने कबीर के जीवन-काल में कोई स्मारक बनवाया होगा। आगे चल कर फिदाई खाँ ने उनकी मृत्यु के उपरान्त उस को रोजे का रूप दे दिया होगा। डा० रामकुमार वर्मा का भी यही अनुमान है कि बिजली खाँ कबीर का भक्त था। उसने मगहर में उनकी जन्म तिथि के उपलक्ष में रोजा बनवाया था।

'भक्त सुभा-वि-दु-स्वाद' नामक ग्रन्थ में कबीर की निधन तिथि अग्रहन सुदी एकादशी, स० १५५२ मिवती है। प्रमाण का अभाव होने से यह कहना अनुचित न होगा कि यह तिथि अनुमान-प्रमूल हो सकती है।

अस्तु, लोक प्रसिद्धि को प्रमाणों पर कस कर इसी निराय पर पहुँचा जा सकता है कि कबीर का जन्म सवत् १४५५ और निधन सवत् १५७५ में था।

^१ यह तिथि 'भाकॅलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' के आधार पर दी गई है। सर्वे का तिथि-निर्देश अनुमानमूलक ही प्रतीत होता है।

‘स्थान’ शब्द तीन और सकेत करता है—जन्म, निवास एवं मृत्यु। कबीर के जन्म स्थान के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं—एक तो यह कि वे मगहर में उत्पन्न हुए थे, दूसरा यह कि उनका जन्म-स्थान काशी था और स्थान तीसरा—यह कि वे आजमगढ़ जिले के बेलहरा गाँव में उत्पन्न हुए थे। श्री सीताराम चतुर्वेदी और स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुन्दरदास बुद्ध अन्त साक्ष्यों के कारण कबीर का जन्म स्थान काशी मानते हैं, किन्तु डारमकुमार वर्मा इस मत के विरोधी हैं। वे कबीर का जन्म-स्थान मगहर मानते हैं। उनका कहना है कि काशी कबीर का जन्म-स्थान नहीं है। वहाँ तो वे बाद में आकर रहने लगे थे।

अन्त साक्ष्य के रूप में कबीर-बानी की अनेक पक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं, किन्तु कई पक्तियों में एक-दूसरी का विरोध-सा दिखाई देता है जिससे समस्या के हल के स्थान पर उलझन कुछ बढ़ जाती है। उदाहरण के रूप में ‘काशी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चिताए’, को ही लिया जा सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने काशी में जन्म लिया था। इसमें सन्देह के लिए शायद ही कोई अवसर हो, किन्तु, ‘पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई’—इस पक्ति से कबीर की पहली पवित्र का आशय खंडित हो जाता है।

यहाँ ‘दरसन’ शब्द भी विद्वानों के विवाद का कारण बन गया है। मगहर को कबीर का जन्म-स्थान मानने वाले इस शब्द का अर्थ ‘जन्म लेना’ मानते हैं और दूसरे पक्षवाले इसका अर्थ सामान्यतया ‘ईश्वर-दर्शन’ बतलाते हैं। जो लोग मगहर को कबीर का जन्म-स्थान नहीं मानते उनका कहना है कि संभवतः कबीर पर्यटन करते हुए कभी मगहर गये होंगे और वहाँ उन्हें या तो किसी सिद्ध पुरुष के या भगवान् के दर्शन हुए होंगे अथवा वहाँ उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई होगी।

डा. त्रिगुणायत की धारणा है कि कबीर मगहर में ही उत्पन्न हुए थे। इसकी पुष्टि में उनके तर्क ये हैं—

- १ मगहर में मुसलमानों की बस्ती बहुत अधिक है। वे सभी अधिकतर जुलाहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि कबीर इन्हीं जुलाहों में से किसी के घर उत्पन्न हुए हों।
- २ कबीरदास जी ने अपनी रचनाओं में कई बार मगहर की चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि मगहर में उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने उसे

कबीर एक विवेचन

सदैव बागी बने समकक्ष ही पवित्र और उत्तम माना है । इतनी अधिक श्रद्धा-भावना केवल जन्म-स्थान के प्रति ही हो सकती है ।

कबीरदासजी मृत्यु का समय समीप आने पर मगहर चले गये थे । उन्होंने काशी में रहना बहुत उचित नहीं समझा । यह मानव स्वभाव है कि वह जहाँ उत्पन्न होता है वहीं मरना चाहता है ।

१. कबीरदासजी ने स्पष्ट लिखा है कि सबसे पहले उन्होंने मगहर को देखा था । उसके बाद वे काशी में बस गये थे । इस उक्ति में खीच-तान कर दूसरा अर्थ लगाना हठधर्मी भर होगी ।
५. कबीरदास जी ने लिखा है कि 'तोरे भरोसे मगहर बसिऔ, मेरे तन की तपन बुझाई--' इस पंक्ति से स्पष्ट है कि अपनी जन्मभूमि में पहुँचकर इस प्रकार की शांति का अनुभव करना स्वाभाविक भी है ।
- ६ एक बात और है । 'आर्कॉलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' में लिखा है कि विजय-लीखा ने बस्ती जिले के पूर्व में आमी नदी के दाहिने तट पर सन् १५०७ में रोजा बनवाया था । सिकन्दर लोदी और कबीर के मिलन की घटना के आधार पर निश्चित किया जा चुका है कि उस समय कबीर जीवित थे । मरा अनुमान है कि विजली खाँ कबीर का भक्त था । उसने कबीर के जीवन-काल में कबीर के जन्म-स्थान में कोई स्मारक बनवाया होगा । प्रागे चलकर पिदाई खाँ ने उनकी मृत्यु के उपरान्त उसी को रोजे का रूप दे दिया होगा ।

इन तर्कों से श्री त्रिगुणायत यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि कबीर का जन्म-स्थान मगहर, काशी का ममीपवर्ती मगहर, था ।

यहाँ मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि जिन लोगों का यह मत है कि कबीर का जन्म उग मगहर में नहीं हुआ था जो गोरखपुर से पन्द्रह मील दूर बस्ती जिले में है, वे डा त्रिगुणायत से बहुत दूर नहीं हैं और डा त्रिगुणायत का 'मगहर' काशी से बहुत दूर नहीं है ।

कबीर-श्रद्धालुओं के अनुसार "सत्य पुरुष का तेज काशी के 'लहर तालाब' उतरा था अथवा उक्त तालाब में पुरइत के पत्ते पर पीटा हुआ बालक नीचे गिरे श्री स्त्री को काशी नगर के निकट मिला था ।" इससे तो यही सिद्ध है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ था, परन्तु 'बनारस डिस्ट्रिक्ट

गजेटियर' के अनुसार कबीर का जन्म काशी या मगहर में न होकर आजमगढ़ जिले के 'बेलहरा' गाव में हुआ था। कहते हैं कि वहाँ बेलहरा नाम का एक तालाब है। पहले उसका नाम लहर तालाब था। कबीरदास जी का जन्म इसी तालाब पर हुआ बतलाया जाता है। श्री त्रिगुणायत ने इसको कबीरदास का जन्म-स्थान मानने में आपत्ति की है क्योंकि खोज करने पर उनको आजमगढ़ जिले के उबत गाव में कबीर ने सम्बन्धित न तो कोई स्मारक ही मिला और न वहाँ कबीर पद्य ही मिले, अतएव गजेटियर के लेखक का मत उनको केवल अनुमान पर आधारित प्रतीत होना है। संभवतः अनुमान का कारण लहरनाला और 'बेलहरा' शब्दों का साम्यमात्र रहा हो।

मैं डा. त्रिगुणायत के मत से इस सीमा तक तो सहमत हो सकता हूँ कि कबीर का जन्म काशी के आस पास ही कही हुआ था, किन्तु उनका जन्म स्थान काशी के समीप का कोई 'मगहर' बताते हुए उन्होंने जो तर्क दिये हैं उनमें मैं सहमत नहीं हूँ क्योंकि वे निर्बल हैं जिनकी विवेचना आगे की जाती है।

श्री त्रिगुणायत का पहला तर्क यह है कि मगहर में मुसलमानों की बस्ती बहुत अधिक है। वे सभी अधिकतर जुलाहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि कबीर इन्हीं जुलाहों के घर उत्पन्न हुए हों। यह ठीक है कि मगहर में जुलाहों की संख्या अधिक है किन्तु इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि १. उक्त स्थान का 'मगहर' नाम कबीर का समकालीन है, २. वहाँ कबीर के जन्म से पहले से ही जुलाहे रह रहे हैं, ३. कबीर का जन्म किसी जुलाहे के ही घर में हुआ था, और ४. वह इसी स्थान का जुलाहा था? हो सकता है कि यह मगहर कोई नई बस्ती हो और कबीर के बाद जुलाहे लोग वहाँ आ बसे हों और उन्होंने अपने स्थान को महत्त्व देने के लिए कबीर से सम्बन्धित 'मगहर' के पीछे मगहर नाम रख लिया हो।

डा. त्रिगुणायत का दूसरा तर्क यह है कि कबीरदास जी ने अपनी रचनाओं में मगहर की कई बार चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि मगहर से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने उसे सदैव काशी के समकक्ष ही पवित्र और उत्तम माना है। इतनी अधिक श्रद्धा-भावना केवल जन्म-स्थान के प्रति ही हो सकती है। यहाँ यह मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि यह मगहर जिसका कबीरदास ने बार-बार नाम लिया है, काशी के समीप का ही मगहर है और यह भी कोई पृष्ठ तर्क नहीं है कि मनुष्य जन्म-स्थान के प्रति ही अधिक

श्रद्धा-भावना रखता है। यदि ऐसा हो तो अनेक लोग अपने जन्म-स्थान को छोड़कर श्रद्धावाच काशी, मथुरा, द्वारिका आदि तीर्थ-स्थानों में न जायें। कई वृद्धों की श्रद्धा-भावना इन तीर्थों के प्रति इतनी उद्दाम हो जाती है कि वे इनके आकर्षण का मवरत्न न करके अपने जन्म-स्थान के मोह को भी तोड़कर इनमें जा बसते हैं। मैं समझता हूँ कबीरदास ने अपनी रचनाओं में मगहर की चर्चा इसलिए नहीं की कि वह उनका जन्म-स्थान था, वरन् इसलिए कि वे मगहर पर घोंपे हुए तिमूल कटाक को अन्ध विश्वास के सिर मडना चाहते थे। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित नहीं कि कबीर द्वारा की गई मगहर की चर्चा में श्रद्धा-भावना की सतृप्तता न होकर रुढ़ि एवं अन्ध विश्वास की उन्मूलनकारिणी प्रवृत्ति की सतर्कतामात्र है।

श्री त्रिगुणायत का तीसरा तर्क है कि 'कबीरदास जी मृत्यु का समय समीप आने पर मगहर चले गये थे। उन्होंने काशी में रहना बहुत उचित नहीं समझा। यह मानव स्वभाव है कि वह जहाँ उत्पन्न होता है वही मरना चाहता है।' डा त्रिगुणायत का तर्क यहाँ तक तो मान्यता प्राप्त करता है कि कबीर-दास जी अपने अन्त-काल के समीप मगहर चले गये थे, किन्तु उस मगहर में जिसके सम्बन्ध में यह अन्ध विश्वास अब तक छाया हुआ है कि वहाँ मरने से नरक मिलता है। कबीर-जैसे निर्मोह जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में यह कहना उचित नहीं है कि वे अपने अन्त-काल में भी जन्म-स्थान के ममत्व का स्वरण न कर सके और यह कहना भी अनुचित है कि कबीरदास जी मानव-स्वभाव के अनुकूल ही मृत्यु-काल के समीप अपने जन्म-स्थान मगहर को चले गये थे। अतएव यह कहना ही उचित दीख पड़ता है कि वे सत्य के अनुसन्धान से प्राप्त अपने निजी विश्वास के अनुकूल ही मगहर गये थे। वे इस अन्ध-विश्वास का खण्डन करना चाहते थे कि मगहर में मरने वाले को गधे की योनि या नरक की प्राप्ति होती है।

अपने चौथे तर्क में डा त्रिगुणायत ने इस पक्ति का आश्रय लिया है— 'पहले दरसन मगहर पायो, पुनि काशी बसे आई', किन्तु अनेक प्रतिलिपियों में यह पक्ति भी तो मिलती है— 'पहले दरसन काशी पायो, पुनि मगहर बसे आई।' भन इस समस्या के हल के निमित्त हठधर्मी नहीं चल सकती, दोनों पक्तियों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में शोध की आवश्यकता है।

अपने पाँचवें तर्क में डा त्रिगुणायत ने 'तोरे भरोसे मगहर बसिग्री, भेरे की तृपन बुभाई', इस पक्ति का अर्थ अपनी ओर खींचते हुए कहा है कि

अपनी जन्म-भूमि में पहुँच कर इस प्रकार की शक्ति का अनुभव करना स्वाभाविक भी है। मैं ममभक्ता हूँ इस प्रकार का निष्कर्ष निराधार है। इस पक्ति में स्पष्टतः यह अर्थ निवृत्ता है—‘हे परमात्मा, मैं तेरे शरीर में ही मगहर में आ बसा हूँ और इस विश्राम से मेरे शरीर की तपन पुष्क गई है।’ इस पक्ति से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यह मगहर वह स्थान था जहाँ बसने में लोग घबराते थे।

डा. त्रिगुणायत के छोटे तर्क ने सब तर्कों को काट कर अपनी प्रतिष्ठा रखी है। इसमें ‘आकॅलानिकल सर्वे आफ इण्डिया’ का सहारा लेकर यह बतल गया है कि बस्ती जिले के पूर्व में ग्रामी नदी के दाहिने तट पर बिजली खा ने सम्बत् १५०७ वि० में कबीर के प्रति अपनी भक्ति के कारण एक स्मारक बनवाया था। उसी को कबीर की मृत्यु के बाद फिदाई खाँ ने रोजे का रूप दे दिया होगा। डा. साहब का अनुमान है कि यह स्मारक कबीर के जन्म-स्थान में ही बनवाया गया होगा। उनके मत से कबीर का जन्म-स्थान है काशी का समीपवर्ती मगहर। फिर यहाँ उस स्मारक का प्रश्न ही नहीं उठता जो बस्ती जिले में ग्रामी नदी के तट पर बनाया गया था। मैं ममभक्ता हूँ कि बस्ती जिले में बना हुआ उक्त स्मारक काशी के समीपवर्ती मगहर में नहीं लाया जा सकता और न काशी के समीप के मगहर को बस्ती जिले में ग्रामी के तट पर ही लेजाया जा सकता है। अतएव यह छोटा तर्क भ्रममात्र है।

इस विवेचन से नाफ हो जाता है कि कबीरदास का जन्म मगहर में नहीं हुआ था। फिर भी यदि डा. त्रिगुणायत का ‘मगहर’ (जो काशी के समीप है) वही मगहर है जो रुढ-मान्यता के लाक्षण में लाक्षण है और जहाँ ‘लहर तालाब’ भी है, तो मुझे यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि कबीर यही पैदा हुए थे। इसके अतिरिक्त न तो कोई अन्य मगहर ही कबीरदास का जन्म-स्थान था और न ‘बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर’ का ‘बिलहरा’ ही। यदि डा. त्रिगुणायत का ‘मगहर’ काशी में अदूर है तो जिस प्रकार मैं उसे मगहर कह सकता हूँ, उसी प्रकार वे भी उसे काशी कह सकते हैं। उसे काशी कहने में आपत्ति का कोई कारण नहीं दिखाई देता, किन्तु कबीर की रचनाओं में काशी के साथ-साथ मगहर की बात भी चलती है, इसलिए अवश्य ही मगहर कोई काशी से दूरस्थ बस्ती है।

इस दशा में मगहर वा काशी के ‘लहर तालाब’ से कोई सम्बन्ध नहीं

यह कबीर का जन्म स्थान नहीं माना जा सकता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्रटकलबाजियों के बल पर काशी को कबीर के जन्म-स्थान होने की मान्यता से वंचित नहीं किया जा सकता। नीचे की पक्तियाँ काशी और मगहर की स्थूल भिन्नता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं —

१ पहले दरसन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई ।

या

पहले दरसन कासी पायो, पुनि मगहर बसे आई ।

२ जैसा मगहर तैसी कासी, हम एक करि जानी ।

३ जस कासी तस मगहर, ऊसर हिरदै राम सति होई ।

४ बहुत बरस तप कोआ कासी, मरनु भइया मगहर को बासी ।

५ सगल जननु सिवपुरी गँवाइया, मरती बार मगहर उठि धाइया ।

६ का कासी का मगहर, ऊसर हृदय राम बस मोरा ।

७ तू ब्राह्मन में कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना ।

८ कासी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चित्ताये ।

इन पक्तियों को पढ़कर यह सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि मगहर और काशी दो भिन्न बस्तियाँ नहीं हैं। चौथी, पाचवी, सातवी और आठवी पक्ति से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का केवल अन्तकालीन सम्बन्ध ही मगहर से था, वस्तुतः वे काशी के निवासी थे और उनका प्रारम्भिक सम्बन्ध काशी से बहुत समय तक रहा था।

कबीर 'बानी' के अतिरिक्त काशी के पक्ष में जनश्रुति और कबीर-पथ के ग्रन्थ भी हैं। कोई कबीर-पथी कबीर को 'मगहर' का नहीं मानता है। अनन्तदास और धर्मदास की रचनाओं में कबीर की प्रतिष्ठा काशीवासी के रूप में ही हुई है किन्तु यह बात भी अमान्य नहीं है कि कबीरदास ने काफ़ी पर्यटन किया था। उनकी 'बानी' में स्थान-स्थान के जो शब्द मिलते हैं उनसे अनेक तथ्य प्रकाश में आते हैं—

१ वा प २१०, २ स वा २ ३; ३ वा प ४०२, ४ स क. १५; ५. स क प १५, ६ बी श १०३, ७ वा प २५० तथा स क. प्रा २ ।

१. यह कि कबीर ने परदेन बहुत किया था, २ यह कि देश के अनेक भागों के लोग उनके सम्पर्क में आते थे और ३ यह कि कबीर की भाषा ने देश-भर के शब्द पचा लिये थे या यह कि देश-भर में कबीर की जैसी कोई सामान्य भाषा भी प्रचलित थी। जो हो यह सम्भव है कि अपने परदेन-काल में कबीर अन्यत्र भी रहे हों। यदि 'पहले दरसन मगहर पायो'—को ही प्रामाणिक मान लिया जाए तो यह मानना अनर्थ न होगा कि अपने ज्ञानोदय से पूर्व भी कबीर कुछ समय मगहर में रहे थे।

इस समग्र विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर काशी या उसके समीपस्थ किसी स्थान में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने काशी में निवास किया और निश्चय काल के समीप वे मगहर चले गये।

कबीर की जाति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मनभेद है। उनकी जाति किसी विद्वान् ने ब्राह्मण बतलाई है, किसी ने जुलाहा और किसी ने उनको 'जुगी', जोगी या योगी जाति का बतलाया है। सभी विद्वानों ने जाति अपने अपने पक्ष में कबीर बानियों^१ से मढ़ायता ली है। कबीर ने अपने को कोरी भी कहा है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर ने अपने लिए जुलाहा शब्द का बार-बार प्रयोग करके अपने आलोचकों को अपनी जाति बतला दी है, किन्तु कोरी शब्द का प्रयोग भी कबीर-बानियों में कई जगह मिलता है जिससे समस्या पैदा हो जाती है। एक स्थान पर 'पिता हमारो बहु गोसाईं'^२—कहकर कबीर ने जाति विषयक समस्या को धोर भी जटिल कर दिया है। कबीर की बानियों में उनकी जाति की ओर संकेत करने वाली जो अनेक पक्तियाँ मिलती हैं और जिन पर अनेक विद्वानों के मत आधारित हैं, नीचे उद्धृत की जाती हैं तथा उनके प्रतिरिक्त अन्य मढ़ात्माओं ने अपनी-अपनी बानियों में उनकी जाति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसको भी भक्षिप्त मूल में प्रस्तुत किया जाता है —

१. जाति जुलाहा मति को धीर, हरवि-हरवि गुण रमै कबीर ।^३
२. मेरे राम की अर्भ पद नगरी, कहे कबीर जुलाहा ।
३. तू ब्राह्मण में कासी का जुलाहा, बूझहु मोर, गिपाना ।^४

^१ सत कबीर, आ ३

४. तू ब्रह्म मै कासी का जुलाहा, मोहि तोहि बराबर कौंसोक बनहि ।

—सत कबीर, रागु ५

५ पूरब जनम हम ब्राह्मन होते, ओछे करम तपहीना ।

रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कौना ॥

६ जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि कियो उदासी ।

७ जोलाहे घर अचना चाँना, घट ही राम पिछाना ।

ऊपर की पक्तिया ऐसी हैं जिनसे कबीर के जुलाहा होने का परिचय मिलता है । नीचे ऐसी पक्तिया उद्धृत की जाती हैं जो कबीर के कोरी होने की सूचना देती हैं —

१ रहत कबीर कारगह तोरो, सूतहि सूत मिलाए कोरी ।

२ परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बन्धू मोरी ।

हरि को नाम अर्भे पद दाता, कहे कबीरा कोरी ॥

कबीर ने जुलाहा, कोरी और 'बहुगुमाई' शब्दों के प्रयोग से जहाँ एक समस्या पैदा करदी है, वहाँ कबीर मेरी जाति को सब कोई 'हसनोहार' (सत कबीर स २) कहकर व हमें एक बड़े संदेह में निकाल लेते हैं । वे हमें यह निश्चय करा देते हैं कि उनकी जाति उम समय उपहास्य वस्तु थी । समाज में उसका बड़ा निम्न स्थान था ।

कबीर वानियों के सिवा दूसरे सन्तों की वानियों में भी कुछ ऐसी पक्तिया मिलती हैं जो कबीर की जाति का परिचय देती हैं । उनमें से कुछ उपयुक्त उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

१ जाक ईदि बकरीदि, कुल गऊ रे बध करहि, मानिअहिसेख सहोद पीरा ।

जाक बाप बंसो करी, पूत ऐसी करी, तिहूँ रे लोक परिस्थि कबीरा ॥

—[रंदास बानी]

२ कासी बसे जुलाहा एक, हरिभगतनि की पकरी टेक ।

—[अनन्तदास—कबीरसाहब की परिचई में]

३ जुलाहा प्रभे उत्पन्नयो साध कबीर ।

—[रज्जव—महामुनि सर्वंगी साध महिमा—१३]

एक-या स्थानों पर कबीर की वानियों में ऐसी उक्तिया प्रयुक्त हुई हैं जो यह प्रकट करती हैं कि कबीर न तो हिन्दू थे, न मुसलमान और न जौगी एक उरर २—

जोगो गोरख गोरख करे, हिन्दू राम नाम उचरै ।

मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीरा को स्वामी घर-घर रह्यो समाई ॥

इन उक्तियों के अतिरिक्त विद्वानों ने किंवदन्ती से भी महायत्ना लेने का प्रयत्न किया है। कबीर ने अपनी उक्तियों में अपने लिए जुलाहा और कोरी दोनों शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ये दोनों शब्द व्यावसायिक ममता के अतिरिक्त किसी जातीय एकता की ओर संकेत नहीं करते। दोनों जातियाँ भिन्न हैं। जुलाहे मुसलमान होते हैं और कोरी हिन्दू।

कबीर की जाति के सम्बन्ध में उठ खड़े हुए अनेक मतों में पहला डा श्यामसुन्दरदास का मत है। कबीर ग्रन्थावली की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—“कबीरदास के जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में कोई निश्चिन्त बात ज्ञात नहीं होती क्योंकि उन सबका आधार जनसाधारण और विशेषकर कबीर-पथियों में प्रचलित दस्त कथाएँ हैं। कहते हैं कि कारों में एक भ्रातृक ब्राह्मण रहते थे जो स्वामी रामानन्द के बड़े भक्त थे। उनकी एक विधवा कन्या थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामीजी के आश्रम पर गये। प्रणाम करने पर स्वामीजी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण देवता ने जब बौककर पुत्रों का वैधर्म्य निवेदन किया तब स्वामीजी ने संखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्याय नहीं हो सकता परन्तु इतने से संतोष करो कि इससे उत्पन्न पुत्र बड़ा प्रतापी होगा। आशीर्वाद के फलस्वरूप जब इस ब्राह्मण-कन्या का पुत्र उत्पन्न हुआ तो लोक लज्जा और लोकापवाद के भय से उसने उसे लहर तालाब के किनारे डाल दिया। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर में आ निकला। इस दम्पति के कोई पुत्र न था। बालक का रूप पुत्र के लिए लालायित दम्पति के हृदयों पर जुभ गया और वे इसी बालक का भरण-पोषण कर पुत्रवान् हुए। आगे चलाकर यही बालक परम भगवद्भक्त कबीर हुआ।”

इस किंवदन्ती के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए डा श्यामसुन्दरदास आगे लिखते हैं—“कबीर का विधवा ब्राह्मण-कन्या का पुत्र होना असम्भव नहीं, किन्तु स्वामी रामानन्दजी के आशीर्वाद की बात ब्राह्मण-कन्या का कलक भिटाने के उद्देश्य में ही पीछे में जोड़ी गई जान पड़ती है, जैसे कि अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सम्बन्ध में जोड़ी गई हैं। मुसलमान घर में पालित होने पर भी कबीर का हिन्दू विचारों में सराबोर होना उनके शरीर में प्रवाहित होने वाले

डा श्यामसुन्दरदास यह तो स्पष्टतः मानते हैं कि कबीर का पालन-पोषण मुसलमान (जुलाहा) घर में हुआ था, किन्तु वे 'ब्राह्मण-पुत्र' थे, इसकी केवल सम्भावना व्यक्त करते हैं, फिर भी वे यह मानते हैं कि कबीर जाति से हिन्दू थे। डा साहब का मत अधिकांशतः विवदन्ती पर आधारित है। उन्होंने 'कोरी', 'जोसाई' आदि शब्दों को जो कबीर ने अपने लिए प्रयुक्त किये हैं, बिल्कुल उपेक्षा कर दी है।

डा बटखाल को डा श्यामसुन्दरदास का मत स्वीकार नहीं है। उन्होंने प्रमारों के अभाव में जनश्रुति को अस्वीकार कर दिया है। उनका कहना है, "कबीर जुलाहा वंश में उत्पन्न हुए थे। कबीर के पूर्वजों ने शायद कुछ समय पहले ही अपने उस धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, जिसमें गोरखनाथ की बड़ी मान्यता थी। कबीर वंश के लोग, यद्यपि बाहर से मुसलमान थे, किन्तु इनके अन्तर का परिवर्तन अभी तक नहीं हुआ था। इससे कबीर के उच्च हिन्दू-विचार एवं योग-प्रवृत्ति का कारण भी स्पष्ट हो जाता है।"^१

डा बटखाल के मत ने डा श्यामसुन्दरदास के मत से कुछ अधिक प्रगति दिखलाई है। इस मत के अनुसार कबीर द्वारा प्रयुक्त दो शब्दों—'जुलाहा' (मुसलमान) एवं 'जोगी' पर स्पष्टतः एवं तीसरे 'कोरी' शब्द पर संकेतित प्रकाश पड़ता है। उनके मत को विश्लेषण के साथ अपने शब्दों में इस प्रकार रख सकते हैं—

१. कबीर का जन्म मुसलमान जुलाहा कुल में हुआ था।
२. मुसलमान होने से पहले उनके कुल के लोग किसी ऐसी सामान्य जाति के थे जिसमें गोरख-पन्थ की मान्यता थी।
३. इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी उनके वंश वालों का मानसिक सम्बन्ध परम्परागत सत्कारों से नहीं छूटा था।

तीसरा मत डा हजारीप्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने कोरी, जुलाहा, और जोगी या योगी इन तीनों शब्दों को लेकर उनकी विशद व्याख्या की है जिसमें शोध और पाठित्य का प्राधान्य है। 'कोरी' शब्द को लेकर वे लिखते हैं— 'कबीरदास ने बुनाई के रूपको और उनटर्बासियों में कई जगह 'जुलाहा' के स्थान पर कोरी नाम लिया है। आजकल कोरियों में से बहुतों ने कबीर-पन्थ

स्वीकार कर लिया है, किन्तु बहुत से हिन्दू-विचारो के कट्टर अनुयायी भी हैं। आजकल इनमे उच्च श्रेणी के हिन्दुधो की आचार-निष्ठा के अनुकरण की प्रवृत्ति जोरो पर पाई जाती है। उत्तर भारत के बयनजीवियो मे कोरी मुख्य है।^१

“जुलाहा शब्द की व्याख्या करते हुए डा साहब लिखते हैं कि बेन्स जुलाहो को कोरियो की समशील (Corresponding) जाति ही मानते हैं। कुछ एक पण्डितो ने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करने वाले कोरी ही जुलाहे है। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपने को बार-बार जुलाहा कहते है वहाँ वे कभी-कभी अपने को कोरी भी कह गये हैं। ऐसा जान पडता है कि यद्यपि कबीरदास के युग में जुलाहो ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था, पर साधारण जनता मे वे तब भी कोरी नाम से परिचित थे।^२

दोनो जातियो मे समशीलता स्वीकार करते हुए भी डा हजारीप्रसाद यह नही मानते कि कोरियो का ही मुसलमानी संस्करण जुलाहा है। “अब तक इस अनुमान का पोषक न तो कोई सामाजिक कारण बताया गया है, न वैज्ञानिक नाप-जोख। इसलिए कोरियो और जुलाहो को एक श्रेणी की दो जातियाँ मान लेने का कोई प्रमाण नही है।^३

‘कबीर’ मे एक अन्य स्थान पर ‘जुलाहा’ जाति की विवेचना मे डा हजारीप्रसाद जी पुन लिखते हैं— ‘कबीरदास की वाणियो से जान पडता है कि मुसलमान होने के बाद न तो जुलाहा जाति अपने पूर्व संस्कारो मे एकदम मुक्त हो सकी थी और न उसकी सामाजिक मर्यादा बहुत ऊँची हो सकी थी। कबीरदास ने जुलाहो की जाति को कमीनी जाति कहा है^४ और यह भी बताया है कि उन दिनों भी यह जाति जनसाधारण मे उपहास और मजाक की पात्र थी। साधारणत मूल्यता सम्बन्धी कहानियो का एक बहुत बडा अंश सारे भारतवर्ष मे जुलाहो से भी बना है।

^१ डा हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ५

^२ डा हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ५

^३

^४ सरग लोक मे क्या दुख पडिया तुम धाई कलिमाही।

जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहु पतीजी नाही ॥

तहाँ जाहु जहाँ पाठ-मटबर अगार चदन घसि लीना।

करीगी म ती जाति कमीना ॥

एसा जान पन्ता है कि मुसलमानों के आने के पहले इस देश में एक ऐसी धरणी बलमान थी जो बाह्यणों से अमनुष्ट थी और बर्णाश्रम के नियमों की कायत नही थी। नाथपथी योगी एसे ही थे। रमाई-पंडित के दूय पुराण से जान पडना है कि एक प्रकार के तार्किक बौद्ध उन दिनों मुसलमानों को धम-अकुर का अवतार समझने लग थे। उह यह आगा हो चली थी कि अब पुन एक बार बौद्ध धम का उद्धार होगा। नाथ उहाने हिन्दू विरोधी सभी मतों को बौद्ध ही मान लिया था जो हो इस विषय में कोई सन्देह नही कि उन दिना नाथ भतालम्बी गृहस्थ योगिया की एक बहुत बडी जाति थी जो न हिन्दू थी और न मुसलमान। इस प्रमग में मुझ था राजकृष्णदासजी से यह महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त हुई है कि बनारस के अलईपुरा क जुलाह अपने को गिरस्त (गृहस्थ) कहते हैं। यह गब बताता है कि कोई अगृहस्थ या योगी जलाहा जाति भी रही होनी। बगाल की युगी जाति इसी सम्प्रदायमूलक जाति का भन्नावगण है। कई बात ऐसी ह जो यह सोचन का प्रवत्त करती है कि कबीरदान जिस जुलाहा-वग में पालित हुए थे वह इसी प्रकार क नाथमताब लम्बी गृहस्थ यागियों का मुसलमानी रूप था।

योगिया या यागिया के सबब में डा हजारप्रसाद का मत है 'साधक योगी गृहस्थ जाति के योगी से भिन्न है। गृहस्थ योगी एक प्रकार से आश्रमभ्रष्ट योगी है। उनकी सततिन तो किमी आश्रम व्यवस्था के अन्तगत आती है और न बरा व्यवस्था के। यह जाति एक जमाने में आश्रमभ्रष्ट होने के कारण बर्णाश्रम व्यवस्था के बाहर पडी थी। उत्तर भारत की गोसाइ बराधी प्रतीत साधु जोभी और फकीर जातिया तथा दक्षिण भारत की आण्डी दासरी और पानि सवन जातिया भ्रष्ट योगिया के ही अनेक सस्कारण हैं। इन जातिया में से अधिकांश प्रब भी भय घारण करती है भिक्षा पर निर्वाह करती है और अनेकानेक सामाजिक कृत्यों में गृहस्थ धम की विधि क बदल सयासिया में विहित विधि का अनुष्ठान करती है। धनुनों का मतक-सस्कार दाह द्वारा नही-होता और सन्यासियों की भाति समाधि दी जाती है। डा हजारप्रसाद का निजी अनुभव है कि बगाल में योगिया को कहा तो समाधि दी जाती है कही कही उनका अग्नि सस्कार भी किया जाता है। कही-कही यह भी प्रथा है कि यागियों के गब ना पढ़ने अग्नि-सस्कार करते ह फिर समाधि भी देते है।

कबीरदास के विषय में भी प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बर ह थे जिनमें से आधे को हिं यो ने जलाया और आधे को मुसलमानों ने खा

दिया ।” डा. साहव का मत है कि “यदि यह कोरी किवदन्ती नहीं है तो यह कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुस्तक पहले की योगी-जैसी किसी आश्रमभ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी । जोगी जाति का सबंध नाथ-पथ से है । जान पड़ता है कि कबीर के वंश में भी ये नाथ-पथी संस्कार पूरी मात्रा में थे ।” डा. हजारीप्रसाद ने अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं —

- १ कबीरदास ने अपने को जोलाहा तो कई बार कहा है, किन्तु मुसलमान एक बार भी नहीं कहा है ।
- २ उनकी ‘न हिन्दू न मुसलमान’ वाली उक्ति उन्हीं वर्णाश्रमभ्रष्ट जुगी जाति के व्यक्तियों की ओर संकेत करती है ।
- ३ कबीरदास ने अपनी एक उक्ति में स्वीकार किया है कि हिन्दू, मुसलमान, और योगी अलग अलग होते हैं ।^१
- ४ कबीरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमें से आधे को हिन्दुओं ने जलाया और आधे को मुसलमानों ने गाड़ दिया । त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियों की भाँति उन्हें समाधि भी दी गई थी और अग्नि संस्कार भी किया गया था ।^२

डा. रामकुमार वर्मा डा. हजारीप्रसाद से बहुत कुछ सहमत होते हुए लिखते हैं—“कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होंगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियों के संस्कारों से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसाईं कहलाते थे । इन गोसाइयों पर नाथपथ का पर्याप्त प्रभाव था ।”^३

डा. रामकुमार वर्मा के इस मत से कबीर द्वारा प्रयुक्त ‘गोसाईं’ शब्द पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है, किन्तु डा. त्रिगुणायत का मत इस शब्द से अपना समझौता नहीं करता । डा. त्रिगुणायत कबीर को जुलाहा (मुसलमान) जाति का ही मानते हैं, इसलिए कि सन कवियों से लेकर आजकल तक के अधिकांश विद्वान् उन्हें जुलाहा ही मानते हैं ।^४ सन्त साहित्य के मर्मज्ञ श्री परचुराम चतुर्वेदी ने भी कबीर को जुलाहा (मुसलमान) जाति का ही माना है । उनका कहना है कि कबीरदास के समकालीन समझे जाने वाले सन्त रैदास एवं वधवा

^१ क० ग्र, पृष्ठ २००,

^२ कबीर—डा. हजारीप्रसाद—पृष्ठ ५-११

^३ सन्त-कबीर—पृष्ठ ६१

^४ डा. त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा, पृष्ठ ३६

ने भी उन्हें जुलाहा माना है। इनके अतिरिक्त गुरु अमरदास, अनन्तदास, रज्जव, सुकाराम आदि महात्माओं तथा अनेक इतिहासकारों ने भी कबीर की जाति जुलाहा मानी है।

इस प्रकार कबीर की जाति के संबंध में हमारे सामने प्रमुखतया चार मत आते हैं—१ डा श्यामसुन्दरदास का मत, २ डा बडधवाल का मत, ३ डा हजारीप्रसाद का मत जिससे डा रामकुमार वर्मा भी अधिकांशतः सहमत प्रतीत होते हैं और ४ डा त्रिगुणायत का मत जिसको श्री परशुराम चतुर्वेदी का भी समर्थन प्राप्त है। इनमें से डा श्यामसुन्दरदास का मत कोरी किंवदन्ती पर आश्रित है। अतएव प्रयाणा के अभाव में वह स्वीकार नहीं किया जा सकता। दूसरा मत डा बडधवाल का है जिसके निष्कर्ष में अधिक तकसगत प्रयास है। डा बडधवाल के इस मत से तो डा त्रिगुणायत, डा रामकुमार वर्मा और श्री परशुराम चतुर्वेदी भी सहमत हैं कि कबीर जुलाहा (मुसलमान) जाति में उत्पन्न हुए थे किन्तु डा हजारीप्रसाद ने कबीर की जाति के संबंध में भाषाविद की भांति बड़े कौशल से काम लिया है। उन्होंने कोरी जुलाहा और जोगी या योगी जाति के इतिहास पर जो पाठित्यपूर्ण प्रकाश डाला है वह निस्संदेह स्तुत्य है, किन्तु उनकी इस श्वेपरणामक विवेचना में कबीर की जाति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। कबीरदास की ना हिंदू ना मुसलमान वाली उक्ति ने तो उन्हें केवल हिंदू और मुसलमान जातियाँ से ही बहिष्कृत किया था किन्तु डा हजारीप्रसाद के पालित शब्द के प्रयोग ने तो विचारे कबीर को 'जोगी या योगी जाति का भी नहीं रहने दिया। उन्होंने अपने एक भी वाक्य में यह प्रकट नहीं होने दिया कि कबीर अमुक जाति में उत्पन्न हुए थे। बार बार पढ़ने पर भी उनके यही शब्द मिल सकें—

- १ कबीरदास जिस जुलाहा शब्द में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमता-वलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।^१
- २ 'कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुस्तक पहले की योगी जैसा किसी आश्रमभ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी।'^२
- ३ कबीरदास इन्हीं नव धर्मान्तरित लोगों में पालित हुए थे।^३

^१ डा हजारीप्रसाद—कबीर प्रस्तावना पृष्ठ ६

^२ डा हजारीप्रसाद—कबीर, प्रस्तावना, पृष्ठ ११

^३ डा हजारीप्रसाद—कबीर प्रस्तावना पृष्ठ ४— २ ७

इन उक्तियों के आधार पर यही कहना पड़ता है कि डा. हजारीप्रसाद ने डा. श्याममुन्दरदाम के मत को ही अर्द्ध-त्यक्त रूप में स्वीकार कर लिया है। उन्होंने डा. श्याममुन्दर को 'विधवा-ब्राह्मणी-पुत्र' वाली बात को जो किबदन्ती से सवधित है, छोड़ दिया है और डा. बडथवाल के इस मत को स्वीकार किया है कि कबीर के ऊपर नाथपथ के कुलागत सस्कार थे, किन्तु इस वाक्य का दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है, अतएव इसको डा. साहव के शब्दों में इस प्रकार रखा गया है —

“कबीरदास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।”

डा. हजारीप्रसाद ने अपनी सुदूर सोच के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जुलाहे लोग योगियों में भी मिलते रहे हैं। मुसलमानों के आने के बाद धीरे-धीरे वे मुसलमान होने लगे। कबीरदास इन्हीं 'नव-धर्मान्तरित' लोगों में पालित हुए थे।

जोगी या योगी जाति को लेकर कबीर के मर्मज्ञ डा. त्रिगुणायत ने डा. हजारीप्रसाद का बहुत दूर तक पीछा किया है। वे यह समझ गये हैं कि 'कबीर' के रक्षयिता ने कबीर को जुगी जाति से परिवर्तित मुसलमान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका यह भ्रम मिथ्या है। पीछे दिये हुए अनेक उद्धरणों से (जिनमें 'पालित' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए) यह स्पष्ट है कि कबीर का योगी जाति से परिवर्तित मुसलमान वंश में पालन-पोषण हुआ था। डा. त्रिगुणायत के भ्रम को मिटाने के लिए डा. हजारीप्रसाद के ये शब्द पर्याप्त होने चाहिए—'कबीरदास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।' डा. हजारीप्रसाद ने जो कुछ कहा है वह जोगी-जाति-संबंधी गवेषणात्मक सत्य है। उनके शब्दों का कबीर की जाति के संबंध में कोई अर्थ लगाना उचित नहीं है। मैं समझता हूँ डा. हजारीप्रसाद के मत के खण्डन में डा. त्रिगुणायत का भ्रम व्यर्थ ही गया। डा. साहव के तर्कों का खंडन करते हुए डा. त्रिगुणायत अपने तर्क इस प्रकार देते हैं—

१. ऊपर दिये हुए तर्कों में दिया हुआ उनका पहला तर्क बहुत ही प्रसक्त है। उनका यह कहना कि कबीरदासजी ने अपने को जुलाहा ही कहा है, किन्तु मुसलमान कही नहीं कहा है। मेरी समझ में यह ठीक उसी प्रकार है

जिस प्रकार एक ब्राह्मण से यह आशा की जाय कि वह अपने को ब्राह्मण कहने के बाद हिन्दू भी बहे। कबीरदास जी अपनी जाति, धर्म आदि का लेखा तो दे नहीं रहे थे जो जुलाहा कहने के बाद अपने को मुसलमान अवश्य बहते। उन्होंने जुलाहा शब्द का प्रयोग अपने कुल की हीनता द्योतित करने के लिए ही किया है। अन्य स्थला पर उन्होंने अपने को स्पष्ट रूप से हीन जाति का कहा है।

कबीर मेरी जाति को, मब कोई हसनोहार।

—(सन्त कबीर, स० २)

अतः हम कह सकते हैं कि उन्होंने जोलाहे शब्द का प्रयोग अधिकतर अपनी हीन जाति को द्योतित करने के लिए ही किया है। इसलिए उन्होंने जहाँ जुलाहे शब्द का प्रयोग किया है वहाँ सापेक्षता में ब्राह्मण को भी ले आये हैं— 'तू ब्राह्मण में कासी का जुलाहा'.....' अथवा 'तू ब्रह्म में कासी का जुलाहा'.....'।

इन दोनों ही में उनके कहने का अभिप्राय यही है कि तुम उच्चात्पुत्र ब्राह्मण हो और मैं नीच जाति का जुलाहा हूँ किन्तु फिर भी मुझे तुम से अधिक ज्ञान है। अतः स्पष्ट है कि आचार्य जी का प्रयत्न तर्क सशक्त नहीं है।

२ उनका दूसरा तर्क है कि कबीरदास ने अपने को 'न हिन्दू न मुसलमान' कहा है। उनके मतानुसार यह उक्ति आश्रम-भ्रष्ट जुगी जाति की ओर संबन्धित करती है। आचार्य जी से ऐसे तर्क की आशा नहीं की जाती थी। वे सत साहित्य के मर्मज्ञ हैं। सत लोग कभी भी वर्णाश्रम धर्म में विशेष विश्वास नहीं करते थे। यदि ऐसा न होता तो मुसलमान सन्तो के हिन्दू शिष्य न होते और हिन्दू सन्तो के मुसलमान शिष्य न होते।^१ सन्त तो वास्तव में वही हैं जो समदर्शी हो। कबीर ने सतो का लक्षण इस प्रकार दिया है—

“निरबंरी निहकामता साईं सेती नेह।

बिपियासू भ्यारा रहै, सतनि का अग्र एह॥”

—(क प्र, पृष्ठ ५०)

इस प्रकार के लक्षणों से युक्त सत के लिए हिन्दुमा और मुसलमानों, दोनों की उपेक्षा करना स्वाभाविक भी है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि भारतीय मध्यकालीन रहस्यवादी सन्तों की प्रमुख विशेषता यही थी कि वे किसी भी धार्मिक मस्या, तथा धर्म ग्रन्थ में विश्वास नहीं करते थे।^२

^१ 'दीन इताही'—राम चौधरी, प्रथम अध्याय

^२ 'मेडिवल बिस्टीसिजम—सेन, प्रोफेस, पृष्ठ १

ऐसी दशा में यह कहना कि कबीरदास का हिन्दू-मुसलमान, दोनों से उदासीन होना उनके जुगी जाति का स्वतन्त्र है, अधिक तर्क सगत नहीं मालूम पड़ता। फिर कबीरदास ने यह भी तो कहा है कि वे योगियों के मतानुयायी नहीं हैं।^१ वे तो अपने सतमत को सभी से अलग मानते हैं। फिर उन्हें इस आधार पर जुगी जाति का कैसे कहा जा सकता है ?

३ उनका तीसरा तर्क है कि कबीरदास ने स्वीकार किया है कि योगी हिन्दू और मुसलमान दोनों से भिन्न होते हैं, किन्तु इस उक्ति में यह भी तो स्पष्ट लिखा है कि कबीरदास योगियों से भी तो स्वतन्त्र नहीं हैं।

४ आचार्य जी का 'समाधि' वाला तर्क भी अधिक सशक्त नहीं। एक तो जनश्रुति को हम पुष्ट प्रमाण नहीं मान सकते क्योंकि कबीरदास से सम्बंधित बहुत-सी जनश्रुतियाँ साम्प्रदायिक भावना के कारण बहुत ही अतिरजित रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि कबीरदास की समाधि भी बनी थी और जलाये भी गये थे, तो भी यह तर्क उन्हें जुगी जाति का सिद्ध करने में पर्याप्त नहीं है। बहुत से हिन्दू योगियों की समाधियाँ पाई जाती हैं जो जुगी जाति के न होकर केवल योगी ही होते हैं। इस बात में कोई भी सदेह नहीं कर सकता कि कबीरदास योगी थे। अतः आचार्य जी का यह तर्क भी मुझे अधिक सशक्त नहीं लगता। मेरी समझ में कबीर की नाथपंथी विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए उन्हें जुगी जाति का सिद्ध करना आवश्यक भी नहीं क्योंकि कबीर के युग में नीच जाति के लोगों में नाथपंथ की बड़ी प्रतिष्ठा थी।

इस प्रकार डा. त्रिगुणायत ने डा. हजारीप्रसाद के मत-सबधी अनेक तर्कों को खण्डन करने की चेष्टा की है। साथ ही उन्होंने पिता हमारो बड्डु सुसाई' उक्ति पर भी विचार किया है। वे कहते हैं— कबीर की जाति से सम्बंधित एक मतवाद और उठ खड़ा हुआ है। इसका आधार कबीर द्वारा प्रयुक्त 'गोसाई' शब्द है। '..... गोसाइयो के सबध में एम ए शेरिंग ने लिखा है कि ये दशनामी भेद से कहीं शैव और कहीं वैष्णव होते हैं।^२ इसी आधार पर

^१ योगी गोरख गोरख करं, हिन्दू रामनाम उच्चरं ।

मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीरा की स्वामी घट घट रह्यो समाई ॥

—(क श, पृष्ठ २००)

^२ हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्टस एज रिप्रजेण्टेड एट बनारस—एम ए शेरिंग (१८७१-८१), पृष्ठ २५५

डा रामकुमार वर्मा का मत है कि कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होंगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियों के सस्कार से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसाई कहलाते थे। इन गोसाइयों पर नाथपथ का पर्याप्त प्रभाव था।^१ कबीर पर नाथपथ के प्रभाव का वे यही कारण मानते हैं। अहमदशाह ने लिखा है कि कबीर को यदि विधवा ब्राह्मणी का पुत्र ही माना जाय तो गोसाई अष्टानद वाली कथा सत्य माननी चाहिए और कबीर को अष्टानद गोसाई का पुत्र मानना चाहिए।^२ किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम इस मत का भी समर्थन नहीं कर सकते। अतः हम कबीर का सबध गोसाई जाति से स्थिर नहीं कर सकते।”

कबीर की जाति के सबध में डा त्रिगुणायत के मत^३ को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

- १ कबीरदास किसी भी जुगी ऐसी जाति से सबधित न थे।
- २ कबीर का कोरियों से कोई विशेष सबध न था। कबीरदास की यह प्रवृत्ति थी कि वे जिस वर्ग और जाति के लोगों के सामने बात करते थे तो प्रायः उसी व्यक्ति की भाषा में विचारों को अभिव्यक्त करते थे। कबीर ने कोरी शब्द का इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर प्रयोग किया है। जुलाहे का हिन्दी रूपांतर कोरी ही हो सकता है। कोरी शब्द जाति का सूचक न होकर केवल व्यवसाय का ही सूचक है। इसलिए हम कबीर को डा. बड्डवाल के मतोंनुसार किसी कोरी जाति का सुमलमानी सस्करण भी नहीं मान सकते हैं।
- ३ किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कबीर का सबध गोसाई जाति से भी स्थिर नहीं किया जा सकता।
- ४ कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे। कबीर की हिन्दू-विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए रामानन्द का शिष्यत्व पर्याप्त है। रामानन्द का शिष्य होने पर ही कबीर हिन्दू धर्म की ओर इतने अधिक उन्मुख हुए थे।

अब डा त्रिगुणायत और डा बड्डवाल के मतों को सामने रख कर देखना है। वे दोनों इस सबध में तो एक मत है कि कबीर जुलाहा जाति में

^१ सत कबीर—पृष्ठ ६१

^२ (i) कबीर एण्ड हिज़ फालोअर्स—डा की, पृष्ठ २८

(ii) दो बीजक आफ कबीर—अहमदशाह १६१७, पृष्ठ ४-५

^३ कबीर की विचारधारा, डा त्रिगुणायत, पृष्ठ ४१-४३

उत्पन्न और पालित-नोषित हुए थे। मतभेद केवल इतना है कि डा बडधवाल यह कहते हैं कि कबीर के पूर्वजो ने शायद थोड़े ही दिन पहले अपने धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था—उस धर्म को छोड़कर जिसमें गोरख-मत का बड़ा आदर था और डा त्रिगुणायत का मत यह है कि कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे। उनमें हिन्दू विचार-धारा रामानन्द के सम्बन्ध से प्रकट हो रही थी। रामानन्द के प्रभाव से ही कबीर हिन्दू धर्म की ओर इतने अधिक उन्मुख हुए थे। जो ही यह स्पष्ट है कि उक्त दोनों विद्वान कबीर को जुलाहा जाति का मानते हैं, किन्तु मेरा मत डा बडधवाल के पक्ष में है। ठीक है कि 'जुगो' जाति से कबीर का कोई सम्बन्ध नहीं था और न 'बहुगुमाई' शब्द ही कबीर की जाति का सूचक है। 'कोरी' शब्द के समान यह शब्द भी आध्यात्मिक सकेत के रूप में प्रयुक्त हुआ कहा जा सकता है। इससे परमात्मा के स्वामित्व या नियामकत्व का सकेत ग्रहण करना अनुचित न होगा।

तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अवलोकन, दलित जातियों के प्रति कबीर की विशेष सहानुभूति और उनकी जाति की उपहास्यता हमें यह मानने के लिए प्रवृत्त करती है कि कबीर के परिवार की कोरी जैसी किसी दलित जाति से अवश्य ही किसी प्रकार की निकटता रही थी। हिन्दुओं में कोरी जाति में सङ्घित अनेक उपहासमयी कहानियाँ प्रचलित हैं। ऐसी ही हँसी की कहानियाँ जुलाहों के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध हैं। इसलिए 'कबीर मेरी जाति को सब कोई हसनोहार'—इस उक्ति में जिस प्रकार 'जुलाहा' जाति की ओर सकेत ग्रहण किया जाता है वैसे ही 'कोरी' जाति की ओर भी सकेत हो सकता है। ऐसा भी देखा गया है कि धर्म-परिवर्तन के अनन्तर भी लोग प्रायः अपने पूर्व व्यवसाय को ही अपनाए रहते हैं। अतएव कबीर कालीन जुलाहों में बहुत से धर्मान्तरित कोरी रहे हों तो आश्चर्य की क्या बात है? फिर यह न मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि कबीर के पूर्वज कोरी थे जबकि कबीर ने अपने मुख से कोरी और जुलाहा दोनों जातियों से अपना सबंध जोड़ते हुए हमें भी दोनों का सबद्ध रूप में देखने के लिए प्रेरित किया है।

यहाँ हम यह भी बता देना चाहते हैं कि 'विधवा ब्राह्मणी' वाली किंवदन्ती में कोई तथ्य नहीं दीख पड़ता। इसको न तो कबीर की उक्तियों का ही समर्थन प्राप्त है और न अन्य सन्तों की वाणियों का ही। हो सकता है कि यह किसी ब्राह्मण की गढन्त हो जिसने कबीर जैसे नीच जाति के

इस पर्यवेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है 'कबीर' ही मौलिक नाम है। इसके साथ 'दास' और 'जन' शब्दों का प्रयोग भावना का द्योतक है। जिस प्रकार 'जन कबीर' उसी प्रकार 'दास कबीर' के प्रयोग से अपनी वाणी में कबीर ने अपने भगवद्दासत्व की ओर ही इंगित किया है। कबीर साहब और कबीरदास नामों का प्रयोग आदर व्यक्त करने के लिए कबीर के अनुयायियों ने किया है। श्रद्धालु आलोचकों ने भी अपने ग्रन्थों में 'कबीरदास' नाम का प्रयोग किया है।

'कबीर' नाम से जिस प्रकार कबीर के व्यक्तित्व का परिचय सहसा मिल जाता है, उसी प्रकार उनकी जाति के सम्बन्ध में भी संकेत मिल जाता है। जिस प्रकार नीरू या नूरी किसी मुसलमान नाम का संकेत देता है, उसी प्रकार कबीर शब्द भी मुसलमान नाम की ओर संकेत करता है। वह बिजली खाँ, फिदाई खाँ, सिकन्दर खाँ आदि नामों की सभा में अर्थात् भले ही गुह्यतर हों किन्तु जाति हीनता का बोधक है।

किसी को क्या पता था कि कबीर नाम का बालक यथानाम तथा गुण होगा। मैं समझता हूँ जो काम अपने आसन से कबीर ने किया उसको अकबर अपने शासन से भी न कर सका। समाज, धर्म और ऋष्यात्म के क्षेत्र में कबीर ने जिस क्रान्ति को जन्म दिया उससे उनका नाम सार्थक हो गया।

जनधुति के अनुसार कबीर का एक छोटा सा परिवार था जिसमें छेँ प्राणी थे—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री और स्वयं कबीर। कबीर की माता का नाम नीमा और पिता का नाम नीरू या नूरी बताया जाता है। कहते हैं कि कबीर के प्रति उनके पिता का व्यवहार अत्यन्त स्नेहपूर्ण था। इसको स्वीकार करते हुए कबीर लिखते हैं—
 "बापि दिलासा मेरो कीन्हा ।"

इसके विपरीत कबीर की माँ कबीर ने खिन्न रहती थी। सम्भवत इसका कारण यह था कि कबीर की साधु-संगति उसको रुचिकर नहीं थी।

¹ कबीर शब्द किर से बना है। किर का अर्थ गौरव, महत्त्व या बडप्पन है। अतः कबीर

कबीर जो कुछ कमाते थे उसे साधुओं पर व्यय कर देते थे। यह आचरण नीमा के निरन्तर खेद का कारण था। इसका संकेत हमें कबीर के इन पद से मिलता है—

“कबीरी सत नवी गयी बहि रे।

ठाडी माइ करारं टेरे, है कोई ल्यावं गहि रे ॥”

—(क प्र पृष्ठ १३७, पद १५१)

उक्त पद से स्पष्ट है कि कबीर की माँ कबीर के सत्संग में तृप्त नहीं थी। उनके सत्संग को वह पारिवारिक विपत्ति का कारण समझती थी। एक पद में कबीर ने इसका संकेत इस प्रकार किया है—

“मुसि मुसि रोवं कबीर की माई।

हमारे कुल कउ न राम कहियो।

जब की माला लई निपूते तब ते मुख न भयो ॥”

इसीलिए उसके मरने पर कबीर ने कहा था—

“भुई मेरी माई हउ खरा सुखाला।”

कुछ लोगो का यह कहना है कि यहाँ ‘माई’ शब्द माँ के लिए न होकर माया के लिए है। मैं समझता हूँ इससे दोनो ओर संकेत ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि पारिवारिक वातावरण में भी इस उक्ति की सगति बैठ जाती है।

कबीर की स्त्री का नाम लोई बताया जाता है। लोई को सम्बोधन करके कबीर ने अनेक पद लिखे हैं। एक पद में वे कहते हैं—

“रे यामें क्या मेरा क्या तेरा, लाज न भरहि कहत घर मेरा।”

× × × ×

“कहत कबीर सुनहु री लोई, हम तुम दिनसि रहेया सोई ॥”

इसमें लोई और कबीर का एक घर होना प्रकट किया गया है। इससे तो यही सम्भावना है कि लोई कबीर की स्त्री थी। इससे यह भी प्रकट होता है कि लोई से कबीर के विचार नहीं मिलते थे, अतएव कलहकारी मतभेद रहता था।

कुछ लोग 'लोई' के पहले 'मुनहू रे' की स्थिति (मुनहू रे लोई) से 'लोई' का अर्थ 'सोय' लगाते हैं, किन्तु जनश्रुति की प्रतिष्ठा से 'लोई' को अविनाशक सज्ञा के रूप में स्वीकार करना ही उचित दीख पड़ता है।

लोई के विषय में यह जनश्रुति है कि वह एक वनखण्डी बंरागी की परिपालित कन्या थी जो उस बंरागी को स्नान करते समय लोई में लपेटी हुई, टोकनी में रखी हुई गंगा में बहती मिली थी। लोई में लपेटी हुई मिलने के कारण उस कन्या का नाम लोई रखा गया।

वनखण्डी बंरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उसकी कुटिया में गये। वहाँ अन्य सन्तों के साथ उन्हें भी दूध पीने को दिया गया। श्रीरो ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा—“गंगा पार से एक साधु आ रहे हैं, यह दूध उन्हीं के लिए रख छोड़ा गया है।” थोड़ी देर में वहाँ सचमुच एक साधु आ पहुँचा जिससे अन्य साधुओं को कबीर की सिद्धई पर बड़ा आश्चर्य हुआ। लोई भी विस्मय से मुग्ध हो गई और उसी दिन से वह कबीर के साथ हो ली।

कबीर पय के लोग कबीर को अविवाहित कहते हैं किन्तु 'ग्रन्थ साहब' में दिये हुए एक दोहे से यह सिद्ध होता है कि कमाल कबीर का पुत्र था। इस प्रकार कबीर का विवाहित होना भी प्रमाणित हो जाता है। उक्त दोहा इस प्रकार है :—

“बूढा बस कबीर का, उपज्या पूत कमाल।

हरि का सुमिरन छाँडिके, घर ले आया मात ॥”

कुछ लोग उक्त दोहे को प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु पहले तो 'ग्रन्थ साहब' में प्रक्षेपो के लिए बहुत कम या विल्कुल गुजाइश नहीं दीख पड़ती, इसके अतिरिक्त 'ग्रन्थ साहब' में कमाल सम्बन्धी कई उक्तियाँ मिलती हैं जिनसे कबीर और कमाल के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

कुछ आलोचकों का भी यही मत है कि लोई कबीर की स्त्री नहीं थी, शिष्या थी। वे अपने मत के पक्ष में कबीर द्वारा की गई कामिनी निन्दा को प्रस्तुत करते हैं—

“नारि नसावर्त्तं तोनि सुख, जा नर पासँ होइ ।
भगति मुकति निज जान में, पैसि न सकई कोइ ॥
एक कनक अरु कामिनी, विषफल किए उपाइ ।
बेखे हौं थं विष चढ़े, खाए सूँ मरि जाइ ॥”

प्रमाणों से यह तो सिद्ध हो ही गया है कि कबीर विवाहित थे । प्रत्यक्ष हमारी समझ से कोई कबीर की शिष्या नहीं थी । हमें तो यही ठीक जान पड़ता है कि कोई कबीर की पत्नी थी जो कबीर के विरक्त होकर नवीन पथ चलाने पर उनकी अनुगामिनी हो गई ।

डा रामकुमार वर्मा ने अन्त साध्य के आधार पर अनुमान किया है कि कबीर की दो स्त्रियाँ थी । पहली शायद कुष्प थी और उसकी जाति-याँति का भी कोई पता नहीं था । उसमें स्त्रियोचित सुलक्षण न थे । दूसरी स्त्री समस्त सुन्दर और सुलक्षणा थी । पहली स्त्री का नाम कोई और दूसरी का धनिया था । उसे लोग ‘रमजनिया’ भी कहते थे । डा रामकुमार वर्मा का यह भी अनुमान है कि सम्भवतः वह रमजनिया वेश्या रही हो । इस अनुमान के लिए कोई आधार नहीं दीख पड़ता । यह समझ हो सकता है कि कबीर की दो पत्नियाँ रही हो, किन्तु उनमें से एक वेश्या थी, यह नहीं कहा जा सकता । जो स्त्री उनको भक्ति-भावना के अनुकूल रही होगी उन्होंने उसी को गुणवती कहा होगा । कबीर-ग्रथावली में एक पद ऐसा है जिससे डा रामकुमार वर्मा के इस अनुमान की पुष्टि होती है कि कबीर की दो पत्नियाँ थी । पद यह है --

“अब को धरी मेरो घर करसी ।

साथ सगति ले मोकों तिरसी ॥

पहली को धाल्यो भरमत डोल्याँ, सच कबहुँ नहिँ पायो ।

अब की धरनि धरी जा दिन थं, सगलौ भरम गमायो ॥

पहली नाहिँ सवा कुलवंती, सासू सुसरार माने ।

देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय को मरम न जाने ॥

अब की धरनि धरी जा दिन थं, पोय सूँ बान बन्पूँ रे ।

कहै कबीर भाग बपुरी की, आइ व राम सूसूँ रे ॥”

—(क. य, पृष्ठ १६५, पद २२६)

यद्यपि इस पद से आध्यात्मिक ध्वनि भी निकलती है, किन्तु लौकिक अर्थ भी पुष्ट हो जाता है । इस पद से स्पष्ट है कि कबीर की दो पत्नियाँ थीं ।

पहली से उनकी नहीं पटती थी। वह उनके भाध्यात्मिक प्रवाह में बाधक सिद्ध होती थी क्योंकि वह कबीर के मर्म को नहीं समझती थी। दूसरी पत्नी उनके भाध्यात्मिक विचारों की समर्थक एवं प्रेरक थी। वह उनके साथ राम-चर्चा कहने-सुनने में भी भाग लेती थी। कदाचित् यह दूसरी स्त्री धनिया या 'रामबनिया' थी।

कबीर की माँ बी तरह उनकी पहली स्त्री भी उनमें अप्रसन्न रहती थी, क्योंकि वे साधु-सन्तों के सत्कार में अधिक सलग्न रहते थे। घर में जो कुछ अच्छा भोजन बनता उसे वे साधु-सन्तों को खिला देते थे और उनकी स्त्री को चबना आदि खाकर ही रह जाना पड़ता था। इसीलिए उसे कह देना पड़ा—

“धूँड़ पत्तोसि कमर बंधि पोथी।

हम कउ चाबनु, उन कउ रोटी ॥”

—(सत कबीर, गी ६)

अपनी दूसरी स्त्री से कबीर अधिक प्रसन्न थे, यह तथ्य कबीर की एक अन्य उक्ति से भी प्रकट होता है —

“भरी सरी मुई मेरी पहली बरी।

जुग जुग जीवउ मेरी अबकी धरी ॥”

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की पहली स्त्री जल्दी मर गई थी।

कमाल के अतिरिक्त कबीर की एक पुत्री भी थी जिसका नाम कमाली था। कबीर-पथियों ने कबीर को अविवाहित सिद्ध करने के लिए कमाली को किसी बौद्ध लकी की पुत्री बताया है जिसे कबीर ने उसके मरने के आठ दिन बाद पुनर्जीवन प्रदान किया। कमाली सभी से उनकी पोष्य पुत्री होगई। कमाल की भी कबीर-पंथी लोग कबीर का पोष्य पुत्र बतलाते हैं।

जो हो इतना सत्य है कि कमाल और कमाली कबीर के परिवार के अभिन्न अंग थे। कमाल बंदगा और कबीर के नाम को बिगाड़ने वाला था। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि कमाल और कमाली के अतिरिक्त जमाल और जमाली भी कबीर की सतिथि थे। कुछ लोगों ने जमाल और जमाली के स्थान पर निहाल और निहाली नाम बतलाये हैं।

इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर नूरी (नीरू) पिता एव नीमा माता के औरत पुत्र थे। उनकी दो पत्निया थी। पहली का नाम लोई था और दूसरी का धनिया था जिसे रामजनिया भी कहते थे। शायद यह नाम महात्मा रामानन्द के प्रभाव से रखा गया था। पहली स्त्री जल्दी मर गई थी। उससे कबीर की बनती नहीं थी। दूसरी स्त्री कबीर को अधिक प्रिय थी। उससे उनकी भक्ति साधना को बड़ी प्रेरणा मिली थी। अनेक पुत्र और पुत्रियों के सब्ध में पुष्ट प्रमाण न मिलने से केवल यही माना जा सकता है कि कबीर को एक पुत्र और एक पुत्री का लाभ हुआ था। उनमें से केवल पुत्र ही बचा था। उसका नाम कमाल था जिसने गुजरात में अपना धर्म चलाया था। कबीर को पारिवारिक सुख नहीं मिल सका था। इसका प्रमाण उनकी ही एक साखी है—

“जदि का भाई जनमिया, कहौ न पाया सुबल।

डाली-डाली में फिरौ, पाती-पाती दुबल ॥”

—(क ४, पृष्ठ ११७)

कबीर का जन्म और पालन-पोषण जुलाहा परिवार में हुआ था। उनके परिवार का व्यवसाय कपडा बुनना था। कोरी और जुलाहों का यह व्यवसाय बहुत पुराना है। कोरी और जुलाहे लोग कपडा बुनते ही नहीं, व्यवसाय बेचते भी हैं। जिस प्रकार ये लोग घर घर से सूत खरीदते फिरते हैं उसी तरह घर-घर कपडा भी बेचते फिरते हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग पंठो और अठवारो की हाटो में भी कपडा बेचने जाते हैं।

कबीर ने अपनी बानियों में अपनी जाति कोरी और जुलाहा बतलाई है। इससे कम से कम उनके पारिवारिक व्यवसाय पर तो प्रकाश पड़ता ही है। यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि कोरी या जुलाहा जाति का पेशा कपडा बुनना है। कबीर भी कपडा बुन कर जीविका का उपाजन करते थे। यद्यपि इससे उनके माता-पिता को विशेष सहायता नहीं मिलती थी, फिर भी घर का काम तो चलाना ही पड़ता था। इसी साधन से कबीर अपने सत्सग का व्यय भी चलाते थे।

कबीर की बीसियों बानियाँ ऐसी हैं जिनमें दुग्ने के रूपक प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें जो विस्तार दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि कबीर को 'दुग्ता'

है। कबीर के करीब तेरह पद ऐसे हैं जिनसे उनके 'वयनजीवी' होने का संकेत मिलता है। एक स्थान पर कबीर ने स्वयं स्वीकार किया है—

“हम घर सूत तर्नाहि नित ताना।”

—(सत कबीर, प्रा २६)

ऐसा भी प्रतीत होता है कि वैश्विक व्यवसाय में कबीर की रुचि नहीं थी। रुचि भी क्या करती? यदि सत्संग से अवकाश मिलता, कपड़ा तो वे तब बुनते। शापद बाद में उन्होंने यह व्यवसाय छोड़ भी दिया था—

“तनना बुनना सभु तज्यो है कबीर
हरि का नाम लिखि तियो सरीर ॥”

कबीर के गुरु कौन थे? यह प्रश्न गम्भीर और विचारणीय है। कबीर के गुरु के सम्बन्ध में लोगों का मतभेद है। इन लोगों को हम दो भागों में बांट सकते हैं—एक तो वे जिन्होंने कबीर के सम्बन्ध में शोध करके अपना गुरु मत स्थिर किया है और दूसरे वे जो कबीर-पथी हैं। कबीर-पथियों के भी दो वर्ग हैं—हिन्दू कबीर पथी और मुसलमान कबीर-पथी। 'मुसलमान कबीर-पथियों का कथन है कि कबीर शैख तकी के शुरीद थे। हिन्दू कबीर-पथी कहते हैं कि कबीर को गुरु करने की आवश्यकता नाममात्र की ही पड़ी थी।^१ कहा जाता है कि निगुरा कहकर कुछ लोग कबीर को खिजाते थे। वे कबीर की 'वाणियों का अनादर करते थे। कबीर ने परिस्थिति का सामना करने के निमित्त एक गुरु चुनने की आवश्यकता समझी। महात्मा रामानन्द की उस समय बड़ी ख्याति थी। स्वयं संबन्ध होते हुए भी कबीरदास ने गुरु की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए किसी प्रकार रामानन्द को भ्रमना गुरु बना लिया।

'कबीर' पर शोध करने वाले विद्वानों में से कुछ ऐसे भी हैं जो रामानन्द को कबीर का गुरु नहीं मानते। उनमें से डा. भण्डारकर^२ एवं डा. मोहनसिंह^३ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा. मोहनसिंह का तो यह भी कहना है कि कोई लौकिक व्यक्ति कबीर का गुरु नहीं था। इसके विपरीत डा. हजारीप्रसाद, डा. श्यामसुन्दरदास आदि कुछ विद्वानों की यह दृष्टि मान्यता है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे। श्री चन्द्रबली पाठेय ने कबीर का जीवन वृत्त लिखते समय यह

^१ देखिये, कबीर का जीवन-वृत्त—चन्द्रबली पाठेय

^२ वैष्णवविजय तथा शैविज्य आदि—भण्डारकर प्रथम अध्याय।

^३ र एण १ —

कहा है, “अनुसंधान की दृष्टि से कबीर के गुरु का प्रश्न अभी अछूता है। कुछ लोग कह सकते हैं कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे क्योंकि कबीर ने स्वयं इसको अपनी वाणी से स्पष्ट कर दिया है—‘कासी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताए। समरथ का परवाना लाए हस उवारन आए।’ उक्त महानुभावो से हमारा यही नम्र निवेदन है कि हम इसको कबीर की रचना मानने में असमर्थ हैं। हमारी दृष्टि में, इस पद्य में इस वाक्य पर ध्यान नहीं दिया गया है कि इस पद्य का प्रसंग क्या है और इससे किस तथ्य का प्रतिपादन होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस पद्य में इस्लाम और हिन्दूमत की लिच्छवी पकी है, पर उमने यह कबीर रचित नहीं हो सकता। यह तो किसी भक्त-शिष्य की वस्तुतः है जो गोरख को घटाने के लिए की गई है। कबीर इस स्थल पर अपना परिचय तो दे रहे हैं परन्तु परिचय देने का जो ढंग है वह कबीर का नहीं है। ग्रन्थावली में यह पद्य नहीं है। यह पद्य उस समय का है जब कबीर व्यक्ति विशेष न रह कर कुछ और ही बन गये थे। ‘प्रगट होने’ का प्रयोग सत् समाज में उत्पन्न होने के अर्थ में भी होता है। यह सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमात्मा तथा उसी के अज्ञ का प्रभाव है इस्लाम के छुदा का नहीं। ‘समरथ का परवाना लाना’ इस्लाम का पैगाम लाना है, अवतार लेना नहीं। यहाँ तो परमात्मा स्वयं अवतार लेते हैं। परमात्मा तो केवल यमराज भेजते हैं जिसके वाहक यमदूत कहे जाते हैं, महात्मा नहीं। सन्तो ने भी कबीर के ‘जुग-जुग’ आने की बानगी ली है, उनके परवाने की नहीं। कबीर-भक्तियों में जो परवाना चलता है वह कबीर की भक्ति का परवाना है, ‘समरथ’ का नहीं।”

इस विवेचन से पाठ्य जी का तात्पर्य यह नहीं कि रामानन्द कबीर के गुरु नहीं थे। उनका आशय तो केवल इतना है कि यह विषय विवाद-ग्रस्त है। इतिहास के आधार पर विचार करने से सबसे बड़ी अड़चन तो सामने यह आती है कि उक्त दोनों महानुभावो का समय अनिश्चित है। फिर भी विद्वानों ने इतिहास, अनुमान और ‘वाणियों’ का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा तो की ही है। यद्यपि इतिहास की दृष्टि से दोनों का संधर्ष असम्भव सिद्ध नहीं होता, फिर भी स्वयं कबीर के वचनों से प्रमाण मचय करना अत्युचित होगा। कबीर-ग्रन्थावली के पाठक यह भली भाँति जानते हैं कि उसमें स्वामी रामानन्द का नाम नहीं आया है। शुक, प्रह्लाद, ध्रुव, नारद आदि प्राचीन भक्तों को जाने दीजिये, जयदेव तथा नामदेव का नाम तक लिया गया है। कबीर का कथन

है—' जागे सुक उधव अकूर हणवत जाग ल लगूर । सवर जागे चरत सेव कलि जाग नामा जदेव । म समभता हू कबीर प्रथावली मे एक भी पद्य ऐसा नहा आया है जिसमें किसी भा वपणव आचार्य का नाम आया हो । वबोर काशी में रहते थे । अनक वपणव आचार्य समय समय पर वहा आन रहते थे । आच व नही तो उनके निष्य सो आत ही रहते थे । दगन के इतिहास में ऐस अनेक गार्थार्थों का उल्लेख मिलता है जो कागी मे वपणव मिद्धता को लकर हुए थे । फिर भी कबीर उनके विषय में मौन है । क्यों ? वे गवर का तो नाम लेत हैं किन्तु भक्ति के उजायक रामानुज का ध्यान नहीं रखते । ऐसी दगा में यदि कबीर प्रथावली में रामानन्द का नाम नहा मिलता तो आदचय की बात क्या है ? कबीर की धारणियों में वपणव गव्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है, साकर्त (गवत) का भी अभाव नहा है । यदि अभाव है तो गव का । सम्भवत शकर इसी अभाव का पूर्ति करते है । कदाचित् यह स्वीकार करने में तो किसी को आपत्ति न होगा कि वपणव धर्म से कबीर का घनिष्ठ सम्बन्ध था क्योंकि उन्होंने अपने ही गव्दों में स्वीकार किया है कि— मरे सगी दाइ जणा एक वणो एक राम । वो हे दाटा मुकनि का वा सुमिराव नाम ॥ ^१ कबीर की दृष्टि में वपणव का पद बहुत ऊचा था । व तो वपणव की मा तक को बघाई देते हुए कहत ह— कबीर धनि ते सुदरी, जिनि जाया बसनो पूत । राम सुमिरि तिरभ हुवा सब जग गया अऊत । ^२ कबीर वपणव भक्त क प्रकासक ही नहीं स्वय वपणव थे । इसकी पुष्टि क लिए उनकी यह वाणी पर्याप्त है—

मेरी जिम्मा बिस्तु नन नागइन हिरव बस गोविदा । ^३

कबीर पर वपणव धर्म का प्रभाव इतना गहरा पया कि वे अपने को वपणव से अभिन्न मानने ह । व अपनी एक साखा में कहते है—

हम भी पाहन पूजते होते रन^४ के रोऊ ।

सतगुरु की कृपा भई डारया तिरय बोभ ॥ ^५

यह ता थ यत्र कहा ही जा चुका है कि कबीर का ज म मुसलमान कुल में हुआ था । उनके कुल में किसी न राम का नाम नही जपा था । फिर उनके

^१ कबीर प्रथावली पृष्ठ ४६

^२ कबीर प्रथावली पृष्ठ ५३

^३ कबीर प्रथावली पृष्ठ १७३ २३०

^४ रन गव्द का प्रयोग कबीर ने जन के अर्थ में किया है ।

^५ कबीर प्रथावली, पृष्ठ ४४

‘वाहन पूजने’ और ‘बन के रोक’ होने का क्या अभिप्राय है । यदि और न सही, कबीर का मुसलमान-परिवार में पालित होना ही सत्य मान लें तो भी वे सत्स्वार-वशा ‘पत्थर पूजा’ और पुनर्जन्म के चक्र में मुक्त तो थे ही । फिर उनके कथन का अभिप्राय क्या है ? मैं समझता हूँ कि कबीर पर वैष्णव-मत का प्रभाव इतना घनीभूत हो गया था कि उनका विश्वास पुनर्जन्मवाद में हो गया था । निस्सन्देह यह प्रभाव रामानन्द का था ।

मेरी भी यही धारणा है कि कबीर रामानन्द के ही शिष्य थे, किन्तु, तदर्थ प्रमाण होते हुए भी, कुछ विद्वानों ने कबीर को शेख तकी का ही मुरीद माना है । उनमें श्री रामप्रसाद त्रिपाठी तथा स्वर्गीय मूलकम साहब एव बेरकट साहब^१ प्रमुख हैं । प्रायः इन सभी विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिए गुलाम सरवर की खोजीन ग्रन्थ ‘असफिया’ से उद्धरण दिये हैं । गुलाम सरवर भी कबीर को शेख तकी का मुरीद मानते हुए थोड़े तर्कों से अपने मत की पुष्टि नहीं कर सके हैं । उनके मत को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने कबीर की जन्म-तिथि देकर अपनी धार्मिक अटकलवाजियों को ही प्रस्तुत किया है । ऐसे अप्रामाणिक एव धर्मतिहासिक ग्रन्थ के आधार पर कोई मत स्थिर करना उचित प्रतीत नहीं होता ।

शेख तकी को कबीर का पीर मानने वाले लोग अपने पक्ष में यह प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं —

“मानिक पुरहि कबीर बसेरी, मदहसि सुनी शेख तकि बेरी ।

ऊजो मुनी जौनपुर धाना, भूँसी मुनि पीरन के मामा ॥”^२

यह धारणा कि कबीर मानिकपुर के शेख तकी के ही मुरीद थे, कबीर पर्याय मुसलमानों की है । वे तो यहाँ तक कहते हैं कि कबीर का सम्बन्ध शेख अकरदी और सकरदी से भी था । यह वर्णन भी आता है कि शेख अकरदी और सकरदी कबीर को लेकर स्वामी रामानन्द की शरण में गये थे । प्रवाद तो यह भी है कि भूँसी के किसी शेख तकी ने कबीर की लाग-टाट भी ही गई थी । कबीर के साथ जर्हगंज^३ फकीर का संबंध भी कहा जाता है । कबीर-प्रथावली में तो केवल यह पद्य मिलता है —

^१ कबीर एण्ड दी कबीर पथ, पृष्ठ २५

^२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ७३

^३ कबीर एण्ड हिज फोलोवर्स, पृष्ठ १८

“हज्म हमारी गोमतो तीर, जहाँ बसहि पीतबर पीर ।
घाहू वाहु क्या खूब गावता है, हरि का नाम मेरे मन भावता है ॥”^१

मह ध्यान रखने की बात है कि ये पंक्तियाँ ‘ग्रन्थसाहब’ की हैं और कबीर-ग्रन्थावली के परिशिष्ट में दी गई हैं । श्री चन्द्रबली पाडेय का मत है कि ‘पीताबर जी अवश्य ही एक अछे गायक थे तारक नहीं’ । यदि पीर शब्द के आधार पर उनको सूफी बहे तो पीताबर सजा के अनुरोध से भक्त । पूरे पद पर विचार करने से पीताबर जो भक्त ठहरते हैं, सूफी नहीं । उनका ‘हरिनाम’ कबीर को प्रिय लगता है । पीताबर पीर का कोई विशेष परिचय अभी तक नहीं मिला । हो सकता है कि उनका स्थान जी-पुर रहा हो । इस समय हम इतना ही कह कर सन्तोष करते हैं कि वे राम के भक्त, प्रसिद्ध गायक, और पीर के रूप में ख्यात थे । यदि कबीर उनके शिष्य नहीं थे तो उन पर उनकी श्रद्धा अवश्य थी । कबीर उनके सत्सग को ही तीर्थ समझते थे ।

कबीर-ग्रन्थावली के परित अनुशीलन से यही पता चलता है कि कबीर किसी के मुरीद नहीं थे । जिस धर्म में लोग श्रेष्ठ तकी को कबीर का पीर कहते हैं उस धर्म में तो स्वामी रामानन्द भी उनके गुरु नहीं माने जा सकते । रामानन्द का दीक्षा-मंत्र तो ‘रा रामाय नम’ था । उन्होंने कबीर को बस ‘राम रा’ कह’ का मंत्र दिया था । शायद कबीर ‘गुरु बिन चेसा ज्ञान न लहै’ की भाव । से प्रेरित होकर किसी गुरु की खोज में थे जो उन्हें रामानन्द में मिला ।

बुद्ध भी हो, कबीर किसी सूफी या शैख के मुरीद नहीं थे । उनके दास का बही दातपर्यं है जो सूफियों के शैख का है । सूफी लोग शैख, मीर और काजी को उपहास की दृष्टि से देखते हैं । वे उनका श्रुत मजाक उड़ाते हैं । वे छुटकिया ले-लेकर उन्हें ‘प्रेम-पीर’ की दीक्षा देना चाहते हैं । यह कहा जाता है कि रामानन्द के निधन के पश्चात् कबीर ने जिज्ञासा से प्रेरित होकर सूफियों का सत्सग भी किया । उसी समय मुसलमानों ने उन्हें अपने प्रयत्न भी किया और सम्भवतः वे अपने प्रयत्न में किसी सीमा तक सफल भी हुए, परन्तु अन्त-तोगत्वा उधर कबीर के मित्रात्मी को ठेक पहुँची और मुड़ते हुए वे पुकार उठे—

“तुरको धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करं ए बोधा ।
शाफिल गरब करं अधिकारी, स्वारथ धरयि बंधं ए गाई ॥”

^१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३०

शायद इसी खोज के बीच कबीर की शैल तकी में भेंट हुई होगी। इसमें तो मन्देह नहीं कि शैल तकी कोई प्रसिद्ध व्यक्ति थे, किन्तु कबीर ने जिस रूप में शैल तकी का नाम लिया है उसमें उनकी श्रद्धा नहीं दोख पड़ती। इस विषय में स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह बयान ठीक ही प्रतीत होता है कि 'कबीर ने शैल तकी का नाम लिया है, पर उम आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाना है, जैसे 'घट-घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शैल' इस वचन में तो कबीर ही शैल तकी को उपदेश देने जान पड़ते हैं।'

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कबीर 'सत्सगी पुत्र' थे। हिन्दू मुसलमान किसी भी सत्पुरुष से मिलते थे। उन्होंने मुसलमान फकीरों वा भों सत्सग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं भी किया है। वे अनेक उन स्थानों में, जहाँ मुसलमान फकीर रहते थे घूमे-फिरे थे। भूसी, जौनपुर और मानिकपुर उन दिनों मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे और उनकी कबीर ने यात्रा की थी। सारग्राही होने के नाते सबकी बातों वा सचय करके भी कूड़ा-ककर्कट लेने को तैयार नहीं थे। उनके मिद्धान्तों की कसौटी पर जो वचन पूरे उतरते थे, उन्हीं को वे लेने के लिए तैयार थे अन्यथा वे किसी को भी शानी या बड़ा मानने को तैयार न थे। सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कबीर किसी शैल या सूफी के मुरीद न थे। हाँ, वे उनके सत्सग से लाभ उठाने वाले जीव अवश्य थे।

इस विवेचन से कबीर-पथियों के मत का फँसला हो जाता है। न तो वे 'निगुरा' थे और न शैल तकी के मुरीद ही। अनेक विद्वानों का मत है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। अन्तर्माक्षय और बहिर्माक्षय, दोनों आधारों पर यही मत अधिक तर्कमगत और ठीक प्रतीत होता है। यह ठीक है कि कबीर ने अपनी वाणियों में कहीं भी रामानन्द के नाम का निर्देश नहीं किया, किन्तु, क्या यह उचित है कि इसी आधार पर उनको रामानन्द के शिष्यत्व से वंचित कर दिया जाए? कुछ सामाजिक क्षेत्रों में जिज्ञ प्रकार स्त्री अपने पति का नाम नहीं लेती थी उसी प्रकार शिष्य भी अपने गुरु का नाम नहीं लेते थे। अतएव आदर, व्रतज्ञता और शिष्टाचार की रक्षा के लिए कबीर ने भी अपने गुरु का नामोल्लेख नहीं किया तो विस्मय की क्या बात है। डॉ० त्रिगुणायत^१ ने अपने अधिनिबध

^१ कबीर की विचार-धारा—डॉ० त्रिगुणायत, पृष्ठ ४६

मे जो तर्क सकलिन किये हैं वे रामानन्द को कबीर का गुरु सिद्ध करने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। उनमें भी सहमत हैं। तर्क ये है —

- १ 'कबीर और रामानन्द लगभग समकालीन थे। रामानन्द युग के महान् आचार्य थे। ऐसे महान् आचार्य को छोड़ कर कबीर और किसी को गुरु नहीं बना सकते थे।'
- २ "रामानन्द और कबीर की विचार-धारा में बड़ा साम्य है। यह साम्य सम्भवतः इसलिए है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। शिष्य का गुरु की विचार-धारा से प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक है।"
३. "कबीर और रामानन्द के सम्बन्ध को ध्वनित करती हुई बटुत-ची किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। किंवदन्तियाँ स्वयं अतिरजनापूर्ण और अपोष-वल्पित होती हैं" फिर भी उनके पीछे कोई सत्य अवश्य निहित होता है। अतः इस आधार पर भी कबीर और रामानन्द में हम गुरु और शिष्य का सम्बन्ध मान सकते हैं।"
- ४ "कबीर ने एक स्थल पर लिखा है —

‘कबीर गुरु बस बनारसी, सिय समदा तीर।

द्विस्तार्या नहीं बीसरं, जे गुण होइ सरौर ॥’

—(क ग्र, पृष्ठ ६८)

इस साखी से भी स्पष्टतः प्रकट होता है कि कबीर के गुरु बनारस में थे। बनारस में उस समय रामानन्द ने महान् और कोई दूसरा आचार्य न था। अतः उन्हें कबीर का गुरु मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

- ५ "अनेक निष्पक्ष प्राचीन विद्वानों ने कबीर का रामानन्द का शिष्य माना है। इन विद्वानों में 'दक्खिनी तवारीख' के लेखक मोहम्मिन फानी भक्तमान के लेखक नाभादास जी, उसके टीकाकार प्रियादास जी, तथा 'तजकीरुल फुकरा' के लेखक प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त थोड़े दिन हुए श्री शंकरदयाल श्रीवास्तव ने 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने कबीर को रामानन्द का शिष्य सिद्ध करने के लिए किसी 'प्रसंग पारिजात' नामक प्राचीन ग्रन्थ को प्रमाण रूप में उद्धृत किया था। इस ग्रन्थ के लेखक कोई अनन्तदास

साधु कहे जाते हैं। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि वे स्वामी रामानन्द की वर्षी के दिन उपस्थित थे। उन्होंने कबीर को रामानन्द का ही शिष्य माना है। इन प्राचीन सत्त विद्वानों के मतों को अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। अतः रामानन्द को कबीर का गुरु कहना अनुपयुक्त नहीं है। इसीलिए हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान १० रामकुमार वर्मा आचार्य डा० हजारीप्रसाद जी तथा डा० श्यामसुन्दरदान और १० बडधवाल आदि इसी मत के पक्ष में हैं।

इन तर्कों के आधार पर रामानन्द ही कबीर के गुरु ठहरते हैं। कबीर की समस्त विचार धारा एक मौलिक आयोजना होते हुए भी रामानन्द ने प्रभावित है।

यह ठीक है कि कबीर ने राम नाम की दीक्षा रामानन्द में ली थी और रामानन्द के विचारों का कबीर पर गहरा प्रभाव था किन्तु यह प्रश्न भी तो उठ खड़ा होता है कि कबीर का विद्यागुरु कौन था और सतगुरु सतगुरु शब्द से उनका क्या अभिप्राय है ?

जहाँ तक कबीर के विद्याध्ययन और पुस्तक ज्ञान का संबंध है उसमें बं बिबुन कोरे थ । एस तथ्य को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है —

विद्या न परउ वाद नहि जानउ

—(सत कबीर वि २)

अतएव कबीर के विद्या गुरु के सम्बन्ध में उठ हुए प्रश्न का उत्तर तो स्पष्ट हो जाता है कि जब उन्होंने अध्ययन ही नहीं किया था तो अध्यापक कहा से आया ? इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्होंने किसी पाठशाला या 'मदरसा' में जाकर अध्ययन नहीं किया था या पुस्तक नहीं पढ़ी थी तो वे कुछ जानते भी नहीं थे। यह न भूल जाना चाहिए कि कबीर मनस्वी ब । जो कुछ बाहर देखते थे उस पर विचार और मनन करते थे। इस प्रकार समाज और जीवन के सम्बन्ध में कबीर का गहन अध्ययन था। उनकी अतः दृष्टि बड़ी पनी थी। इसीलिए वे दुःख द्रष्टा का सम्मन प्राप्त कर सके।

कबीर का सतगुरु शब्द उनके व्यक्तित्व की भाँति ही विलक्षण है। मेरी समझ में इस शब्द का प्रयोग उन्होंने अलग राम के लिए किया है। कबीर का मनसुह आजाद या बेसरा सूफियाँ के गुरु=जसा है। उनमें प्रायः लोग

एम होते है जिनको अलख या अलगैब से शिक्षा मिलती है। कबीर ने अनेक स्थानों पर अपन ऐसे ही गुरु का निदर्शन किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

‘कबीरा तालिब तोरा, तहा गोपत हरी गुर भोरा।’

—(क प्र पृष्ठ ६८)

एक दूसरे स्थान पर वे इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं —

‘तुम्ह सतगुरु में नीतम बेला, कहै कबीर राम रसू अवेला।’

—(क प्र, पृष्ठ १२६)

एक तीसरे स्थान पर कबीर का गुरु इन शब्दों में व्यक्त होता है —

‘कबीर पगुड़ा अलह राम का, हरि गुर पीर हमार।’

—(क प्र पृष्ठ १७६)

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि कबीर की वाणियों में ऐसे प्रकार उद्धरण मिल सकते हैं जिनसे यह ध्वनित होता है कि यदि कबीर से कोई उनके गुरु के सम्बन्ध में पूछना तो वे कुछ विड जाते थे। वदार्थित उनका यह प्रश्न किन्ना ऐसे ही प्रश्न का उत्तर है —

‘मुरसिद पीर तुम्हारै है को कही कहाँ थ आया ?’

इस प्रश्न में तो किसी मुसलमान प्रश्न-कर्ता को उत्तर दिया गया है अब एक पंडित को दिये हुए उत्तर को देखिये —

“जाइ पूछी गोविन्द पढिया, पढिता, तेरा कौन गुरु कौन बेला।”

कबीर की इस मनाश्रुति का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। वे यथाय उत्तर देने में या तो कोई आपत्ति समझते थे या उनका कोई वास्तविक गुरु न था, किन्तु उन्होंने अपने मत की आयोजना एवं प्रचार किसकी प्रेरणा से किया? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कबीर जब यह कहते हैं कि मोहि आजा दई दयाल दया करि काहू कू समभाइ। कहै कबीर मैं कहि कहि हारधी अब मोहि दोष न लाइ।^१ तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनको जिस दयाल से आजा मिली है वही उनका सतगुरु है। वह प्रक हरि है क्योंकि एक अन्य शाखी में कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि—

^१ कबीर—ग्रंथावली पृष्ठ १६६

“हरि जो यहै बिचारिया, सायो कही कबीर ।
भौ सागर में जीव हैं, जे कोइ परुडै तीर ॥”

—(क. ग्र., पृष्ठ ५६)

एक ग्रन्थ साखी में कबीर ने राम को स्पष्ट अपना ‘सतगुरु’ कह कर समस्या मुलम्मा दी है। वे कहते हैं—

“राम मोहि सतगुरु मिले, अनेक कलानिधि, परम तत्त मुखदाई”

—(क. ग्र. पृष्ठ १५२)

गुरु-सम्बन्धी विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कि कबीर ‘निगुरा’ नहीं थे। उनके गुरु रामानन्द थे। उन्हीं से कबीर ने रामी नाम की दीक्षा ली थी। वे पढ़े-लिखे ब्रह्मकुल न थे, अतएव उनके सबध में किसी विद्या-गुरु की कल्पना व्यर्थ है। उन्होंने राम, हरि आदि शब्दों से अपने ‘सतगुरु’ को ओर सकेत किया है। इन शब्दों से यह भी स्पष्ट है कि उनका सतगुरु परमात्मा से अभिन्न है।

कबीर की वाणियों में अनेक ऐसी हैं जिनमें गुरु-महिमा का निरूपण है। वे गुरु और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं। जिस व्यक्ति की अपनी निजी धारणा ऐसी रही हो उसके पथ में भी गुरु का पद अवश्य सुरक्षित शिष्य रहा होगा। अवश्य ही अपनी शिष्य-परम्परा में कबीर ने बड़ा आदर पाया होगा। भक्त-परम्परा के आधार पर बिजली खाँ, धर्मदास, वीरसिंह बघेला, मुरतगोपाल, जीवा, तत्त्वा, जागूदास आदि कबीर के शिष्य थे। कबीरदास की वाणी में इन सब का उल्लेख नहीं है। हाँ, अनन्तदास कृत ‘परवर्द्ध’ में वीरसिंह बघेला के नाम का उल्लेख अवश्य मिला है। कबीर के हिन्दू-शिष्यों में दो बहुत प्रसिद्ध हैं—धर्मदास और मुरतगोपाल।

धर्मदास जाति में बनिये थे। वे मूर्तिपूजक थे। कबीर और धर्मदास की भेट सबसे पहले काशी में हुई थी। इसके बाद वे वृन्दावन में मिले। मूर्ति-पूजा के पक्ष में होने के कारण कबीर ने अपनी पहली भेट में ही धर्मदास को काशी में खूब फटकारा। वृन्दावन में साधु-मण्डली में कबीर का उपदेश धर्मदास ने भी सुना। उस समय वे कबीर को पण्डित न माने और बोले—“गण्डके-में उपदेश, मैंने काशी में भी किसी महात्मा के मुख में सुने थे।” इस बार धर्मदास की श्रद्धा उमड़ पड़ी और मूर्ति को पानी में डाल दिया। तीसरी बार कबीर स्वयं उनके घर बाँधोगड गये और कहा—“जिस पत्थर के तुम्हारे तौलने के बाट हैं

तुम उन्हीं की पूजा करते हो।” इस उक्ति का धर्मदास पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने कबीर को अपना गुरु मान लिया। कबीर की मृत्यु के बाद धर्मदास ने कबीर-पथ की एक शाखा छत्तीसगढ़ में चलाई और सुरतगोपाल ने काशी वाली शाखा का काम संभाला। धीरे-धीरे दोनों शाखाओं में मत-भेद हो गया। किन्तु धर्मदासी आदि अनेक कबीर-पथी शाखाओं में कबीर का समादर परम्परा की भाँति होता रहा।

कबीर न तो घुमक्कड़ ही थे और न तीर्थयात्रा में ही उनकी रुचि थी। तीर्थयात्रा और हज को वे बिल्कुल निस्सार मानते थे। अतएव यह समझना तो भूल है कि वे तीर्थ यात्रा के सम्बन्ध से इधर-उधर घूमे होंगे, देशाटन किन्तु यह बात अमान्य नहीं है कि उनको सत्संग में अधिक रुचि थी और वे हिन्दू मुसलमान, किसी भी साधु के दर्शन को अपना सौभाग्य समझते थे। उनकी दृष्टि में साधुसंगति के सिवा तीर्थों का कोई महत्त्व ही नहीं था अथवा यह कहना ही अधिक समीचीन होगा कि सत-जग ही कबीर के तीर्थ थे और सत्संग ही तीर्थ-यात्रा। कबीर स्वयं कहते हैं—

“मथुरा जावं द्वारिका, भावं जा जगनाथ ।
साध-संगति हरि-भगति बिन, कछु न आवं हाथ ॥”

—(कबीर-वचनामृत, साखी-भाग, पृष्ठ १४३)

कबीर का मत है कि जब तक मन शुद्ध नहीं तीर्थों में जाने से कोई लाभ नहीं हो सकता और मन के शुद्ध होने पर तीर्थों में जाना व्यर्थ है। इसी लिए वे कहते हैं—

“मन मथुरा दिल द्वारिका, कामा काशी जाणिए ।
दसवां द्वारा बेहरा, तामें तोलि पिछाणिए ॥”

—(कबीर-वचनामृत, साखी, पृष्ठ १३)

ऐसी बात नहीं कि कबीर तीर्थों के महत्त्व का ही अवमूलन करते हैं, वे तो कावे की यात्रा को भी व्यर्थ बतलाते हैं। तब कहते हैं—

“सैख सबूरी बाहिरा, क्या हज कावं जाइ ।
जाकी दिल साबित नहीं, ताकड कहाँ छुदाइ ॥”

—(स० क०, स० १८५)

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यदि कबीर ने तीर्थों को कोई महत्त्व नहीं दिया तो देशाटन भी नहीं किया। यह तो अन्यत्र कहा ही जा सकता है।

कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, किन्तु उनकी वाणियो में विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के अनेक वर्णन मिलते हैं। उनका ज्ञान कबीर को जहाँ से हुआ ? सत्सग से ही न। स्पष्टतः सत्सग के दो ही साधन थे—एक तो यह कि उनके पास हर धर्म और सम्प्रदाय के लोग आते रहते थे और दूसरा यह कि वे स्वयं सन्त-समाज के हेतु देशाटन करते थे। कबीर को सत्सग लाभ दोनों ही साधनों से हुआ। उनकी अनेक वाणियो में पर्यटक की पंती दृष्टि का परिचय मिलता है। उनके कुछ शब्द तो इतने स्पष्ट हैं कि उनको पढ़ने के बाद यह सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि कबीर ने देशाटन नहीं किया था। इनके अतिरिक्त अनेक किंवदन्तियों और विभिन्न साहित्यिक एवं ऐतिहासिक त्रिवरणों से इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि कबीर ने देश-देशांतरों में भ्रमण किया था। भ्रमण करने में उनका उद्देश्य तीर्थ-यात्रा, हज या केवल पर्यटन करने का नहीं था। वे सत्सग के द्वारा सत्य की खोज करने के लिए इधर-उधर घूमते रहते थे।

सत्य को प्राप्त करने के लिए कबीर बड़े आतुर थे। इसी हेतु वे स्थान-स्थान पर घूमते फिरे। कबीर के एक पद की नीचे उद्धृत पक्तियों से उनकी यात्राओं का सकेन मिल जाता है—

“बुन्दावन दूँदपो, दूँदयो हो जमुना के तीर ।
राम-मिलन के कारन, जन खोजत फिरि कबीर ॥”

‘दविस्ताने मजाहिब’ के लेखक मुहम्मिन फानी के शब्दों में भी इस मकेत की पुष्टि इस प्रकार होती है—“कहते हैं कि कबीर गुरु की तलाश में मुसलमानों और हिन्दू कामिलों के पाम गया। जो ढूँढता था न पाया। आखिरकार एक श स ने पीर रोशनदिल रामानन्द बरहमन की तरफ उसको तबज्जह दिलाई।” कहा जाता है कि कबीर कञ्ज, मानिकपुर और भामो भी गये थे। गोमती के तीर पर वे पीताम्बर पीर के पास भी प्रायः जाया करते थे। मगहर, रतनपुर और जगन्नाथपुरी में इनकी समावियाँ होने से यहाँ की यात्रा भी प्रमाणित हो जाती है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर की गुजरात-यात्रा का उल्लेख भी किया है। भडोच से १३ मील दूर मुकनीर्थ के निकट एक द्वीप में स्थित ‘कबीर-बट’ ने उनकी यात्रा वहाँ भी प्रमाणित कर दी है। ‘कबीर ने अपने स्पर्श से उस बट वृक्ष को सूखे से हरा कर दिया’—इस किंवदन्ती में यदि कोई सत्य हो सकता है तो सबसे पहला यह कि कबीर वहाँ गये थे। ‘हिस्ट्री आफ मरठठा पीपुल’ में भी यह उल्लेख आया है कि कबीर ने पडरपुर की यात्रा की थी। ‘कबीर मसूर’

ग्रन्थ के अनुसार कबीर बगद द बुखारा और समरकन्द भी गये थे। कबीर की अपनी निजी वीणी से तो यह भी प्रकट होता है कि वे मक्का-मदीना भी गये थे। उ ही की एक पक्ति देखिए—

“कबीर हज काज होइ, होइ गइया कतो बार कबीर ।”

इसके अतिरिक्त कबीर की और भी कितनी ही पत्तियाँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि उ होने देशाटन खूब किया था। बनि-बनि फिरो उदासी तथा “फाँटे दीदें म फिरौं, नजर न आवें काइ आदि वाक्यों से भी कबीर की भ्रमण लालसा एव अटन उत्कृष्टा का परिचय मिलता है।

इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि काशी और काबा से कबीर का कोई वार्षिक सम्बन्ध नहीं था। काशी और मगहर के सम्बन्ध में जो किंवदन्ती प्रचलित है उसका भी यही अर्थ है कि कबीर किसी स्थान को ऊँचा-नीचा नहीं मानते थे। स्वर्ग और नरक किसी स्थान में नहीं हैं, वे तो मनुष्य के मन में ही निहित हैं। वे तीर्थों का मूल्य बबल साधुसत्तों के सम्बन्ध से ही मानते थे। मच तो यह है कि साधु ही उनके जगम तीर्थ थे। उही से उह सत्य का साक्षात्कार हो सकता था, इस विश्वास से वे साधुसमागम के लिए आतुरता से देशाटन करते थे। वे जातीय भावनाओं से ऊपर उठकर प्रत्येक साधु—सर्व साधु का आदर करते थे और सच्चे साधुओं से मिलने एव उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही वे दूर दूर घूमते फिरते थे। सम्भवत इन यात्राओं में से उनकी प्रारम्भिक यात्राएँ जिज्ञासा व परिणामस्वरूप हुई होंगी किन्तु ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर उ होने अपने मन के प्रचार के लिए ही देश विदेशों में पधटन किया होगा।

कहा जाता है कि कबीर इतने साधु प्रिय हो गये थे कि उनके यहाँ साधु सन्तों की भीड़ लगी रहती थी। वे घर की परिस्थितियों में रहने वाली इस भीड़ से ऊठ कर घर-द्वार छोड़कर जगल में जा छिपे। और रामजी ने बड़े उत्सव के साथ उनका भण्डारा समाप्त किया।^१ इस **वैराग्य** कथा का उल्लेख ग्रन्थ सत्ता में भी किया है। घर तजि बन बाहर कियो दास घर बन देखौ दोऊ निरास जहा जाउँ तहाँ सोल सतान छुट नरख की अधिक विद्याप। कह कबीर चरन सोहि बडा,

^१ भक्तमाल, शिवदयालकृत पृष्ठ २२

घर मे घर दे परमानन्दा”,^१ यह कहकर कबीर ने अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। वन-वन फिरने का प्रसंग अन्यत्र भी आया है—“जाति जुलाहा नाम कबीरा, वनि-वनि फिरो उदासी।” इससे यह तो सिद्ध होता है कि कबीर कुछ काल के लिए वैरागी अवश्य बन गये थे। यदि उक्त प्रवाद ठीक है तो इसका मूल कारण उनकी अपनी परिस्थितियाँ थी, किन्तु यह भी प्रकट होता है कि कबीर की वैराग्य वृत्ति अल्पक दिन तक न ठहर सकी। वे शायद वन में भी दुःख से मुक्त न हो सके। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि दुःख साथ-साथ लगा फिरता था, अतएव उनका यह निश्चय बन गया कि दुःख का सम्बन्ध घर या वन से नहीं है। उससे मुक्त होने का मार्ग तो कुछ और ही है। सम्यक् आत्म बोध से ही उसका अन्त हो सकता है। वे उद्बोधन को अपना अभीष्ट मानकर बोल उठे—“कहे कबीर जाग्या ही चहिए, क्या गृह क्या वैराग रे।”^२ इन प्रकार कबीर ने उस वैराग्य को अपनाया जो वास्तविक शान्ति का मूल निश्चित किया गया है। उनका वैराग्य ‘माया में उदास’ का पोषक और ‘पद्मपत्रमिवाम्भसा’ को चरितार्थ करने वाला था। कबीर ने वैराग्य के रूढ अर्थ का खण्डन करते हुए कहा—“करि वैराग फिरी तन नगरी मन की किगुरी बजाई।”^३ इससे स्पष्ट है कि कबीर का वैराग्य ‘मन’ का विराग था। उनका सम्बन्ध परिवार या निवास के परित्याग से विन्कुल नहीं था।

कबीर बड़े मेधावी व्यक्ति थे। उनकी प्रतिभा बड़ी प्रसर थी। इसी कारण उनका ज्ञानार्जन उनकी जिज्ञाना की वृत्ति न कर सका। प्रतिभा से प्रज्वलित जिज्ञाना ने एकद्वारगी उनको घर-बार की सुधि से विमुक्त करके इधर-उधर भटकने के लिए विवश कर दिया। उन्होंने ज्ञानार्जन बचपन में तो कुछ पढा सिखा नहीं था और जाति के भी जुलाहे थे। ‘न तो वे वेद ही पढ सकते थे और न कुरान ही। वेद के वे अधिकारी न थे और कुरान रटने का उन्हें अवकाश नहीं मिलता था। जो कुछ उन्होंने सीखा-समझा वह अपर्याप्त था’,^४ अतएव वे सनसग से ससय का नाश करना चाहते थे, परन्तु उनके पास इतना समय कहाँ था और

^१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११३

^२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०६

^३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१७

^४ कबीर का जीवन त-चन्द्रावली पाठेय

उनकी सुनता था । व धर स बाहर निकल इधर उधर भ्रमण करते रहे ।
उन्होंने इतना मत्स्य किया था कि आधारण लोग कर नहीं पाते । सत्त्व-
समागम-काल में उन्होंने इतना सुना था कि उनका यह कहना अनुचित नहीं
प्रतीत होता—

‘वेद पुरान सिमृति सब खोजे कहूँ न ऊबरना ।

कहु कबीर यो रामहि जपो भेटि जनम मरना ॥”

—(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१८)

इससे यही ध्वनित होता है कि कबीर को ‘बहुश्रुतता’ का बल प्राप्त
था । यह नहीं कि उन्होंने वास्तव में सब कुछ ज्ञान डाला था । कुछ लोगों की
ऐसी धारणा है कि कबीर को सब ग्रन्थों का ज्ञान स्वतः ही हो गया था, वे
‘ऋतभर’ थे । इस धारणा के पीछे पथवालों की श्रद्धा का चाहे कितना ही
बल रहा हो किन्तु कम से कम यह तो सत्य है कि वे बहुश्रुत थे । उनके भ्रमण
का मुख्य उद्देश्य ज्ञानार्जन था जिसका आधार गुरु आदि सन्त थे । कबीर ने
अपरा विद्या (व्यावहारिक ज्ञान) को कभी महत्त्व नहीं दिया था । उनका
लक्ष्य तो परा से परिचय प्राप्त करना था । उनका मत था कि वेद, कुरान आदि
धार्मिक ग्रन्थ व्यावहारिकता के प्रचारकमात्र हैं । वे लोकाचार की शिक्षा देते हैं—

“तापें कहिये लोकाचार, वेद कतेब कथं ब्योहार ।”

—(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७)

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने धार्मिक विद्या-कलाओं को वेद या कुरान का
प्रतिपाद्य विषय समझ लिया था । उनकी दृष्टि में पुस्तकाध्ययन व्यर्थ था ।
वे तो अनुभव ही को सब कुछ समझते थे । इसीलिए वे आदेश देते हैं—

“कबीर पढिवा दूरि करि, पुस्तक देख बहाइ ।

बावन आविर सोधि करि, ररं ममं चित लाइ ॥”

—(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)

क्योंकि उनकी एही धारणा है—

‘पोथी पढ़ि पढि जग मुवा, पडित भया न कोइ ।

एकं आखिर पीब का, पढे सुपडित होइ ॥”

—(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)

१ कहते हैं कि वे इमी धुन में बलख-बुखारा तक भी गये थे ।

कबीर के ज्ञान का सम्बन्ध पौधियों से नहीं था, इसलिए वे पुस्तकों व धोटेने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने स्वयं पुस्तकों से ज्ञानार्जन नहीं किया प और न वे उनको इसका उचित साधन ही समझते थे। उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया था वह प्रायः अनुभव प्रदत्त था। यही उनका 'सहज ज्ञान' था। इस आधार पर वे कहते हैं—

“का पढ़िए का गुनिऐं, का वेद पुराना सुनिऐं ।
पढ़ें गुनें मति होई, मैं सहज पाया सोई ॥”

—(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १७७)

जो ज्ञान कबीर के अनुभव से दूरस्थ है उसको वे लोकाचार-मात्र मानते हैं। उनके प्रति उनकी श्रद्धा ठनिक भी नहीं है। इस ज्ञान को लेकर वे किमी वाद-विवाद या वितडावाद में नहीं पडना चाहते और वे साफ साफ कह देते हैं—

“विद्या न पढ़ूं बाद नहि जानूं ।
हरि गुन कथत सुनत घोरानूं ॥”

—(कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १३५)

प्रायः देखा जाता है कि महापुरुषों के अनुगामी उनके सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियों का प्रचलन कर देते हैं। निस्सन्देह उनका उद्देश्य महापुरुष की महिमा बढ़ाना होता है। वे किसी घटना को अतिशयोक्ति एवं अतिरजना के साथ व्यक्त करने में अपना गौरव समझते हैं। कालान्तर किंवदन्तियों में वे अतिशयोक्तियाँ ही रूढ हो जाती हैं और उनको हम किंवदन्तियों अथवा दन्तकथाओं के रूप में कहते-सुनते हैं। कबीर भी एक महापुरुष थे। उनके मत को लेकर अनेक सम्प्रदायों के रूप में सत-मत का जो विवास हुआ उसमें स्पष्ट है कि उनका व्यक्तित्व एक महापुरुष का व्यक्तित्व था और उनकी शिष्य-परम्परा में उनको विस्मयजनक सम्मान मिला। उनकी महिमा के प्रसार के लिए शिष्य-वर्ग ने जो किंवदन्तियाँ प्रचलित कर दीं उनमें परोक्षत किमी तथ्य की गवेषणा अवश्य की जा सकती है। इनको स्थूल रूप से छै भागों में बाँट सकते हैं—जन्म से सम्बन्धित, पत्नी से सम्बन्धित, पुत्र-पुत्री से सम्बन्धित, गुरु से सम्बन्धित, कबीर के व्यक्तिगत चमत्कारों से सम्बन्धित और मृत्यु से सम्बन्धित।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित किंवदन्तियां में तीन बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उनमें से एक है कि काशी में एक सात्विक ब्राह्मण रहते थे जो स्वामी रामानन्द के परम भक्त थे। उनकी एक विधवा पुत्री थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामीजी के आश्रम पर गये। प्रणाम करने पर स्वामीजी ने उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण ने चौककर जब पुत्री का वैधव्य प्रकाशित किया तो स्वामीजी ने सखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्यथा नहीं हो सकता, परन्तु इतने से सन्तोष करो कि इसने उत्पन्न पुत्र बड़ा प्रतापी होगा। आशीर्वाद क फलस्वरूप जब उस युवती ने पुत्र को जन्म दिया तो वह लोक-लज्जा और लोकापवाद के भय से उसे लहर तालाब के किनारे डाल आई। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से आ निकला। इस दम्पति क कोई पुत्र न था। बालक के रूप में इस दम्पति के हृदय को लुभा लिया। वे उसे उठा ले गये और इसी बालक का भरण-पोषण कर वे पुत्रवान हुए। इसी का नाम कबीर रखा गया। इस किंवदन्ती में रामानन्द के आशीर्वाद वाली बात के कोई सिद्धार नहीं दीखते।

कबीर के जन्म से सम्बन्धित दूसरी किंवदन्ती यह है कि कबीर का जन्म विधवा ब्राह्मणी की धेली से हुआ था इसीलिए वे करवीर या कबीर कहलाए। यह कथा कबीर-भक्तियों की जोड़ी हुई जात होती है। अप्राप्य प्रमाणों के आधार पर इसे सत्य रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

तीसरी किंवदन्ती यह है कि 'जठ की पूणिमा थी। आकाश नवमेघा से आच्छादित था। रह-रह कर चमचमाती हुई चपला अपना प्रभाव दिखा रही थी। समस्त प्रकृति किसी दिव्य प्रकाश क अवतीर्णाय विलखिलाकर हँस रही थी। ऐसे ही समय काशी के लहर तालाब में खिले हुए एक कमल पर आकाश से एक महापुरुष उतरा। इसी ने कुछ घण्टियों उपरान्त शिशु के रूप में नीमा के अक को सुशोभित किया। इसके पक्ष में भी कोई प्रमाण नहीं है मगदन्तमात्र है। कबीर के लौकिक होने की बात कबीर के उपासकों को प्रिय न लगी। उन्होंने अपने आदिपुरुष को जीवन मरण के कष्टों से मुक्त करने के लिए उनके जन्म को अलौकिक बना दिया। उनको याद था कि ब्रह्मा भी कमल से उत्पन्न हुए थे, अतएव कबीर के जन्म को भी कमल से जोड़ने में उन्हें किसी कठिनाई का सामना न करना पड़ा।'

पत्नी से सबधित किंवदन्तियों में अधिक प्रचलित 'लोई' वाली है। कहते हैं कि लोई एक वनखड़ी बैरागी की परिपालिता कन्या थी। यह लोई उम बैरागी को स्नान करने समय लोई में लपेटी और टोकरी में रखी हुई तथा गंगाजी में बहती हुई मिली थी। लोई में लपेटी हुई मिलने के कारण ही उसका नाम लोई पड़ा था। वनखण्डी बैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उसकी कुटिया में गये। वहाँ अन्य सन्तो के साथ उन्हें भी दूध पीने को दे दिया गया। औरों ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा कि 'गंगा पार से एक साधु आ रहे हैं, उन्हीं के लिए रख छोड़ा है।' थोड़ी देर में सचमुच एक साधु आ पहुँचे जिनसे अन्य साधु कबीर की 'सिद्धई' पर आश्चर्य करने लगे। उसी दिन से लोई उनके साथ हो गी।

उनके पुत्र और पुत्री—कमाल और कमाली—ने सबधित एक किंवदन्ती है। कुछ लोगों का मत है कि कमाल और कमाली कबीर के अग्रिम पुत्र-पुत्री थे। कबीर-प्राथमिकों का कहना है कि वे दोनों कबीर की सन्तान नहीं थे, वे किसी अन्य गृहस्थ के पुत्र-पुत्री थे। संयोगवश दोनों की मृत्यु हो गई और वे एक स्थान पर डाल दिये गये। कबीर ने अपनी अलौकिक शक्ति से उन दोनों को पुनर्जीवित कर दिया और तभी से वे उनकी सन्तान कहलाने लगे। इस सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक मामूरी उपलब्ध नहीं है।

कबीर के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती रामानन्द विषयक है। कहते हैं कि 'रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य बनाने से मना कर दिया क्योंकि उनका पोषण एक बुलाहा परिवार में हुआ था, किन्तु कबीर में अच्छी लगन थी। उन्होंने एक युक्ति सोची। एक दिन ब्रह्म मुहूर्त में ही वे पवन-गंगा घाट की उन सीढ़ियों पर जाकर लेट गये जिन पर से रामानन्द जी गंगा-स्नान करने जाया करते थे। नित्य की भाँति स्वामी जी सीढ़ियों पर से उतर रहे थे कि कबीर के सिर पर उनके पैर की ठोकर लगी। स्वामी जी ने राम-गम कह कर अपना पैर हटा लिया और चले गये। कबीर ने अभी 'राम-राम' को गुरु मान लिया और स्वामी जी को अपना गुरु घोषित कर दिया। स्वामी जी ने जब कबीर से पूछा तो उन्होंने घाटवाली घटना निश्चल होकर मुना दी। रामानन्द जी ने गद्गद होकर कबीर को कूट से लगा लिया।'

इसमें तो सन्देह की कोई वान ही नहीं कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे, और हो सकता है कि इस किंवदन्ती में भी कोई सत्य हो। कबीर-पक्षी तो इसे सत्य मानते ही हैं।

कबीर की उदारता से सबधित भी अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कहते हैं कि 'एक बार वे एक थान बुनकर उसे बाजार में बचने गये। कुछ ही दूर जाने पर एक आदमी ने गिडगिडाकर उनमें वृद्ध माँगा। उन्होंने तुरन्त आधा थान फाड़कर उसको दे दिया किन्तु उसका यह कहने पर कि यह तो कम है', कबीर ने बचा हुआ आधा थान भी उसे दे दिया।'

कबीर की सत्यनिष्ठा का सम्बन्ध में भी कुछ किंवदन्तियाँ चली आ रही हैं। एक बार की बात है कि कबीर का यहाँ बहुत से साधु आ गये। उनके स्वागत के लिए घर पर कुछ भी न था। वे बड़े व्यग्र थे। वे उनके भोजनादि का प्रबन्ध कहाँ से कर, यह उनके सामने एक समस्या थी। लोई ने उन्हें दुखी देखकर साहूकार का पास जाने की आज्ञा मागते हुए कहा कि साहूकार मुझ पर आभक्त होने का कारण मेरी बात नहीं टाल सकता। मैं शीघ्र ही उससे रुपये ला सकती हूँ। कबीर से आज्ञा मिलान पर लोई रुपये लेने चली गई। साहूकार के बैठे से, शाम को आने का बचन देकर वह रुपये लेकर लौट आई। यहाँ उसने कबीर को सारा समाचार कह दिया। शाम होने ही आकाश गरजती हुई काली घटाओं से घिर गया और मूसलाधार पानी बरसने लगा, किन्तु कबीर ने अपना बचन न जाने देने का निमित्त कम्बल उठाकर लोई को उसी समय साहूकार के घर पहुँचा दिया। साहूकार ने जब लोई को भोग न दखा तो पूछा— 'पानी से बचकर कैसे आई?' लोई ने सब बात बता दी जिसे सुन ही साहूकार का मद गलित हो गया। वह कबीर के पैरों पर गिर कर गिडगिदाने लगा।'

कबीर और सिकन्दर लादी से सबधित भी एक किंवदन्ती है। कहा जाता है कि काजी ने कबीर को काफिर धारित कर दिया और मृत्यु दण्ड की आज्ञा दे दी। बेडियो से जकड़े हुए कबीर नदी में फेंक दिये गये, किन्तु जिन कबीर को मोह-माया की शृंखला न बाध सकती थी जिनकी पाप की बेटियाँ बट चुकी थीं उन्हें ये जलीर बाध न रख सकी और वे तैरते हुए नदी-तट पर आ खड़े हुए। फिर काजी ने उन्हें दहकत हुए अग्नि कुण्ड में डलवाया, किन्तु उनके प्रभाव से आग बुझ गई और कबीर की दिव्य देह पर आंच तक न आई। इसके बाद उनका मस्त हाथी के सामने छोड़ा गया, किन्तु पास पहुँचकर हाथी उन्हें नमस्कार करके चिंघाड़ता हुआ भाग खड़ा हुआ।'

कबीर की मृत्यु के अवसर पर शव को जलाने और दफनाने के प्रश्न को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में विग्रह खड़ा हो गया। एक पक्ष के नेता रीवा के

वीरमिह देव बघेला और दूसरे के नवाब बिजली खाँ थे। इसी समय घाकाश-वाणी हुई बताई जाती है। जब कबीर के शव पर से चादर उठाई गई तो शव के स्थान पर कुछ फूल पड़े मिले जिनको हिन्दू-मुसलमान दोनों ने आधा-आधा बाँट लिया। अपने हिस्से के फूलों को हिंदुओं ने जलाया और उनकी राख को काशी ले जाकर समाधिस्थ किया। वह स्थान अब तक कबीर-चौरा के नाम से प्रसिद्ध है। अपने हिस्से के फूलों के ऊपर मुसलमानों ने मगहर ही में कब्र बनाई।

इन किवदन्तियों में से कुछ तो सत्यता को लिए हुए हैं, किन्तु कुछ भावना और कल्पना के आधार पर निर्मित हैं। किवदन्तियाँ का कोई ऐतिहासिक मूल्य चाहे न भी हो किन्तु भावना के इन रंगों में कबीर के चरित्र के कुछ पहलू अवश्य सुरक्षित हैं। भावना के दूसरे पक्ष में कबीर के अनुयायियों के गुण विप्यक आदर्श का अवलोकन भी किया जा सकता है।

जो काम आज फोटोग्राफी से लिया जाता है, प्राचीन काल में वही चित्रकला और मूर्तिकला से लिया जाता था। भारतीय कलाओं में इन दोनों का प्रमुख स्थान था। चित्र और मूर्ति द्वारा किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का न केवल कायिक रूप ही हमारे सामने आ जाता है वरन् कलाकार के चित्र कौशल से उसकी मुद्राएँ तक हमारे सामने आ जाती हैं। बुद्ध और महावीर की मूर्तियाँ उनकी शान्तिमयी मुद्रा को हमारे लोचनों में बसा देती हैं। भारत में ऐसी मूर्तियों की सुरक्षा धर्म ने की है। मूर्तियों के जो अवशेष आज तक मिल रहे हैं उनका एकमात्र कारण मंदिर या विहार रहे हैं। कबीर के सम्बन्ध में ऐसी कोई मूर्तियाँ नहीं मिलती हैं। कबीर मूर्ति पूजा के विरोधी थे। उनके धर्म में मूर्ति को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसीलिए कबीर पथी मठों में कबीर की मूर्ति दिखाई नहीं देती है।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के रूप को सुरक्षित रखने के लिए दूसरा साधन चित्र थे जो प्रायः दीवारों या शिलाओं पर चित्रित किये जाते थे। चित्रकला का भूतन विश्वास चाण्ड मध्यकाल में हुआ है। कबीर का कोई प्राचीन चित्र तो मिलता नहीं है। उनके जो चित्र मिले हैं वे उत्तरमध्यकालीन प्रतीत होते हैं। कबीर प्रयागवासी थे कबीर के दो चित्र मिलते हैं—एक युवावस्था का और दूसरा वृद्धावस्था का। पहला चित्र कलकत्ता म्यूजियम में प्राप्त हुआ है और दूसरा कबीरपथी स्वामी युगलानन्द जी से मिला है। डा. रामसुन्दरदास का मत है कि 'दोनों चित्र एक ही व्यक्ति के नहीं मालूम पड़ते। दोनों की आकृतियों में बड़ा अन्तर है। यदि दोनों नहीं तो इनमें से कोई एक अवश्य

अप्रामाणिक होगा। दोनों भी अप्रामाणिक हो सकते हैं, किन्तु सत युगलानन्द जी वृद्धावस्था वाले चित्र के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रामाणिकता का दावा करते हैं, जो ४६ वर्ष से अधिक अवस्था वाले व्यक्ति का ही हो सकता है।^१ प्रसंगवश इन चित्र के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह प्रवचन ही अन्य चित्रों से अधिक प्रामाणिक है। कबीर के दो चित्र जो कबीर-प्रथावली और 'की' महोदय की पुस्तक 'कबीर एण्ट हिज फालोवर्स' में दिये गये हैं, परस्पर बहुत कुछ मिलते हैं। प्रथावली के चित्र का समय अज्ञान है, किन्तु 'की' के चित्र का समय १८वीं शताब्दी है। इसमें सन्देह नहीं कि ये चित्र काल्पनिक हैं। कबीर के गले एव हाथ में कण्ठी और माला के अतिरिक्त कबीर की 'भीनी-भीनी' चदरिया भी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस चित्र का आधार प्रचलित प्रभाव है, इतिहास या सत्य नहीं।^२

स्वामी युगलानन्द जी का दिया हुआ चित्र बड़ा शानदार है जिसमें किसी सूफ़ी की वेश-भूषा प्रदर्शित की गई है। इसमें हिन्दू-भक्त प्रकट नहीं हुआ। इसी कारण इस चित्र में कुछ तथ्य निहित प्रतीत होता है, कोरी कल्पना की सजावट दिखाई नहीं पड़ती। युगलानन्द जी ने इस चित्र को कबीर के सम्बन्ध से सुरक्षित रखा है। इसमें किसी हिन्दू भक्त की भावना की उमिन्नता दिखाई नहीं पड़ती।, प्रायः देखा जाता है कि कबीरपयी महत् लोग अब भी विशेष अवसर पर वंसी ही टोपी लगाते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि कबीर 'सूफ़ियाना' वेश-भूषा को पसंद करते थे और विशेष अवसरों पर बंप्यण होने पर भी इसी में दिखाई देते थे। श्री चन्द्रवली पाडेय का कथन है कि 'यह पोशाक उनकी रक्षा में कवच का काम करती थी, नहीं तो कट्टर काजी उनको जीवित नहीं छोड़ते और सिकंदर के कोप ने उनको कभी का चर्महीन कर दिया होता।

जो हो, किन्हीं प्रौढ प्रमाणों के प्रभाव में यह कहना अनुचित नहीं कि कबीर ने किसी विशेष वेश-भूषा को नहीं अपना रखा था। जिस प्रकार वे काशी और मगहर को एक-सा समझते थे, उसी प्रकार वे वेश-भूषा को भी महत्व नहीं देते थे। अतएव उक्त चित्रों के आधार पर, यदि वे प्रामाणिक हों तो भी, कबीर के रूप और वेश-भूषा का निर्णय करना कठिन है। जो चित्र हमारे सामने आते हैं वे कबीर-पथियों की भावना के प्रसून हैं। इनका महत्व केवल उनकी श्रद्धा तक ही सीमित लगता है।

^१ कबीर प्रथावली, पृष्ठ २१

^२ कबीर का जीवन-वृत्त—श्री चन्द्रवली पाडेय

कबीर की उक्तियों से यह प्रकट होता है कि उन्होंने आत्मसाक्षात्कार कर लिया था। इस सिद्धि का आधार उनका आस्तिक्य-भाव था। उनका विश्वास था कि परमात्मा जीवमात्र के अन्तर में निवास करता आत्म-साक्षात्कार है। उसको केवल वे ही देख सकते हैं जिनका अन्तर निर्मल है, मन पावन है—

“जो दर्शन देखा चाहिए, तो बर्षण मात्र रहिए।”

यह उचित उपदेशमात्र नहीं है, इसमें अनुभव का सार है। आत्मा का साक्षात्कार होने पर ही वे यह कह सके हैं—

“प्रगटी जोनि कपाट खोलि दिये, बगधे जम दुख द्वारा।

प्रगटे विश्वनाथ जगजीवन, मे पायो करत विचारा ॥”^१

यह सब कुछ कहने पर भी प्रमाण की आवश्यकता होती है कि कबीर को अनुभव हो गया था। त्रिम समय मन ‘उनमन’ होकर दून्य में लीन हो गया द्विविधा और दुर्मति का बहिष्कार हो गया और ‘राम-नाम’ में ‘लौ’ लग गई, तब कबीर को आत्मा का साक्षात्कार हुआ। कबीर का अनुभव उन्हीं के शब्दों में प्रमाणित होता है—

“उनमन मनुवा मुनि समाना, दुविधा दुर्मति भागो।

कहु कबीर अनुभी इकु देल्या, राम-नाम लिब लागी ॥”^२

यही ‘आत्म परिचय’ की दशा है। उम ‘परिचित’ का परिचय देना दुष्कर है क्योंकि वह वाणी से परे है। इसी दशा में कबीर के मुख में निकल पड़ता है—

“कथो न जाइ निघरं अरु दूरी,

सकल अतीत रह्या घट पूरी।

जहाँ देखीं तहाँ राम समाना,

तुम्ह बिन और और नहीं आना ॥”

कबीर मुग्ध एवं विस्मित होकर मूक हो जाते हैं। उनके सामने रहस्य तो स्पष्ट हो जाता है, किन्तु वह कहने में नहीं आता। वाणी उनकी सहायता नहीं देती। वस इतना भर कह सकते हैं—

^१ कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १७६

^२ कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ २६१

'नियर थें दूरि दूरि थें नियरा,
राम चरित न जानियै जियरा ॥''

आत्मसाक्षात्कार की दशा में कबीर उमत्त हो खाने है । जो मन इधर-उधर लिए फिरता है वह मर जाता है । सर्वत्र आत्मतत्त्व ही आत्मतत्त्व का प्रसार लगता है । इस दशा में कबीर कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं जो तत्त्वतः सत्य हैं किन्तु कुछ लोग को गर्वोक्तियां दीख पटती हैं । देखिये —

“कबीर मन धृतक भया, दुरबल भया सरोर ।
तब पंडे लागे हरि फिरं, कहत कबीर-कबीर ॥”

यह ठीक है कि कबीर ऐसी उक्तिओं में अपने को सिद्ध-सा व्यक्त करते हैं, किन्तु इसमें गर्वोक्ति की बात भी क्या है ? वे सिद्ध तो थे ही और यदि उन्होंने 'सिद्धता' की बात कह दी तो मिथ्या नहीं है सत्याभिव्यक्तिमात्र है ।

कबीर के उपदेश अनुभूति में पगे होने थे । अपने अनुभव को दूसरों तक उपदेश पहुँचाना कबीर ने अपना कतव्य समझ रखा था । इसीलिए उन्होंने कहा भी है —

“हरिजी यहै विचारिया, सापो कहौ कबीर ।
भौ सागर में जीव हैं, ज कोइ पकडें तीर ॥”^१

इतना ही नहीं उन्हें 'दयालु' की आज्ञा हुई थी कि वे लोक को उपदेश दें । अतएव उपदेश देते हुए वे परमात्मा की आज्ञा का पालन करते थे । अन्त में जब उन्होंने देखा कि लोग उनसे उपदेशों से भी अपने मार्ग को नहीं बदलते तो उन्होंने स्पष्टतः यह दिया —

“मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि, काहू कूँ समझाइ ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हारयो, अब मोहि बोस न लाइ ॥”^२

वे अपने उपदेशों को बिखरना या किसी पर लादना नहीं चाहते थे किन्तु वे इतना चाहते थे कि उनके उपदेश पात्र तक अवश्य पहुँच जायें और वे यह जानते थे कि जो पात्र होगा उसे एक तृपा, एक पिपासा अवश्य होगी और वह अवश्य ही जल की खाज में निकलेगा । इसीलिए वे अपने उपदेशकों को ना देते हैं —

^१ कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५६

^२ कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ६६

“नीर पिलावत क्या फिरं, सापर घर-घर धारि ।
जो छिपावत होइगा, सो पीवेया भूक मारि ॥”^१

कर्तव्य और पात्रता के तटों के बीच में कबीर के निर्लिप्त आचरण की धारा प्रवाहित थी । वे उदासीन रहकर भी उपदेश देने में मग्न रहते थे । उनके उपदेशों का कुछ प्रभाव पड़ता था । जहाँ कबीर का पदार्पण होता था वही मानो धैर्य प्रा पहुँचता था —

“दास बलीना सब दुगो, सुखी न देखों कोइ ।
जहाँ कबीरा पग धरं, तहाँ टुक धीरज होइ ॥”^२

इसी वैश्व को कबीर अपने उपदेश की उपादेयता सम्झने थे, यही उसकी मार्मिकता थी । “कबीर प्रेम-रस का पीवग बला रहे थे । पीनेवालों की कमी थी । इसी चिन्ता में वे घुमे जाते थे । उनकी समझ में नहीं आता था कि वे किस प्रकार जनता को उसका आस्वादन कराएँ ॥”^३

“दास कबीर प्रेम-रस पाया, पीवणहार न पाऊँ ।
विधना बचन पिछारात नाहीं, कहू क्या काडि दिखाऊँ ॥”^४

इसमें मन्देह नहीं कि कबीर का उपदेश बड़े मूल्यवान् थे । वे लोक को बन्धन से मुक्त कराने के लिए उल्लुक् थे । भव सागर को पार करने के लिए ‘राम नाम’ से अच्छी और कोई नौका नहीं है । इसीलिए वे बूबने हुए आतं लोकजनों से कहते हैं —

“भौ बूडत कछु उपाय करीजं, जू तिरि लखे तीरा ।
राम-नाम लिखि भेरा बाधो, कहै उपदेश कबीरा ॥”^५

लोक के आतंनाश में कबीर को एक परिचित कल्याण स्वर सुनाई पड़ता था । वे भी भव-पीडा से पीडित हो चुके थे । उन्हें अपने मार्ग में जो अमूल्य रत्न प्राप्त हुआ था उसे वे छिपाना नहीं चाहते थे । छिपाते तो तब न जबकि

^१ कबीर-ग्रथावली पृष्ठ ६१

^२ कबीर-ग्रथावली पृष्ठ ८०

^३ कबीर का जीवनवृत्त—चन्द्रवली पाठ्य

^४ कबीर-ग्रथावली, पृष्ठ १४४

^५ कबीर-ग्रथावली, पृष्ठ १७३

वह छिप सकता और वे छिपा सकते । उसे पाकर वे मानो उन्मत्त हो गये थे । वे उसे सबको गा गा कर दिवाने लगे । दूमरो का तरसाने के लिए नहीं, बल्कि भटकनेवालों का उस 'हीरा' का मम ममभाव उमकी प्राप्ति की ओर प्रेरित करने के लिए । जैसे वे दूमरा का प्रेरित कर रहे थे वैसे ही उन्हें भी अपने गुरु से प्रेरणा मिली थी । इसी को वे स्पष्टन कहते हैं —

“गुरु दीनी वस्तु कबीर की, लेचहु वस्तु सम्हारि ।
कबीर बड़े ससार कौं, जिमु लीनी मस्तक भाग ॥”^१

जिस रस का भेद कबीर को ज्ञात हो गया था उस वे सबको बता रहे थे । वह रस कितना मधुर था कितना मादक था ! उसे पाकर और पीकर उन्हें दुनिया की किसी वस्तु की कामना नहीं रह गई थी । वह रस था राम का नाम । वे दूमरो का मिहर कर ममभाते हैं —

‘दास कबीर कहे समभावे, हरि कौ कथा जोवे रे ।
राम कौ नाव अधिक रस मोठी बारबार पोवे रे ॥’^२

कबीर का राम सत्त्वस्वरूप है । ब्रह्मा और शङ्कर में वे गुण कहाँ हैं जो राम में है ? तमगुण का नाम ही शङ्कर है और रजोगुण ब्रह्मा है । राम की ज्योति सत्त्वस्वरूपाणी है जो निर्विकार एवं उज्ज्वल है । अपने राम का परिचय दत्त हुए कबीर कहते हैं —

“रजगुन ब्रह्मा, तमगुन सबर सतगुन हरि है सोई ।
कहै कबार एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई ॥”^३

दूसरी पंक्ति में यह भी स्पष्ट है कि कबीर के राम दश, काल एवं जाति की परिधि से विमुक्त है । उनमें जिस प्रकार हिन्दुओं द्वारा जपे जाने की योग्यता है उसी प्रकार तुर्कों द्वारा भी । इसी में एकता की समरथा का हल है और इसी में राम-रहोम के अभेद का रहस्य निहित है ।

^१ कबीर-ग्रन्थ, कृती पृष्ठ ३२५

^२ कबीर-प्रवाहली पृष्ठ १६३

^३ कबीर प्रवाहली, पृष्ठ १०६

कबीर बड़े सरल और शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे, किन्तु उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। उन्होंने धर्म और समाज के गहनातिगहन तल में प्रवेश करके जो कुछ देखा था उसीसे उन्होंने एक नये समाज और नये धर्म स्वभाव की कल्पना की थी। वे बचपनजीवी थे और अपने श्रम से ही अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। उगी श्रममय जीवन में वे अविकास समय के साधु-मेवा और सत्संग में बिताते थे। उनकी अतिथि-सेवा साधु-समाज में इतनी मोहक बन गई थी कि उनके घर पर साधुओं की भीड़ लगी रहती थी।

उनमें भावुकता और बौद्धिकता का प्रदुभुत सम्मिश्रण हुआ था। दया के तो मानो वे सागर ही थे। उनकी दयार्द्रता के कारण ही उनके सम्बन्ध में अनेक दंतकथाएँ बन गई हैं जिनमें कुछ तथ्य अवश्य रहा होगा। वे 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त के समर्थक थे। समता उनका नारा था। वे हिंसा के विरोधी थे और भूठ से ऊँचे घृणा थी। यह कहना अयुक्त न होगा कि सत्य और अहिंसा उनके आयुष्य थे। काँटे धोने वाले के लिए भी वे फूल बोन-का उपदेश देते थे।

उनकी अहिंसा में विनीतता का प्रमुख स्थान था। इसीलिए उन्होंने 'बाट का रोटा' बने रहने का उपदेश दिया है। कुछ लोग उनको गर्वोन्नत कहते हैं। वास्तव में वे गर्वोन्नत थे नहीं। उनकी जिन उक्तियों में गर्व की गंध आती है वे अध्यात्म-सम्बन्धी हैं। उनमें तथ्य की चोट है, सत्य का प्रकाश है, दिखावट या बनावट का काम नहीं है। वे उस अवस्था की उक्तियाँ हैं जिनमें अस्मिता गल जाती है और अहंकार काफूर हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो वे यह क्यों कहते —

“तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ ॥”

धर्म के घाडम्बरो के प्रति कबीर की कोई सहानुभूति नहीं थी, किन्तु किसी धर्म की अच्छाई को वे भुला नहीं सकते थे। यही कारण है कि कबीर का पथ सारप्राहिता से प्रशस्त है। कबीर का लोकाचार दम और पाखंड से मुक्त था। वे जो कुछ कहते थे, करते भी थे। इसीलिए उन्होंने करनी और कपनी नो-र जोर र

कबीर को जीवमान प्रिय था। प्रत्येक मानव उनका बंधु था। दुखी के प्रति उनकी महानुभूति थी और सुखी के प्रति व प्रसन्न दीख पड़ते थे किन्तु दुख से घबराने वाला और सुख में इतराने वाला को व धुड़िमान नहीं मानते थे। उनकी यह भावना थी कि प्रायः लोग सुख के मद से चूर होकर आस्तिक्य भाव को खो बैठते हैं और दुख में व परम आस्तिक बन जाते हैं। यदि व सुख में आस्तिक बने रहें तो दुख की नींवत ही क्यों आए ?

दुख में सुमिरन सब कर सुख में करूं न कोइ ।
सुख में ज सुमिरन कर तो कुछ काहे को होइ ॥”

लोक के प्रति व विनीत और विनयगोल दीख पड़ते हैं किन्तु दीन नहीं। अपनी दीनता का प्रदर्शन व एकमात्र प्रभु के सामने करते हैं और वहां व उसकी महत्ता के समने सिर झुकाकर कह उठते हैं —

‘मेरा मुझ को कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझ को सौंपते क्या लागत है मेरा ॥’

यही कबीर का भावुक रूप है इसी में उनके आत्मसमर्पण की भावना निहित है। यहाँ कबीर का भवत प्रमुख है।

कबीर को मिथ्या चमक-दमक प्रिय नहीं थी और न वश भूषा के प्रति ही उनका मोह था। जो मिल गया सो पहन लिया के सिद्धांत में उनकी पूर्ण आस्था थी। व परम आस्तिक होने के कारण ही सत्यनिष्ठ एवं भक्तिदृढ़ थे। प्रेम की पीर ने उनके हृदय में अपना घर बना लिया था किन्तु उन पर इस पागलपन में मजदू बनने का जुनून सवार न हो सका।

कबीर में सीखने की लगन थी सीखने के लिए ही व इधर उधर घूमे फिरे। इसी लगन में उनका तथ्यावधारण निहित था। उनको ज्ञान की पिपासा थी। पंडितों से उनको किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती थी किन्तु उन्होंने उनके शास्त्राध्य से लाभ अवश्य उठाया। गोरखनाथ के जगयाये हुए योग से भी उन्हें बहुत कुछ मिला। सूफियों की शराब से उनका महारस कुछ घटिया नहीं था। कबीर ने उनका भी मनमाना आस्वादन किया।

सब ओर घूमते हुये भी कबीर ने समाज को नहीं भुलाया था। कबीर

खग की भाँति विहार करते थे। स्वर्ग और नर्क की कल्पना, कबीर की दृष्टि में, केवल मानमी कल्पना थी, किन्तु पाप और पुण्य, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के मन और कर्म दोनों से है, उनकी दृष्टि में बड़े कठोर बन्धन थे जिनसे केवल विवेकी पुरुष ही मुक्त होते हैं।

कबीर अनित्य को नित्य नहीं मानते थे। जो लोग अनित्य को नित्य मान बैठते हैं वे भ्रान्त हैं। जो नित्य है उसका विनाश नहीं होता और जो उत्पन्न और नष्ट होता है वह नित्य नहीं है। अतएव यह कहना अनुचित नहीं है कि कबीर के अपने सिद्धान्त थे जिन पर वे ग्राम्भ थे।

कबीर का जन्म काशी में (या उसके आस पास) संवत् १४५५ में एक जुलाहा परिवार में हुआ था जिस पर नाथ-पथ का प्रभूत प्रभाव था। जुलाहा जाति को हिन्दू तो हैय समझने ही थे, किन्तु मुसलमान भी आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के परिवार का तत्कालीन समाज में कोई आदर नहीं था। कबीर के पिता का नाम नीरू और माता का नीमा था।

जीवन-विषयक निष्कर्ष

उस समय शिक्षा का जो वातावरण था वह कबीर की स्थिति के अनुकूल नहीं था। उस समय कबीर के जैसे परिवारों में शिक्षा का प्रवलन नहीं था। कबीर जैसे बालक अपनी जीविका के उपायों में (कुछ तो प्रथा-व्यस्य और कुछ स्थिति-व्यस्य) सलग्न हो जाते थे। कबीर अपनी पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के बीच में पुस्तक-अध्ययन से वंचित ही रह गये, किन्तु, जैसा कि आगे विवेचन किया जाएगा, प्रतिभूल परिस्थितियों में ही उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ। यद्यपि पुस्तक-ज्ञान की दृष्टि में वे अपट थे, परन्तु परिस्थितियों ने उन्हें जीवन के गम्भीर एवं विद्यालय अध्ययन के लिए उत्कट प्रेरणा दी थी। कबीर के व्यक्तित्व में जो फौलादी शक्ति दिखाई पड़ती है वह निसन्देह परिस्थितियों का परिणाम है।

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उनका कोई विद्या-गुरु भी नहीं था किन्तु उन्होंने रामानन्द को अपना आध्यात्मिक गुरु मान लिया था। कबीर का गुरु कभी कभी परमात्मा या राम में भी दीख पड़ता है जिनको वे 'मतगुरु' भी कहते हैं। गुरु या 'सनगुरु' के प्रति कबीर के अन्तर में बड़ा सम्मान है।

कबीर की दो पत्नियों थी, एक लोई और दूसरी धनिया। दूसरी राम-जनी या रमजनिया नाम से भी प्रसिद्ध थी। लोई की प्रकृति कबीर के अनुकूल नहीं थी किन्तु दूसरी कबीर की भक्ति को महयोग देनेवाली थी, इसीलिए वह उनकी स्नेह-भाजन थी। लोई कबीर की साधु-संगति से बहुत खिन्न थी। इससे खिन्न तो कबीर की मा भी थी, परन्तु लोई इससे व्यथित थी। पति के इन प्रकार के आचरण या जीवन से अधिकतर स्त्रियाँ को खेद होता है, किन्तु कौटुम्बिक भावव्यक्तार्थ व्याहृत होने के कारण लोई इसको विशेष अभिशाप समझती थी।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि कबीर का पुत्र कमाल और पुत्री कमाली थी। डा मोहनसिंह ने 'कबीर—हिज बाइग्राफी मे दो पुत्र (कमाल और निहान) तथा दो पुत्री (कमाली और निहानी) का उल्लेख किया है। कहीं कहीं निहान और निहानी के स्थान पर जमाल और जमाली नाम भी मिलते हैं। डा त्रिगुणायन ने भी ऐसा मकेल किया है कि कबीर के कई बच्चे थे। कबीर की संतान की संख्या को अन्त मध्य पर न छाड़कर यह कहा जा सकता है कि वे वाचस्पदार गृहस्थ थे।

कबीर गृहस्थ नाथु थे। उनका परिवार भी कुछ छोटा नहीं था। अतिथियों के कारण वह और भी विशाल बना रहता था। प्रायः वैष्णव भक्त और अन्त जन ही कबीर के प्रतिथि होते थे। उनका पाकर व अपने को धर्म समझते थे। वे स व-मेवा मे इतने रत रहते थे कि वे अपने सम्बन्धिया और विधायक अपनी माता और स्त्री लोई के भी अप्रिय हो गये थे।

मत्स्य से कबीर को बहुत बड़ा लाभ हुआ और वह था ज्ञान लाभ। यथा को पढ़कर सायद उनको इतना ज्ञान न हो पाता जितना उन्हें सुनने से हुआ था। उनका ज्ञान वेदके सुनने तक ही सीमित नहीं था, अपितु भवन से उनमें तज आ गया था। उनका फौलादी व्यक्तित्व उसी मनन का परिणाम था। उनका व्यक्तित्व ज्ञान, कम और उपासना तीनों से समन्वित था। उसमें एक ही साथ सरलता समरसता और विनिचला का दर्शन हुआ था।

उन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की थी। यात्रा का मध्य तीर्थार्थन नहीं था। वे अनेक स्थानों में साधुओं से मिलने ज्ञान-विपामा का तृप्त करने प्रयत्न करने मत का प्रचार करने के लिए घूमते थे। वे भूँनी मगहर, जौनपुर, मानि कपुर, गागरोनगढ़, गुजरात मधुरा आदि स्थानों में गये थे।

उनके अनेक शिष्य थे जिनमें हिन्दू और मुसलमान, दोनों वर्ग सम्मिलित थे। उनमें विजलीखान, धर्मदास, धीरमिह बघेला, सुरतगोनल, जीवा, तत्वा, जागूदास आदि अधिक प्रसिद्ध थे। कबीर के पश्चात् उनके पथ की अनेक शाखाएँ हो गई थी, जिनका जन्म उनके शिष्यों की प्रसिद्धि के कारण हुआ था।

कबीर का पथ सत्य पर आधारित था जो उनके अनुभव से अभिन्न था। उनकी ग्रहिणा भी भावनामात्र नहीं थी। उसमें भी सत्य का बल था, अनुभव की घरा थी। दभ और पागड ने उनको घृणा थी क्योंकि उनका आधार मिथ्या है जो खोखली है और जिसमें प्रदर्शनमात्र है। 'कहना और, करना और' का सिद्धान्त उन्हें तनिक भी प्रिय नहीं था। वे तो 'करनी और कथनी' में एक तादात्म्य चाहते थे। वे सत्यप्रिय होने के नग्ले स्पष्टतावादी थे, किन्तु इस अवयव में अनेक आलोचकों को भ्रम हो गया है जो उनके हृदय की शुष्कता एवं कठोरता से लाघित करते हैं।

उन्होंने न तो धार्मिक पक्षपात सीखा था और न खुशामद। उनमें पक्षपात इसलिए नहीं था कि सत्य को वे सदैव सत्य ही समझते थे। असत्य कभी सत्य नहीं हो सकता है, ऐसी उनकी धारणा थी। इसीलिए वे खुशामद और पक्षपात से मुक्त थे, इसीलिए भय उनमें दूर भागता था। मिकन्दर लोदी ने काजी के बहकाने में जो जो दातनाएँ कबीर को दी, वे भी उनको सत्य से विचलित न कर सकी। अन्त में मुक्ति ने सत्य का ही वरण किया।

कबीर मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। जिस परमात्मा का कोई आकार-प्रकार नहीं, जो देश-काल की भीमाओं में आवद्ध नहीं हो सकता, उसकी मूर्ति कौसी? यही कारण है कि उन्होंने स्थान-स्थान पर मूर्ति-पूजा के प्रति अपनी अरुचि दिखलाई है। जिसका आकार नहीं उसकी मूर्ति का आश्रय लेकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न विल्कुल वैसा ही है जैसा असत्य के सहारे सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न। असत्य से भ्रांति की वृद्धि हो सकती है, जिज्ञाना की तृप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए मूर्ति-पूजा पर उनका यह व्यंग्य है—

“लाडू लावर लापसी, पूजा चढे अपार।

पूजि पुजारा से चला, दे मूरति के मुख छार ॥”

कबीर किसी धर्म विशेष के अनुयायी नहीं थे, वे तो सारग्राही थे। इसी कारण कबीर का पथ चला। वे अवतारवाद के विरोधी थे, किन्तु आवागमन को मानते थे क्योंकि वे कर्म-परिपाक को भुला नहीं सकते थे। वे इस

सिद्धान्त से सहमत नहीं थे कि मरने के बाद भी प्राणी कब्र में पड़ा पड़ा क्या-मत तक सड़ा करता है। 'जनम अनेक भया अरु आया नया 'देखो कर्म कबीर का कछु पुरब जनम का लखा कह कर कबीर ने कमवाद और तत्सबन्धी पुनर्जन्मवाद का समर्थन किया है।

कबीर प्रेम के पथिक थे। प्रेम ने ही कबीर को ऊँच-नीच के भेद भाव का परित्याग कर सब की एकता प्रतिपादित करने की प्रेरणा दी थी। जाति और धर्म के भेद को भी प्रेम ने ही निःशून्य बाहर किया था। कबीर का वह प्रेम मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है परमात्मा की सृष्टि के सभी जीव-जन्तु उसकी परिधि में आ जाते हैं। वे 'सर्वजीव साईं के प्यारे के सिद्धान्त' के प्रतिपादक थे।

कबीर का प्रेम तत्त्व सूफिया के ससग का फल हात हुए भी उसमें उन्होंने भारतीयता का पुट दे दिया है। भूकी परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं। उनका मजबूत को भूलाह भी लंला नजर आता है किन्तु कबीर ने परमात्मा को प्रियतमा के रूप में ही देखा है। उनकी उक्ति 'राम भेरे डूल्हा में राम की बहुरिया राम का प्रियतमत्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। कबीर के प्रेम का यह रूप भारतीय माधुर्य भाव के सदृश अनुकूल है। प्रेम का जो स्रोत कबीर ने विरहिणी नायिका के हृदय में देखा है उसमें निःसन्देह भारतीय प्रेम का प्रवाह है। भारतीय प्रेम मार्ग के पथिक ने विरह-व्यथा का सदैव नारी हृदय में देखा है। कबीर ने भी यहाँ दृष्टिकोण अपनाया है जिसमें सूफियाना भावों में भी भारतीयता झूट-झूट कर भरी है।

कबीर अपने सिद्धान्तों के पक्के थे क्योंकि वे किसी की नकल नहीं थे। उनमें अनुभवसिद्ध सत्य था। सत्य मनुष्य के व्यवहार को निश्चित और दृढ़ बनाता है। निश्चय और दृढ़ता कबीर का व्रत था। उनके अनुभव में जो सिद्ध हुआ उसको उन्होंने वैसा ही कहा। यही उनका सत्यान्वेषण और सत्य-परिचय था। उन्होंने अपने अनुभव को आचरण में भी उतारा था। उनके समय में लोक का ऐसा भ्रम था कि काशी में मरने से स्वर्ग मिलता है और मगहर में मरने से नरक किन्तु कबीर की तत्त्व-दर्शिनी दृष्टि ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे अपने अन्तकाल में इसी कारण मगहर में चले गये थे। वही मगवत् १५७५ में उन्होंने नी देह का विमर्जन किया।

: ३ :

समकालीन वातावरण

कबीर का समय एक उथल-पुथल का समय था। उनके चारों ओर राजनीति, धर्म, समाज आदि का जो वातावरण बना हुआ था उसी में उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ। उस वातावरण के अनेक भोको में प्रताड़ित होकर कबीर की आँखें खुल गईं। उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा थी, केवल उसके सजग होने की देर थी। उद्बोधन का यह काम उनकी समकालीन परिस्थितियों ने किया। उन्होंने समाज को न केवल तत्कालीन राजनीति में ही घुटा हुआ देखा, अपितु धार्मिक रुढ़ियों और विकारों में भी दलित और गलित पाया।

कबीर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनकी प्रतिभा में अबाध गति और अदम्य प्रखरता थी। उन्होंने एक ओर तो सामयिक परिस्थितियों का निर्भीकता से सामना किया और दूसरी ओर समाज के त्राण की दिशा में उत्साहपूर्वक अपना कदम बढ़ाया। जिस समय असह्य लोग उस विकरालता में आँखें मीच कर कराह रहे थे उस समय कबीर मदय उत्साह और सहज मन्यु से उसके बहिष्कार में सलग्न हो गये। उस समय की सामाजिक परिस्थितियों की विकटता का दायित्व केवल धर्म पर ही नहीं था, बल्कि राजनीति पर भी था।

भारतीय प्रजा अभी तक तुगलक काल को नहीं भूली थी। तुगलक-वंश का अन्त होते-न होते दिल्ली-सल्तनत के टुकड़े होने लगे। राजनीतिक जौनपुर में एक नई शक्तिशाली बादशाहत की स्थापना हो गई जिसका विहार में भी अधिकार था, कन्तु उसकी स्वतन्त्रता अधिक दिन तक न रह सकी। मलिक-उस-शर्क (पूर्व का शासक) के उत्तराधिकारियों के समय में इस सल्तनत को बड़ा वैभव प्राप्त हो गया।

मालवा में एक खिलजी अमीर ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया

प्रथम शासक बता जिसने माण्डू को अपनी राजधानी बनाया किन्तु मालवा को वास्तविक महत्त्व का उपलब्ध मुल्तान महमूद के शासन काल से पूरा न हो सका।

गुजरात को अलाउद्दीन खिलजी ने सन् १२६७ में ही जीत लिया था। परतंत्रता की एक गताब्दी पचास जफरखा ने सन् १४०१ में औपचारिक रूप से शाह की पदवी ग्रहण करके अपनी स्वतंत्रता घोषित की। इसके पश्चात् गुजरात का बम्बई का प्रारम्भ हुआ और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक वह भारत का अग्रणी राज्यो में से एक महत्त्वपूर्ण राज्य रहा। अहमदशाह (१४११-१४४१ ई०) ने अहमदाबाद का नगर बसाया और उसे सुंदर इमारतों से विभूषित किया।

मलवा और गुजरात के मध्यवर्ती हिंदू राजा मालवा और गुजरात के मुल्तानों के बीच हान व ल युद्धों में पक्ष ल रहे थे। दोनों मुस्लिम शक्तियों के बीच में राजपूत राजाओं का राज्य फला हुआ था और आखू से रणधर्म तक के इस क्षेत्र में एक सैनिक मध्य प्रतिष्ठित था जिमका नेतृत्व मेवाड़ के मुहिलौठ वर्गीय राजा कर रहे थे। उनकी नीति यह थी कि दोनों मुल्तानों में एकता न होने पाए इसलिए गुजरात को निरन्तर मेवाड़ के राजा से लोहा लना पड़ रहा था। आखू की पहाड़ी पर निर्मित अचलगढ़ क दुर्ग ने मुस्लिम शक्ति को एक ओर से सीमाबद्ध कर लिया था।

उपर बवाल का सूबा फीरोज़ तुगलक के समय में ही स्वतंत्र हो चुका था किन्तु बवाल के स्वतंत्र शासन का वास्तविक बम्बई हुसैनशाह से प्रारम्भ हुआ जिसका दश अक्टूबर के समय (सन् १५७६) तक सत्ताह्व रहा।

भारतीय प्रजा अभी तक तुगलक काल को नहीं भूती थी। यदि मोहम्मद

देश और राजधानी तुगलक का प्रजा के लोग राजधानी-परिवहन फारस विजय कामना तात्र सिद्धो क प्रचार नृशस मानव

पर प्रभाव हिंसा आदि के कारण अभी तक नहीं भूने थे तो

फीरोज़शाह तुगलक को उसके सकीणहृदय और धर्मच होने के नाते अब तक बीसत थे। उसके समय में ब्राह्मणों पर जो पालटस लगाया गया था उसकी चर्चा मात्र से न केवल ब्राह्मण ही परी जाते थे अपितु हिंदूमात्र का हृदय ध्यावल हो उठता था। उसने कितने ही हिंदुओं को अतिधारा में निमग्न करा दिया था। उसके पश्चात् भी जो दायप्रिय

शासक गद्दी पर नहीं बैठा। उसके बाद जो सुल्तान सिंहासनारूढ हुए प्रायः वे सभी क्रूर एवं विलासी थे।

इसके बाद तैमूर का आक्रमण हुआ जो भारतीय इतिहास की एक भीषण घटना है। नृपस युद्ध और बंदर चूट मार में हिन्दुओं की अवशिष्ट प्रतिष्ठा भी परास्त हो गई। उनकी राजनीति घम से कितनी व्याकुल थी इसका परिचय उनके ही शब्दों में इस प्रकार मिलता है— भारत पर आक्रमण करने का मेरा लक्ष्य काफ़िरो को दण्ड देना बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का अन्त करके शाही और मुवाहिद बनना है।^१ अपने लक्ष्य की निद्रि में वह कितना सफल हुआ इसका अनुमान हम केवल इसमें लगा सकते हैं कि भारत से लौटते समय उसका एक एक सिपाही सौ-सौ स्त्री पुरुष और बच्चों को गुलाम बनाकर ले गया था।^२

बहने की आवश्यकता नहीं कि तैमूर का हमला हिन्दुओं ही के लिए नहीं देश के लिए भी एक कठोर वज्रपात था। उससे देश में दरिद्रता अशांति और निराशा का भयावह एवं कष्टकर दृश्य दिखाई पड़ने लगे। अनाचार और व्यभिचार की दुःदुभि बजने लगी और सबसे भयकर धक्का पहुँचा हिन्दू-जाति और हिन्दू धर्म को जिसमें उनकी काया काँप उठी। इतना ही नहीं तैमूर के आक्रमण में दिल्ली का गौरव भी गिर गया। जो नगर लगभग दो शतियों तक साम्राज्य के गौरव का केन्द्र रहा वही अब प्रांतीय राजधानी की दशा को प्राप्त हो गया।

देश की ऐसी दुःदशा के समय दिल्ली का शासन सूत्र लोदी वंश के हाथों में चला गया। बहलान लोदी ने एक बार पुनः देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया किन्तु देश के दुर्भाग्य से शासन सत्ता अधिक दिन तक उसके व्यक्तित्व का उपभोग न कर सकी। उसके पश्चात् शासन की बाग डोर मिर्चदर लोदी के हाथों में चली गई। उसका समय हिन्दुओं के लिए और भी भयानक निद्रि हुआ। इस काल में हिन्दुओं को गाजर मूली की भाँति काटकर फेंक दिया गया। उसका धार्मिक दुरत्साह इतना प्रबल था कि वह एक एक दिन में पन्द्रह

^१ एलियट एण्ड डारसन तीसरी पुस्तक पृष्ठ ३६७

^२ ईस्वरी १

सो हिन्दुओं को तलवार के घाट उतारने में भी नहीं हिचका।³ यदि उसने कबीर को भी मरवाने का प्रयत्न किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

मिकदर का भी अधिकांश समय त्रिदोहियों को दबाने में ही बीता। उसकी नीति में दिल्ली का रहा सहा गौरव भी क्षते विक्षत हो गया। अब के शहीद शासन इतना विभक्त हो गया था कि दिल्ली का साम्राज्य का अतीत गौरव प्राप्त न हो सका। जसा कि पहले कहा जा चुका है दिल्ली के गौरव का विभाजन बंगाल जौनपुर गुजरात और मालवा के बीच हो गया था।

कबीर के आविर्भाव का यह समय एक उथल-पुथल का समय था। अब राज्य विजय का प्रश्न नहीं रह गया था। अब तो प्रश्न था शासन को दृढ़ और प्रभावशाली बनाने का। देश के टुकड़े का सम्बन्ध दिल्ली से न रह जान के कारण उनमें शासकों की अपनी-अपनी नीति चल रही थी जिसका प्रजा में विक्षयता हिन्दुओं में गहन सम्बन्ध था। दिल्ली के हाथ में केवल स्थानीय शासन रह गया था जिसमें पंजाब का समृद्ध प्रान्त भी सम्मिलित था। उस समय इस्लाम का वास्तविक वैभव दिग्गभी में नहीं, बल्कि अहमदाबाद माहू जौनपुर और लखनौती में था। इस विभाजन और नीति-नीति का प्रभाव धर्म समाज, कला साहित्य आदि पर भी पड़े बिना न रह सका। कबीर बानी इनका एक मुखर प्रतिरूप प्रस्तुत करती है।

राजनीतिक प्रभाव का पर्यवेक्षण

यह ठीक है कि कबीर के उदय से पूर्व ही हिन्दू धर्म पर सकट के काले बादल छा रहे थे। इस्लाम काफ़िरो को जो कुछ द सकता था, हिन्दुओं को वह सब कुछ मिला। शासन की छत्र छाया में हिन्दू लोग मुसलमान बन रहे थे।

हिन्दुओं के बहुदेववाद और मूर्तिपूजन के प्रति इस्लाम की स्थायी घृणा थी और दोनों धर्मों में सम्बन्ध स्थापित होने की कोई आशा नहीं थी। उस समय तक जितने मुसलिम विजेता आए उ हान मंदिर की मूर्तियों का अपमान किया। हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता पर क्या-क्या आघात हो चुके थे इनका प्रमाण पौरुष नुयलक के काले कारनामों में है। कहा जाता है कि उसने एक बार एक

³ टिडस इण्डियन इस्लाम, पृष्ठ ११-२

ब्राह्मण को धुनआम हिंदू सत्कार करने पर जीवित ही जलवा^१ दिया था। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि सिकंदर लोदी की उपस्थिति में बोधन नाम के एक ब्राह्मण को अपने धर्म का उत्कृष्ट प्रकट करने पर मृत्यु दण्ड^२ दिया गया था।

इन सब घटनाओं से जो विस्मयजनक तथा उद्घाटित होता है वह है हिंदू धर्म की शक्ति। उस हिंदू के लिए जा इस्लाम धर्म स्वीकार कर देता था, सब द्वार खुल था। कोई पद या अधिकार ऐसा नहीं होता था जो उसको न मिल सकता था। खुरो (काठियावाड़ का एक भवणदाम) ने तो मुसलमान होकर बड़े समय के लिए दिल्ली का तख्त तक पा लिया था। छैंसो वर्ष तक शक्ति और समृद्धि का सरल पथ उपलब्ध होने पर भी उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की संख्या १४ प्रतिशत ही रही यह एक महत्वपूर्ण बात है। इससे स्पष्ट है कि हिंदू धर्म ने अपने ऊपर आए हुए सब आघातों का बड़े साहस से सामना किया। उधर तो धर्म परिवर्तन की परम्परा बनी रही और इधर हिंदू धर्म ने हड़ बनने के प्रयत्न किये। धर्म रक्षा की भावना ने नए मिद्धांतों और सम्प्रदायों को जन्म दिया। इस समय हिंदू धर्म में अनेक आंदोलन हुए। बप्पणव सम्प्रदायों ने उत्तर में और लिगायत धर्म ने कर्नाटक में जो विकास किया उससे हिंदू धर्म की बड़ी रक्षा हुई।

कहना न होगा कि उक्त धार्मिक आंदोलन केवल भक्ति पर आधारित थे कमकाण्डपरक नहीं थे। निस्म-देह भारतीय भक्ति का रूप बहुत प्राचीन है, किंतु उस समय उसको जो लोक प्रियता प्राप्त हुई उसका कारण दो हिंदुओं की निराशा जो तत्कालीन आघातों में उत्पन्न हुई थी। गीता में भक्तियोग का उपदेश दिया गया है और उसका अन्तिम सन्देश परमात्मा को अपना भवम्ब समर्पित कर देना है। गीता ने जीवन में प्रयत्नवाद की प्रतिष्ठा करते हुए फलशक्ति का अवमूलन अवश्य किया है किन्तु जपद्वय से लेकर चैतन्य (उसने भी पीछे) तक की राधा कृष्ण की भक्ति में इसकी कोई प्रतिध्वनि नहीं है।^३

इससे यह स्पष्ट है कि भक्ति क्षेत्र की यह नई उपज थी। मध्यकालीन भक्ति का उदय इस्लाम के आक्रमण के उत्तर के रूप में हुआ था। चाहे उनके

^१ स्मिथ स्टुडेण्ट्स हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ १२६

^२ ईश्वरी प्रसाद मेडिवल इण्डिया पृष्ठ ४८१-८२

^३ के एम पतिस्कर ए सर्वे प्राफ इण्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ १३१

देवों के कुछ भी नाम रहे हा किन्तु मभी मध्यकालीन भक्तों ने यह माना है कि एक परमात्मा हमारा उपास्य है और उमा के अनुग्रह से हमारी मुक्ति हो सकती है। अतएव सभी भक्ति धाराया म तरवरूप स अद्वैतवाद का प्रवाह है। भिन्न भिन्न नामा से प्रख्यात राम कृष्ण, शिव आदि एव ही अनन्त शक्ति के प्रतीक है। कबीर की वानियों म इस तथ्य का दशन स्पष्ट रूप से किया जा सकता है।

इस्लाम के बढते हुए प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप मे भारतीय भावना ने अपने को अनेक रूपों म व्यक्त किया था। अपनी भूमि पर इस्लाम को अपना सहचर समझ कर अनेक भारतीय धर्मों न उसक प्रति जिम सहिष्णुता का परिचय दिया था वह महज सांस्कृतिक थी। यद्यपि कुछ मूलमान शासका ने भी यहां के धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखलाई किन्तु वे अपने नैतिक दृष्टिकोण स इस्लाम की बढती हुई कट्टरता का नियंत्रण न कर सक। इस्लाम जैसे नए धर्म म इस प्रकार की कट्टरता स्वाभाविक थी किन्तु उस भारतीय हृदय भी उपजाऊ भूमि म रक्षात्मक भावना क अनेक बीज प्राकुरित हो उठ।

कर्नाटक म वीरशैव सम्प्रदाय का विकास भी इस युग का एक विशेषता थी। तामिलनाडु की भांति कर्नाटक म भी शैव मत की एक प्राचीन परम्परा थी। बारहवा सताब्दी मे इसक दो सिद्धांतों पर विशेष वीरशैव जोर दत हुए एक नए मत का आविर्भाव हुआ। उन सिद्धांतों सम्प्रदाय म म एक तो था केवल शिव की उपासना पर आधारित अद्वैतवाद और दूसरा था जाति पात का बहिष्कार जिमम ब्राह्मणों की प्रमुखता का भी उमूलन था। वीर शैव मत क अनुयायी बासव को अपने मत का जन्मदाता मानत ह। निस्सन्देह मध्यकालीन हिन्दू-सन्तों मे बासव का प्रमुख स्थान था।

वीरशैव मत उम समय नया दीनता हुआ भी अपने मूल रूप म प्राचीन था। कहना न हागा कि शैवमत बहुत प्राचीन धर्म है। उसका प्रचार कबीर क प्रादुर्भाव से पूर्व उत्तर भारत म भी था। शैव और वैष्णव शैवमत मनों मे एक दूसरे के सम्मक क कारण बहुत कुछ आदान प्रदान हो चुका था। साम्प्रदायिक उत्साह से मुक्त विष्णुभक्त शिव की आराधना बिनाकुल उसी प्रकार करत थ जिम प्रकार उदार शैव शिव के साथ साथ विष्णु और उनके अवतारों का भी समादर करते थ।

पूव मे शाक्त मत का जोर था किन्तु जिस प्रकार वैष्णव भक्तों में दुर्गा की उपासना प्रचलित थी उसी प्रकार शवों ने योग के माध्यम से कुण्डलिनी शक्ति की प्रतिष्ठा के साथ-साथ अथ प्रभाव भी परिलक्षित होने लगे शाक्तमत थे। आद्या शक्ति को देवी के रूप में स्वीकार करके भी शवा और वैष्णवों के मन में शाक्तों के प्रति घृणा भर गई थी। पंच मकारों में मत की घोरतम विकृति की अभिव्यक्ति ने शाक्त मत को मधत धर्मों से विदूर कर दिया था।

इन धर्मों में एक ओर तो अपरिलक्षित रूप से आदान प्रदान हो रहा था और दूसरी ओर साम् दायिक कट्टरता और कठोरता के कारण भाव सकीणता और कटुता का विकस हो रहा था। अतएव अन्त साम्प्रदायिक राग-द्वेष धार्मिक विकृतियों का परिणाम था। एक ही भाव भूमि पर आप्रह और विग्रह के प्रारूढ हो जाने ने विकृति कुछ अधिक जटिल हो गई थी।

यह कहना अनुचित न होगा कि बौद्ध धर्म के विकारों की छाया में जिन मतों का आविर्भाव हो गया था उन्होंने भी आय-भस्कृति की मौलिकता को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। उससे हिंदू धर्म की एकना खण्डित बौद्ध धर्म हो गई। यह कहना भी असंगत नहीं कि बौद्ध धर्म भारत से लुप्तप्राय होने पर भी वह अपने अनेक सिद्धांतों को भारतीय विचार धारा में प्रवाहित छोड़ गया था। अनात्मवाद की चरम अभिव्यक्ति नागाजुन के धूयवाद में हो चुकी थी। औपनिषदिक आत्मा के स्थान पर धूय की प्रतिष्ठा ने भारतीय चिन्तन की परम्परा में एक बनी क्रान्ति और प्रगति को जन्म दे दिया था। शंकर का मायावाद धूयवाद को एक चुनौती था।

कहने की आवश्यकता नहीं कि धूय' ने विकास क्रम से अधूय के रूप में सब कुछ प्राप्त किया। धीरे धीरे धूय को स्थिति और शक्ति की विगणना प्राप्त हो गई। जिस प्रकार बौद्ध चिन्तन से प्रसून क्रांति को नहीं भुनाया जा सकता है उसी प्रकार बौद्ध साधना की क्रांति को नहीं भुलाया जा सकता है। यह ठीक है कि धर्म व्यक्तिगत साधना की वस्तु है किन्तु व्यक्तिवाद के हाथों में पड़ कर वह अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण नहीं रख सकता। परिणामतः विकृतियों का

विकास होता है जिससे अनेक मतों और सम्प्रदायों का प्रजनन होता रहता है। बज्रयान और सहजयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म की विकृति और विकलता के ही परिणाम थे किन्तु कालक्रम से वे भी विकृतियों से विगलित हो गये। फिर भी नये धर्मों और सम्प्रदायों के लिए वे अपनी कुछ परम्पराएँ और साधनाएँ छोड़ गये।

नाथ-पथ बज्रयान और सहजयान ही की प्रतिक्रिया था। कुछ विद्वानों का मत है कि नाथ-पथ सहजयान और बज्रयान का ही परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप है।^१ राहुल जी ने तो नाथ-पथ के प्रधान आचार्य नाथ-पथ गोरखनाथ को बज्रयान का ही आचार्य कहा है।^२ यों तो इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आदिनाथ (भगवान् शंकर) ही माने जाते हैं किन्तु इसके पुनरुत्थान का श्रेय गोरखनाथ ही को दिया गया है। इन सम्प्रदाय का उदय मिथों की श्रीभक्त एवं तामसिक साधना-पद्धति की प्रतिक्रिया के रूप में होने से इसमें सदाचरण को विशेष महत्त्व दिया गया।^३ नाथ-पथ के खोज की विवेचना करते हुए विद्वानों ने अपने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। डा. रामकुमार वर्मा ने नाथ-पथ को दार्शनिक दृष्टि से शैवमत के अन्तर्गत रखा है किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से उसे पतञ्जलि के योग से सम्बद्ध किया है।^४ डा. हजारी प्रसाद^५ ने इनका सम्बन्ध बौद्ध और शाक्त मतों से भी जोड़ने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अनेक प्रमाण देते हुए उन्होंने कौल और कापालिक मतों को नाथमतानुयायी कहा है। डा. मोहनसिंह ने अपने ग्रन्थ 'गोरखनाथ एण्ड मेडिवल मिस्टिसिज्म' में नाथ-पथ के सिद्धान्तों और साधन-पद्धति को औपनिषदिक सिद्ध करने की चष्ट की है।

किसी समय नाथ-पथ का बड़ा प्रभाव था अनेक सवरणों और अवर्णों लोग इसके अनुयायी थे, किन्तु अवर्णों में तो इसका प्रचार बहुत ही अधिक था।

^१ डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय' तथा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ १४३।

^२ मंत्रयान बज्रयान चौरासी सिद्ध—योग पुरातत्त्वाक पृष्ठ २२१।

^३ चौरासी सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय—यागाक, पृष्ठ ४७१।

^४ डा. रामकुमार वर्मा—हिंसा का आलोचनात्मक इतिहास, परिवर्द्धित संस्करण पृष्ठ १५२।

^५ डा. हजारी प्रसाद—नाथ सम्प्रदाय पृष्ठ ५६।

गोरखनाथ से सम्बन्धित अनेक लोक वार्ताएँ परम्परा में देश में प्रचलित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखपथ या नाथ-पथ का प्रभाव कभी लोकव्यापी था। सभी वर्ग और श्रेणियों में इसका समादर था, इर्मालिए राजा से रङ्क तक की लोक कथाएँ इससे सम्बन्धित मिलती हैं। ऐसा दोख पडता है कि इसके सिद्धान्तों का सामान्य समादर इसलिए हुआ कि इन मत ने सामाजिक भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया था। अवर्णों के लिए यह एक बहुत बड़ा आकर्षण था। इसके अतिरिक्त पथ की योगिक करामातों और सिद्धियों की जनश्रुतियों ने समाज जितना निश्चित हुआ था उतना ही आकृष्ट भी। कबीर के समय में भी इन मत का व्यापक प्रचार था, किन्तु उत्तर भारत में इसके मठ स्थापित हो गये थे। कहते हैं कि गोरखपुर इस पथ का केन्द्र था। जिस प्रकार उत्तर भारत में उन्नी प्रकार उत्तर-पश्चिमी भारत में भी इन मत का प्रचलन रहा है। नाथ-पथ में निरञ्जन की महिमा का बहुत गान किया गया है। साधारण रूप में 'निरञ्जन' शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक है।

भारत में 'निरञ्जन' में सम्बन्धित एक सम्प्रदाय भी रहा है जो 'निरञ्जन सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पथ नाथ-पथ की भाँति ही प्राचीन माना जाता है। इस पथ में निरञ्जन-पद परमपद का सम-
निरञ्जन संप्रदाय कक्ष था। आजकल निरञ्जनी साधुओं का एक सम्प्रदाय राजस्थान और उनके प्रान्तीय भागों में मिलता है। कहा जाता है कि इन सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरानन्द थे जो निरञ्जन भगवान् (निर्गुण) के उपासक थे। "पर आजकल के निरञ्जन मत के अनुयायी बहुत कुछ रामानन्दी वैरागियों के समान राम-सीता के उपासक हैं। वे शान्ति-धाम-शिला और गोमती-वक्र को मान्यता देने हैं।"^१ अपने मेडिवल मिस्टिसिज्म में श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "उड़ीसा में अब भी वह निरञ्जन पथ जी रहा है जिसे निर्गुण साधना को प्रभावित किया था। यही से इन पंथ की शिक्षाएँ मध्यदेश और पूर्वी प्रान्तों में पहुँची थी। पश्चिमी भारत में भी इनका प्रभाव अभी तक विद्यमान है।"^२ डा हजारीप्रसाद ने अपने 'कबीर' में लिखा है कि 'बंगाल के पश्चिमी हिस्सों तथा बिहार के पूर्वी जिलों में आज भी एक

^१ भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृष्ठ १८६।

^२ क्षितिमोहन सेन मेडिवल मिस्टिसिज्म, पृष्ठ ७०७।

धर्ममत है जिसके देवता निरजन या धर्मराज है।^१ उन्होंने अपनी नई पुस्तक 'कबीर-पथ' में दिखाया है कि एक समय यह धर्म-सम्प्रदाय भारतखण्ड और रोवा तक प्रचलित था। बाद में चलकर यह मत कबीर सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाएँ कबीर-मत में गृहीत हो गई, परन्तु उनका स्वर बदल गया।^२ "बंगाल में धर्म-पूजा-विधान का एक काफी बड़ा साहित्य उपलब्ध हुआ। गुरु-गुरु में धर्म ठाकुर या निरजन देवता को बौद्ध धर्म के त्रिरत्न में से एक रत्न (धर्म) का अवशेष समझा गया था, पर अब इस मत में सन्देह भी किया जाने लगा है।"^३ कबीर पथ के अध्ययन से ऐसा भी प्रतीत होता है कि "निरजन का सम्बन्ध बुद्ध से था।"^४ डा त्रिगुणायत का अनुमान है कि निरजन पथ नाथ पथ का ही एक उपसम्प्रदाय है। निरजन पथ का अध्ययन इस अनुमान का समर्थन नहीं करता। जिस प्रकार कबीर-पथ को नाथ-पथ या निरजन पथ का उपसम्प्रदाय नहीं कह सकते उसी प्रकार निरजन-पथ को भी नाथ-पथ का एक उपसम्प्रदाय नहीं कह सकते। डा त्रिगुणायत की यह बात भी उचित नहीं दीख पड़ती कि उत्तरी भारत में निरजन पथ का नाम-मात्र अवशिष्ट रह गया है। राजस्थान राज्य में अब भी अनेको निरजनी मिलते हैं।

कबीर के समय में इस्लाम धर्म इतना प्रबल नहीं था जितना सूफी मत। डा० हजारीप्रसाद का यह कहना ठीक ही है कि 'मजहबवी मुसलमान हिन्दू धर्म के भर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके इस्लाम और बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे, पर सूफी लोग सूफी मत भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ कर दिया था। फिर भी वे लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उनका सामजस्य आचार प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय

^१ डा हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर, पृष्ठ ५२।

^२ डा हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर, पृष्ठ ५२।

^३ दे सुकुमार सेन और पचानन मण्डल सम्पादित 'रूपारामेर धर्म मंगल' की भूमिका।

^४ दे डा हजारीप्रसाद का लेख, विश्वभारती पत्रिका खण्ड ५, अंक ३।

निर्गुण परम तत्त्व की साधना ही उस विपुल वैराग्य के भार को वहन कर सकी जो बौद्ध मध के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश में पहली बार वर्णाश्रम व्यवस्था को एक अननुभूतपूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लेते थे^१ जिसको 'राज और ममाज' किसी वा आदर प्राप्त नहीं था, किन्तु सूफीमत की आड में इस्लाम अपनी सहानुभूति का आकर्षण दे रहा था, उसको केवल स्वीकार करने की देर थी। फिर तो समता और पद सब कुछ प्रस्तुत था। सच तो यह है कि कुछ भारतीय विचारों के आवरण में सूफीमत इस्लाम का पोषक था। यही कारण था कि हिन्दू-ममाज इस्लाम का सामना करता हुआ भी सूफीमत का विशेष विरोधी नहीं था। तत्कालीन निर्गुणोपासना की विरह भावना में जिस तीव्रता वा ममावेश हुआ वह प्रायः सूफीमत की ही प्रेरणा थी।

अनेक धर्मों का विवेचन करते हुए हम उस समय प्रचलित तान्त्रिक साधना को नहीं भुला सकते। यो तो तान्त्रिक साधना बहुत में सम्प्रदायों और मतों में समादृत हो चुकी थी, किन्तु कबीर के युग में वह अपनी तान्त्रिक पराकाष्ठा पर थी। उसकी चरमाभिव्यक्ति शाक्त मत में हो रही थी। यद्यपि शाक्तमत अपनी अनेक हेय प्रवृत्तियों के लिए बहुत से लोगों की घृणा भी पा चुका था, फिर भी इसके अनेक सिद्धान्त उम समय की विचार-परम्परा और साधना-पद्धति में समाविष्ट हो गये थे। तान्त्रिकों का प्रभाव ममस्त भारत में विद्यमान था, किन्तु शाक्त लोगों का प्रभाव बंगाल और उसके आस-पास के भू-भाग पर विशेष था। शाक्तों को ब्रह्म दृष्टि से देखते हुए भी कबीर ने उनकी साधना की कुछ बातों को सूक्ष्म दृष्टि में देखा था, इसीलिए बुराइयों में भी अच्छाइया मिलने पर उन्होंने उन्हें स्वीकार कर लिया था। कबीर की साधना में वे बातें विश्व मार्ग से समाविष्ट हुईं, यह प्रश्न विचार करने योग्य है। अनुमान किया जाता है कि वे सीधी तान्त्रिकों या शाक्तों से न आकर नाथ-पन्थ के माध्यम से आई थी। अस्तु, इस प्रश्न पर 'प्रभाव' के अन्तर्गत ही विचार करना सुमंगल होगा।

^१ डा० हजारीप्रसाद कबीर, पृष्ठ १७४-१७५

वेद विरोधी धमा म बौद्ध और जन धम ही प्रमुख थे। बौद्ध धम की विकृतियो न वज्रयान और सहजयान जस सम्प्रदाया को ज म देकर भी भवकाश ग्रहण नहा किया था। प्रतिक्रियास्वरूप नाथ-पंथ आदि अनक जैन धम मतवाद प्रचलित हा गय थ। इधर जैन धम के अन्तगत भी सम्प्रदाया का उदय हा गया था। उनकी स्पर्धा की भावना म कटुता क फल लग कर व न कवल धम को खिन्न कर रह थ अपितु सामाजिक जीवन को सबीण बना रह थ। जबकि बौद्धा की अहिंसा हिंसा का रूप से चुकी थी जना की अहिंसा न अपन तात्त्विक सौंदर्य का विसर्जन नही किया था। हा वह उपशा आर दृढिया क हाथा किसी अश तक उपहास्य अवश्य हो गई थी। या ता जन धम भारत भर म फना हुआ था और उसके अनुयायी किसी न किसी अण म कम स कम नगरा म तो मिलत ही थ किन्तु राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र म उनका बाहुल्य था।

भारतीय धम साधना को सामान्यत दो प्रमुख धाराआ म बाटा जाता है—वदिक धारा तथा वद विराधी धारा। जैन तथा बौद्ध वद विरोधी धारा म आत ह। वेद विराधी धारा म चार्वाक का नाम भी आता है सदाय कित चार्वाक मन का अधिक विकास न हा सका। कबीर क समय म भी चार्वाक मत उपेक्षित ही था। वद विरोधी धारा तो वदिक युग म भी रही हागा किन्तु उस समय वह अत्यन्त क्षीण होगी अथवा वना का इतना ढका न वजता। महात्मा बुद्ध म यह धारा अत्यन्त शक्तिमान रूप म प्रकट हुई। वदिक तथा वेद विरोधी धाराआ का सघष जीवन के अनक क्षत्रा म था। सघष क जो कारण तब थ वही कबीर के समय म भी विद्यमान थ।

कबीर क युग तक आते आते भारतीय चिन्तन तथा साधना की अनेक धाराओ का उत्पन्न तथा विकास हमारे सामने आ जाता है। कबीर के युग म भारत दा भिन्न समाजा म विभक्त दीख पडता था—एक भारतीय धम-साधना का पोषक था और दूसरा अभारतीय धम-साधना का। भारतीय धम-साधना का पोषक समाज अनेक धर्मा और सम्प्रदाया स क्षत विक्षत हाते हुए भी अपनी सांस्कृतिक एकता रखता था किन्तु अभारतीय धम न जो समाज तैयार किया था वह भारतीय समाज स एक दम भिन्न था इसीलिए देण म विरोध का वातावरण था। हिंदू धम स सूफी मत को सहानुभूति अवश्य दिखाई पडती थी

किन्तु बितकुल वैसी ही जैसी कि किसी वृक्ष के पार्श्व में उगी हुई एव वृक्ष पर छाई हुई लता की, जो वृक्ष की मौलिक शक्ति को स्वयं लेकर उभे हीन करने का प्रयत्न करता है।

हिन्दू-समाज में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जिनमें वैष्णव, शैव और शक्ति प्रधान थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध, जैन और वैदिक कर्मकाण्डी भी थे। इन धर्म-साधनाओं में पारस्परिक विरोध था। जिस प्रकार शिव, विष्णु और शक्ति की प्रधानता को लेकर उनके उपनामों में विरोध का उद्बोधन होता था, उसी प्रकार उनकी साधना भी सघर्ष को जन्म देती थी।

तान्त्रिक सिद्धों की साधना सत्यज्ञान विकृत तथा पाषाणकाल में भरी हुई थी। वे शक्ति की पूजा करते थे। उन्होंने मासाहार, सुरापान तथा व्यभिचार को साधना के रूप में स्वीकार कर लिया था। इधर उनके आचरण की तो यह दशा थी, उधर वे लोग सामान्य जनता को सिद्धियों के चमत्कार दिखा कर प्रसोभन में बहकाते थे। स्पष्टतः इस प्रकार की साधना साधकों के पतन के साथ-साथ समाज पर भी दुरा प्रभाव डाल रही थी। परिस्थितियाँ मानो उद्धार के लिये व्याकुल थीं।

हिन्दुओं में बहुदेवोपासना और मूर्ति-पूजा का प्रचलन था। मूर्ति-पूजा के अनेक विधि-विधान विद्यमान थे। मन्दिर के अनेक पुजारियों के हृदय में सकीर्णता, पागण्ड और दुराचार का आवास था। बाह्याचार चरम-सीमा पर था। स्नान, छापा, तिलक, माला, वस्त्र आदि के बल पर ही अनेक पागण्डों भक्त, माधु और महात्मा बने बैठे थे। अज्ञ जनता को बहका कर वे अपना उल्लू मीमांसा करने में सलग्न रहते थे। इन बाह्याचारों के प्राबल्य और बाहुल्य से सत्य-धर्म अन्धकार में निमग्न हो चला था। थढ़ा और विश्वास ने अपना स्थान अन्ध भक्ति और दम को छोड़ दिया था। वेदों की सेवा होती थी। सत्य के परिपोषी को अश्रद्धालु, अधर्मी एव नास्तिक आदि राजाओं से विभूषित किया जाता था।

वर्ण-व्यवस्था ने कर्माधार का परित्याग करके जन्माश्रय स्वीकार कर लिया था। शूद्रों को सामाजिक मौभाग्य से वञ्चित कर रखा था। अन्त्यजों को वेदाध्ययन से ही परिवारित नहीं कर रखा था, अपितु उन्हें मन्दिरों तक में प्रवेश नहीं मिलता था, मानो धर्म का ठेका कुछ ही लोगों को मिला था।

उनका स्पर्श तक दूषी समझा जाता था। उनके कुएँ भिन्न थे, उनके मोहल्ले अलग थे। हिन्दुत्व की सीमाओं में उन्हें कहीं मुक्ति नहीं दीख रही थी। इस्लाम के द्वार के भीतर उन्हें अपने दुर्भाग्य से मुक्ति दृष्टिगोचर हो रही थी। इसी-लिए अरबों लोग मुसलमान होने चले जा रहे थे। जो लोग इस्लाम को नहीं भी चाहते थे, वे भी तत्कालीन हिन्दुत्व से उब गये थे। अतएव समय किसी ऐसे धर्म अथवा पथ की अपेक्षा रखना था जिस पर चलने का सब को अधिकार हो। यद्यपि बौद्ध-धर्म में किसी समय ऐसे लोगों को आकर्षण मिल सकता था, किन्तु उस समय वैदिक धर्म की उदारता ने उस आकर्षण को मन्द कर दिया। कबीर के समय में वैदिक उदारता रुड़ियों में बंध करस कीर्णता में परिणत हो गई थी। उस समय बौद्ध धर्म अपनी विकृतियों को छोड़कर लुप्त हो गया था। जितने मत मतान्तर उम्र युग में प्रचलित थे वे भी अनेक विकृतियों का आवास बन रहे थे, किन्तु नाथ पथ जैसे सम्प्रदाय भी विद्यमान थे जिनमें चाहे प्रौर कितनी ही खराबियाँ रही हों, उन्होंने जानि-पाति के बन्धन को तोड़कर एक नई सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया था जिसमें वेदा, मन्दिरों और वेश-भूषा को कोई महत्व नहीं दिया गया था। ऐसे सम्प्रदायों में दलित वर्ग के लिए आकर्षण था। इन्हींलिए निम्न वर्ग के लोगों पर नाथ-पथ का इतना व्यापक प्रभाव था, किन्तु उम्र बुद्धि के साथ हृदय के समन्वय की तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकी थी, अतएव अब भी एक अभिनव समन्वित सहज धर्म की आवश्यकता थी।

उस समय के लोग या तो सरकारी नौकरियों द्वारा या स्वतन्त्र व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करते थे। मुसलमान शासकों की नीति चाहे कुछ भी रही हो, किन्तु छोटे छोटे सरकारी कर्मचारी प्रायः व्यवसाय हिन्दू ही थे। यह स्पष्ट है कि बड़े-बड़े हाकिमों के मुसलमान होते हुए भी छोटे-छाटे कर्मचारियों के बिना जो हिन्दू ही हो सकते थे, मुसलमान शासकों का काम नहीं चल सकता था। पटवारी, लेखपाल, नौपाध्यक्ष और जिले के अन्य कर्मचारी अनिवार्यतः हिन्दू होते थे तथा गवर्नर और जिले के हाकिम मुसलमान होते थे। मुसलमान शासकों ने केवल न्यायाधिकार अपने हाथ में ले रखा था, किन्तु इस्लाम धर्म से सम्बन्धित कानून के अधिकारी काजी ही होते थे।

यह समझना उचित न होगा कि व्यापार हिन्दुओं के हाथ से मुसलमानों के हाथ में पहुँच गया था। यह ठीक है कि मुसलमान भी व्यापार करने लगे थे,

किन्तु मुसलमान आक्रमणकारी मैनिक साहसिकता के पक्षपाती थे, अतएव वे व्यापार को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय व्यापार शैली जिममे 'हुडी' का विशेष महत्व था एव जिसमे 'उधारखाता' अपना विशेष महत्व रखता था उनके लिए रहस्य था। इसमे सन्देह नहीं कि व्यापारी जातियों के लाभ का अधिकांश सरकारी कोष एव हाकिमों की जेबों में जाता था, किन्तु हिन्दू बनिया आज की भांति ही सामाजिक ढाँचे का एक आवश्यक अंग था।

हिन्दू श्राव का अधिकांश धन कर में चला जाता था। अधिकांश जनता दीन थी। प्रजा के बहुत से लोग स्वतन्त्र व्यवसाय से ही अपनी उदर-पूर्ति करते थे। हिन्दुओं के बहुत से व्यवसाय मुसलमानों ने भी अपना रखे थे। इतना एक कारण यह भी था कि धर्मान्तरण के उपरान्त भी बहुत से व्यवसायियों ने अपने व्यवसाय नहीं छोड़े थे।

हिन्दू-लोग सामाजिक उच्चता को व्यवसाय के माप-दण्ड से नापने थे। उनकी दृष्टि में धर्म और व्यवसाय में एक सम्बन्ध था, किन्तु मुसलमानों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में स्पष्ट था। वे धर्म और व्यवसाय को भिन्न मानते थे। पुजारियों और पण्डों ने धर्म को व्यवसाय बना लिया था, इसलिए उसका सहज औदार्य और चारित्र्य गुण विलीन हो चला था। सक्तीर्णता, दम और पाखण्ड के विकार का यही मूल कारण था।

साहित्यिक वातावरण

कबीर के प्रादुर्भाव काल में भारतीय जीवन में वह स्पन्दन नहीं था जो साहित्य की प्रेरणा बनता है। कूरता और उत्पीड़न के बीच आक्रोश और आशा में विकलता का अवशेष मात्र था। जहाँ भय और अज्ञानिता का साम्राज्य हो, जहाँ दरिद्रता और निराशा से लोग व्याकुल हों, जहाँ जीवन दम और पाण्डु से क्षुब्ध हो, जहाँ राजनीतिक कुचाला से हृदय विपास्त हो रहा हो और जहाँ अनिश्चय का अंधकार छा रहा हो, वहाँ साहित्य कैसे पनप सकता है? ऐसे युग में वीर पूजा में भी अधिक शैरान्य का अवसर मिला। वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का युग था, जिसमें वैराग्य और उपदेश का स्वर अधिक ऊँचा रहा। बच्चयान, सहजयान, कालचक्रयान जैसे सम्प्रदायों के अनुयायी अब भी अपनी साधनाओं में निरत रहते थे। उनको अपने मिथ्याता और आदर्शों की ही चिन्ता थी। यदि उनका समाज में कोई सम्बन्ध था तो अपने मिथ्यान्ता के सम्बन्ध में। जहाँ उनका सिद्धान्त नहीं था वहाँ उनकी घृणा थी। सिद्धों और नायों की वाणिया में अन्तःस्थाना पर ऐसे स्वर का उद्बलन भी होता दीखता है जिसमें सन्त वाणी का बीज बोध पड़ता है। ऐसी बात नहीं कि सन्त-वाणी अपनी पूर्व वाणी से मध्या साम्य ही रखती थी, वह उसका विरोध भी करती थी। विरोध के स्वर में सन्ता ने अपने पूर्ववर्तियों को 'सशयग्रस्त' एवं 'भाया-निरत' बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि सन्त मत अपनी स्वतन्त्रता में प्रकट हुआ।

नामदेव, जिलोबन, सदाना आदि ने सन्त वाणी-परम्परा को और आगे बढ़ाया। इन वाणियों में ब्रह्म, माया और जीव ने भी अधिक जगत् और शरीर की अस्थिरता के वर्णना और उपदेशों की प्रचुरता थी। वे गान में गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव ने अपनी मौलिक उदभावना से एक नई शैली को जन्म देकर ब्रह्म निरूपण की धारा को मानो एक नई दिशा प्रदान की थी, किन्तु उस समय

उसकी गणना सन्त-साहित्य के साथ की जाती थी। कबीर की वाणियों में इन दोनों धाराओं का मिलन स्पष्ट है। कुछ लोग कबीर को सन्त-मत का प्रवर्तक मानने की भूल कर सकते हैं, किन्तु उनको सन्तमाला की उज्ज्वल मणि ही कहना मभीचीन होगा। उन्होंने साहित्य को जो कुछ दिया वह 'सार-सग्रह' के रूप में ही था।

उस समय साहित्य में काव्य के शास्त्रीय विधि-विधानों का उपयोग कम अथवा नाममात्र के लिये ही होता था। प्रबन्धकाव्य तो बहुत ही कम रचे जाते थे। मुक्तक क्षेत्र में था। आवद्ध परम्परा के पुजारी ही कुछ करते दिखाई देते थे। जिस प्रकार जैनों और चारणों के स्वर में कोई प्रगति नहीं देख पड़ती थी उसी प्रकार सन्त वाणियों में भी गतानुगतिकता ही प्रमुख थी। उन का प्रचलन मुक्तक रूप में ही था।

साधारणतया साहित्य में जीवन के प्रवृत्ति-मूलक तथा निवृत्तिमूलक, दोनों ही दृष्टिकोण विद्यमान थे। पहले से लौकिक साहित्य का मूजन ही हो रहा था और दूसरा वैराग्य तथा अध्यात्म-नबन्धी काव्य को प्रेरित कर रहा था। जिस प्रकार नागार्जुन के शून्यवाद ने निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को प्रेरित किया था उसी प्रकार शंकर के मायावाद ने भी उसे प्रोत्साहन दिया था। इसके अतिरिक्त राजनीति के विधुब्ध वातावरण तथा नमाज की विपमताओं ने भी निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को ही अप्रमत्त किया था।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि धीरे-बन्दना का प्रचलन अब भी था। सामन्ती दरबारों में शास्त्रीय दृष्टि से कविता करनेवाले कवियों का अभाव नहीं था और वहाँ उनको पर्याप्त सम्मान भी प्राप्त होता था, किन्तु कला-प्रदर्शन की भावना ही उनकी रचनाओं में प्रमुख थी। जिस प्रकार इस समय संस्कृत में काव्यशास्त्र और नायक-नायिका-भेद की रचनाएँ बढ़ रही थी, उसी प्रकार दरबारी कवि भी हिन्दी-काव्य-शास्त्र को अपनी कृतियों से समृद्ध बना रहे थे। वे यश और अर्थ के लोभ में कला-कौशल के नवीनतम रूप पर ही दृष्टि रखते थे, अभिप्राय यह है कि कबीर का पूर्ववर्ती साहित्य प्रयोजनमाध्यम था। सन्त-काव्य मत-प्रचार के लिए निर्मित हो रहा था और दरबारी कवि अपने सामन्तों की विरुद्धता में अपनी कला का चमत्कार दिखाने में ही अपने को कृतकृत्य मानते थे, किन्तु ऐसे कवि भी अधिक नहीं थे।

देश के अनेक भागों में, प्रमुखतया पश्चिमी भाग में, जो जैन साधु साहित्य-सर्जना में तत्पर थे उनकी रचनाओं को मूल प्रेरणा धार्मिक प्रचार और कला-कौशल के प्रदर्शन के लोभ से मिलती थी, इसलिए वे प्राचीन कृतियों के नवीनीकरण से ही प्रायः तोप-नाम करते थे।

कबीर वे पूर्ववर्ती साहित्य में वर्णाश्रम का प्रचुर विरोध दिखाई पड़ता है। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ साथ ही भारतीय साहित्य में इस विरोध का प्रज्वलन हो गया था। सिद्धों ने उसे कम न होने दिया। भारत में इस्लाम के जमने पर उसको अधिक उत्तेजना मिली। उस समय की अधिकांश रचनाएँ समाज का विभाजित करने का प्रयत्नमात्र हैं। सन्त-वाणी ने अतिरिक्त उसको एक सूत में बाधन का प्रयत्न किसी दिशा से नहीं हुआ।

यदि यह कहा जाय कि उस समय साहित्य-निर्माण शक्तिहीन हो गया था, तो कुछ अनुचित नहीं। यह कहना तो ठीक नहीं कि लोक में अनुभूति प्रदान करने वाला वातावरण नहीं था, किन्तु अनुभूति को व्यक्त करने वाली शक्ति-मयी प्रतिभा का माना अकाल पड़ रहा था। मौलिक सृजन-शक्ति के अभाव में अनुभूति की कोई गति नहीं थी।

उस समय संस्कृत भाषा सामाजिक जीवन से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुकी थी। यद्यपि ज्ञानकोर से कश्मीर तक संस्कृत अथवा भी विद्वानों और दार्शनिकों की भाषा बनी हुई थी, किन्तु सिद्ध-सम्प्रदाय ने देश के तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में बड़ी श्रान्ति पैदा कर दी थी। उसने न केवल संस्कृत भाषा के मूल पर आघात किया अपितु जन भाषा के विकास में बहुत बड़ा योग दिया। इन्हीं के हाथों में एक नई अनिव्यजना-शैली को भी जन्म मिला जिसको विद्वानों ने 'सध्या भाषा' कहा है। अपभ्रंश के भग्नावशेष उनकी सखनी में अथवा भी निहित थे। मुसलमानों के सम्पर्क ने भी लोक-भाषाओं को बड़ा प्रोत्साहन दिया था। गुजराती, बंगाली, मराठी, मारवाड़ी और ब्रज-भाषाएँ अपभ्रंश की गोद में अपना रूप सवार रही थीं।

'सध्या भाषा' कोई भाषा नहीं थी। वह तो एक शैली थी जिसने उलट्टे अर्थों का प्राधान्य था। भाषा और शास्त्रिकों में इसका बहुत प्रचलन था। इसमें दार्शनिकों को बाधित करके कोई सकेतिक अर्थ ग्रहण किया जाता था।

यह शैली साम्प्रदायिक शैली थी जो केवल सीमित क्षेत्रों में प्रचलित थी। साधारण क्षेत्रों में इसके सकेतो को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला क्योंकि इसके रुढार्थ कभी-कभी घोर गहंणीयता तक पहुँच जाने से इसमें लोकप्रियता नहीं थी।

'सन्ध्या भाषा' ने एक ओर तो अपने प्रवर्तकों के आचरण की कजई खोली और दूसरी ओर साहित्य की प्रतीक-पद्धति को आगे बढ़ाया। उसी से उलटवासियों का प्रचलन हुआ। यों तो प्रतीक प्रयोग कोई नयी चीज नहीं थी और न उलटवासियों में ही कोई नवीनता थी। कूट और विरोधाभास में इनका बीज-दर्शन हो जाता है, किन्तु शैली के रूप में इनमें नूतनता अवश्य थी।

उस समय की शब्दावली में विविधता थी। यद्यपि योग, तन्त्र, आदि से सम्बन्धित उक्तियाँ प्रायः विदेशी शब्दों से मुक्त थीं, किन्तु सन्त-वाणियों को फारसी-अरबी के अनेक शब्दों ने भाषा के शब्दों में मिल कर त्रिवर्गीय रूप दे दिया था। इन शब्दों के प्रचलन के लिए प्रायः मुस्लिम संस्कृति का सम्पर्क ही उत्तरदायी था। सूफीमत के प्रचार और राजनीतिक परिस्थितियों ने भी उक्त शब्दों के प्रचलन को आगे बढ़ाया था। सम्मिलित समाज के ढाँचे में इनका प्रयोग अस्वाभाविक नहीं था। लोक-व्यवहार से आये हुए विदेशी शब्दों को तत्कालीन सिद्धा नुयायी जिनके हृदय में संस्कृत के विरोध की भावना निहित थी, बड़े उत्साह से देखते थे।

उस समय की भाषा का निर्णय करना आज के आलोचक की समस्या है। अपभ्रंश अपना दायित्व अपनी बोलियों को सौंप चुकी थी, किन्तु प्रमुखता पाने के लिए उनमें प्रतिस्पर्धा चल रही थी। शौरसेनी या महाराष्ट्री अपभ्रंश की भाँति अभी किसी बोली को प्रामुख्य नहीं मिला था, इससे कोई भाषा अभी तक साहित्यिक भाषा की स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकी थी। जैन और चारण कवि अब भी अपभ्रंश का पत्ला पकड़े हुए थे। बोलियों में अपभ्रंश का पूरा पुट था। विद्यापति ठाकुर जैसे कवि भी अपनी भाषा में अपभ्रंश का पुट दे रहे थे। हाँ, सन्तों ने अपनी वाणियों में एक नयी परंपरा को जन्म दिया था जिसमें अनेक प्रमुख बोलियों के शब्दों के सम्मिश्रण की स्वीकृति थी। उनकी भाषा को विद्वानों ने 'सधुक्कडी' भाषा कहा है। 'सधुक्कडी' शब्द सन्तों की भाषा को साधारण भाषा से पृथक् कर देता है।

मिले जुने शब्दा के प्रयोग मे उनी हुई भाषा को सधुक्कणी नाम यी हिन्दुस्तानी जैसे श्रम म दिया जाता है ती उसम निहित लोक-तन्त्रता प्रति मवेन स्वरूप हा जाता है । अनक स्थाना म ध्रमण करने बाल एव अन स्थाना म सम्बन्धन शिष्या क सपक म श्रानवाले साधुआ की वाणिया मिन जुने शब्दा का प्रयोग बहुत स्वाभाविक था । सन्तो की वाणी म प्रि स्पर्धी भाषाआ की एवना आर व्यापकता का स्वर था । यद्यपि उनकी कामना आज तक सफल नहीं हो पायी किन्तु अनक दायाआ के गम प्रयत्न अब नब चत रहे हं और बह दिन बहुत दूर नहीं जब कि सत्तों स्वर शगव्यापी भाषा का एकता म मिल जुन उन्हा स प्रतिध्वनिन होगा ।

अभा तब छन्द क्षेत्र म कोई नवानता नहीं आयी थी । दोहा, चौपा सबद रमणी गत बानी आदि का प्रयास रूढ़ हा गया था । इन्ही को प्रम नता ५ शिष्य प्रशिष्य जहा महा ग-ना कर लाया को मुक्ति का सा बतात फिरत थ । बहन का अन्वयकता नहा कि वह तानपूर का साहि था ।

गीतो का जो रूप सम्कृत प्राकृत और अपभ्रंश म प्रचलित था नब बदलन लगा था । गीतगोविंद न गत की एक नयी शैली और परम्परा को जन्म देकर लाव भाषाआ के क्षेत्र म गीतक तिए एक प्रनि पातावरण उपन्न कर दिया था । विद्यापति के पद उसी का परिणाम पर्याप्त सिद्ध लोग ही पद शैली का प्रचलन कर चुके थे किन्तु विद्यापति पूव पदो को कवल साम्प्रदायिक स्वाट्टि ही मिनी थी । विद्यापति ने उ साहित्यिक स्वीकृति दफर उनक इतिहास म एक नूतन अध्याय का प्र कर दिया था । उसी परम्परा का निर्वाह कुछ अधिक विस्तार स सत् किया ।

तत्कालीन पदा को देख कर यह कहना अनुचित न होगा कि संगीत विराध सिद्धा के सम्प्रदाय म भा नहीं रह गया था । उस समय पद स्वय छन्द बन गया था किन्तु दो पदा म मात्रा भेद अथवा राग-भेद हो स था । लोक भाषाआ म पदा को प्राय भक्ति वराग्य आदि के क्षेत्र म ही महत्व मिला था । या ता विद्यापति क बाद भी पदा म श्रु गार-रचना किन्तु उनक प्रकार म भक्ति और अध्याम का धरातल ही प्रमुख रहा ।

उस समय का सर्वप्रिय छंद दोहा था जो लोक भाषाओं को अपभ्रंश से मिला था। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक तो वह राजा से एक तक, सभी का कठहार बन गया था और उसकी उपयुक्तता सभी रसा में स्वीकार करली गयी थी। सभी धर्मों, सम्प्रदायों और वर्गों ने इसका स्वागत करके इस छन्द को साहित्यिक ही नहीं, प्रचारात्मक अभिव्यक्ति के लिए भी अनिवार्य बना दिया था। यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि दोहा को मिथ्या से भी अधिक जैनो और चारणों से परिपोषण प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि दोहा की सरलता उसकी लोक प्रियता का प्रमुख कारण थी। उसने कनात्मक भेद-उपभेदों में भी जिस प्रकार अपनी लोक-प्रियता को अशुभ रखा उसी प्रकार सरलता को भी। खूब तो यह है कि दोहा लोक-जीवन का एक अंग बन गया था। इसको सबसे बड़ी सहायता चौपाई और चौपई से मिली। ऐसी बात नहीं कि वह चौपाई या चौपई में अलग रहा ही नहीं, किन्तु अनेक प्रबन्ध काव्यों में उसको प्रायः उन्हीं का साथ मिला। रमैशिया भी इस तथ्य का अनुवाद नहीं है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह समय सांस्कृतिक भ्रमण का समय था। युग प्रवृत्तियाँ ऐसे वातावरण की प्रतीक्षा कर रही थी जिनमें आदान प्रदान की संभावनाएँ बड़ों तथा अस्थिर और निराश जीवन को सान्त्वना मिलें। कबीर से पूर्व के काव्य में जीवन और समाज में समरमता (माने वाली) अज्ञित का अभाव था, प्रायः प्रयत्न का प्रवाह विपरीत दिशा में था। इसलिए लोक जीवन को कबीर की 'वाणी' की बड़ी आवश्यकता थी।

वातावरण का प्रभाव : क्रिया और प्रतिक्रिया

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि कबीर का समय भारतीय इतिहास में अत्यन्त अज्ञानिता का समय माना जाता है। शासकों की अदूरदर्शिता, अमीरों की दलबन्दी, देशी राजाओं और प्रान्तीय सूबेदारों की विद्रोह-भावना और इन सबकी परम्परा में तैमूरलंग का प्रत्यक्षकारी आक्रमण—ये सब ऐसी बातें थीं जिनसे तत्कालीन राजनीतिक वातावरण विपास्त हो गया था। देश की राजकीय एकता के छेद विच्छेद से दिल्ली नष्ट हो गयी थी और अनेक प्रान्तीय सूबेदारों ने स्वाधीन होकर मनमानी करना प्रारम्भ कर दिया था। इधर दुर्भिक्ष और महामारी के प्रकोप से सहस्रो व्ययित काल कवल बन गये थे। धन जन के विनाश और राजनीतिक अस्थिरता के कारण जनता में व्याकुलता फैल रही थी।

कबीर ने राजनीतिज्ञ न होते हुए भी दूषित राजनीति को बड़े दुःख और क्षोभ से देखा था। क्रूर राजनीति उनकी आँखों की जलन थी। शासकों को देश के टुकड़ों की चिन्ता नहीं थी, अकाल और महामारी की चिन्ता नहीं थी, प्रजा के सुख दुःख की चिन्ता नहीं थी। यदि उनको कोई चिन्ता थी तो यह कि उनके प्रभुत्व की रक्षा या वृद्धि कैसे हो। वे अपनी-अपनी प्रभुता के लिये प्रजा का वँसा ही बलिदान कर सकते थे। उनकी ऐश्वर्य लोलुपता के पीछे कोई मंगल भावना या नैतिक सिद्धान्त नहीं था। आकाशा की कोई दिशा अथवा आशा की कोई किरण किसी भी विभीषिका को स्वीकृति दे सकती थी। दर-सहार से वे हिचकते नहीं थे क्योंकि वह तो उनकी दैनिक झीडा बन गया था। ऐसी बात नहीं कि अच्छे शासक थे ही नहीं। वे अवश्य, किन्तु इने-गिने थे जो देश के दुर्दिन को बाढ को बड़ी व्यग्रता से देखते थे। धोखा, छल, कपट, क्रूरता, विलास आदि राजनीति की ऐसी लहरे थीं जो युग के प्रवाह में कहीं भी दृष्टिगोचर हो सक्ती थीं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि समग्र देश में एक उद्दाम लू चल रहा था जिसका दाह भयकर एवं व्यापक था। उमसे छोटे बड़े, गरीब-गमीर, सब पीड़ित थे। पसीना बहाकर दैनिक आजीविका का उपार्जन करने वाले लोग तक नृशंसता का शिकार बन रहे थे। उनकी मुक्ति उपेक्षा से भी सम्भव नहीं थी, सम्भव तो वह तब होनी जब स्वयं उपेक्षा असम्भव न होती। विशेष करो ने सामाजिक एकता को विधुब्ध करके चर चर कर डाला था। धार्मिक विडम्बनाएँ राजनीति का अंग बन रही थी। बकीर भी उम पीड़ित ममजा के एक अंग थे। पीडा ने उन्हे सचेत किया था और दलितों की कराहों ने बल दिया था। उन की भर्त्सनाओं में ममजा का शोभ था और उनकी विरक्तोक्तियों में उमकी निराशा थी।

अभी कहा गया है कि राजनीतिक वातावरण को विपाकत बनाने में धार्मिक विषय का भयकर हाथ था। तत्कालीन राजनीति को बहुत अंश तक मुल्ला और पुजारी प्रेरित करते थे। हिन्दू मतमानों के धार्मिक विवादों के अतिरिक्त हिन्दुत्व के भीतर भी मतान्तर ईर्ष्या और द्वेष का खोल वाला था। एक ओर शंकर और कुमारिल के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म अन्तिम सामे ले रहा था, दूसरी ओर जैन, शैव और वैष्णव धर्मों के भीतर अनेक उपगम्पदाय गगठित हो रहे थे। भारत में दक्षिणी और पश्चिमी नाथ-पथियों का अधिक जोर था और योगी, जती, मन्थानी शाक्त आदि सब पारस्परिक सघर्ष में व्यस्त थे। देश या सामाजिक जीवन की एकाता की चिन्ता किसी को नहीं थी। उत्तर भारत में स्वामी रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में एक क्रान्ति को जन्म देकर जाति-पाति के तने को हिलाकर देखा था और पश्चिम की ओर नामदेव धूम धूम कर वारकरी सम्प्रदाय के प्रचार में सलग्न थे जिमसे मालवा, राजस्थान तथा पंजाब में उनके अनेक श्रेणुयायी बन गये थे।

बौद्धों का सहजयान सम्प्रदाय सुप्त प्राय होता हुआ भी अपने विकृत रूप को बगाल में छोड़ गया था। इस्लाम के मुल्लाओं और काजियों ने अपनी धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिन्दू और मुसलमानों के बीच गहरी खाई खोद दी थी। इस समय तक सूफी-सम्प्रदाय चिन्तिया और सुहवदिया शाखाओं को जन्म देकर अपने प्रचार को बढ़ाने में लगा हुआ था। चिन्तिया शाखा के फकीर अहमद सादिर (मृ० म० १३८२) ने उत्तर प्रदेश के पश्चिमी

भाग में अपनी साबिरी भाषा की नींव डाली थी और सुहृदविया शाखा के श्रेष्ठ तकी (म० १३७७—१४८६) ने अपने अपन उपदेशों का प्रचार उत्तर प्रदेशों के पूर्वी भाग में किया था। बंगाल सहजिया सम्प्रदाय ने वैष्णवों पर घपना जाड़ डाल दिया था जिससे वहाँ वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय की नींव पड़ रही थी और मखिल नाकिन न धम में एक नए स्वर को प्रगल्भ किया था। एम बानावरण में कुछ ऐसे विचार भी पनप रहे थे जो धार्मिक मधम और मनीषता में ऊँचे उठकर एक नए पथ की ओर संकेत कर रहे थे। उन्हें बल एक प्रौढ़ पवनरु और कमठ मंचालक की आवश्यकता था जो युग की भयानकता में होकर उनका धारा बढ़ाना। यह भाग भी किसी धम निष्ठा से असम्भव था। वह तो सब धर्मों के सार ग्रहण से ही बन सकता था। वहाँ स्थायी और मानवीय भाग हो सकता था।

कबीर ने समाज की दबलता को बनी करणा में देख कर उसे निकालने के मौलिक प्रयत्न किए थे। भय भ्रमना और भ्रंति उनके ऐसे अस्त्र थे जिससे वे राजनातिक विभाषिकायों और सामाजिक विषमनाम्ना के शत्रु को परास्त करना चाहते थे। जिस गरीब पर मनस्य दलना गव करना है, जिस वैभव के निम्न बड़ इतन अयाचार करता है निम्नी गहरी नींव डालने के लिए वह अनरु प्रयत्न करता है व भगर ह। इसीलिए व बाल —

‘बचार कहा गरदियों चाम पलेटे हड।

हबरि ऊपरि छत्र सिरि ते नी देवा खड ॥

‘कबीर थोडा जीवणा माड बहुत मडाण।

‘सबही ऊभा मेलिह गया राव रक सुलिनान ॥’

परिवर्तन की लहर के क्षणिक बुदबुदा पर गव करता व्यथ है। यह शरीर धूल की पुडिया है जो चंदरोजा है। कुछ ही दिना में यह खाक में मिल जायगा। कबीर विस्मित ह कि जन्म मरण को देखकर भी मानव अपन कूरकम नहीं छोडता इसीलिए कबीर उपदेश देते ह कि एसे कर्मों से बच कर उचित आचरणा करना चाहिए —

‘कबीर धूलि सकेलि करि पुडी जू बाधी एह।

दिवस चारिका पेयणा अति यह बी देह ॥

जामण मरण बिचारि करि कूड काम गिबारि।

जिनि पथू तुभ चासणा सोई पथ सवारि ॥

कबीर का लक्ष्य सत्यत एव तत्तुलित जीवन म निराशा वा संचार करना नहीं था, अपितु ऐसे जीवन के प्रति आशा पैदा करना था। जिन लोगों का दुर्गम अनाचार की सीमा ताप चुका था और जिनके निष्करण अहंकार की विस्फोटमयी ज्वालाओं म प्रलय का भयकर अभिनय था, उनको उनके कुर्मार्ग के प्रति निराशा बरना ही कबीर का वैराग्यावित्तयो का प्रधान लक्ष्य था।

अपन समय म कबीर को भक्ति ही म एक ऐसा मार्ग दीख पडा जिसम विपमना का निवारण कर समता एव सन्तुनन स्थापित करने की क्षमता थी। भक्ति की शक्ति ही गर्व के उन्माद का उपचार एव दलितों की निराशा का अपहरण कर सकती थी। इसी भक्ति म कबीर को अपने लिए एक शक्ति वा प्रकाश दिखाई पडा और इसी म उन्हे यह दिशा दिखाई पडी जो समाज की एवना क पथ को सर्वातत कर रही थी। उनकी विरक्तोक्तिर्मा उसी पथ की सीढिया थी। अतएव कबीर की भक्ति म आशा-निराशा, आकर्षण विरर्पण तथा भय और प्रेरणा का अद्भुत सामजस्य खोज लेना कठिन नहीं है न्यार्कि दो विपरीत बिन्दु आक्षिप्त दशा म एक ही सरल रेखा मे, एक पथ मे प्रलीन हा जान ह। अनएव यह कह दना अनुचित नहीं है कि उनमे से एक दूसरे म खा जाता है। भक्ति सासारिक आसक्ति को परमात्मा की आसक्ति मे विलीन कर देता है जिसम दर्प का निपात, अनेकता का विलय और एकता का आविर्भाव होता है। कहना न होगा कि कबीर की भक्ति-भावना के मूल म सामाजिक एकता की प्रेरणा हा थी।

यदि यह सत्य है कि 'परमात्मा के प्रति परम प्रेम का नाम ही भक्ति है' तो यह भी सत्य है कि भक्ति को सामाजिक प्रेम के रूप मे अकुरित भी देख सकत ह। कबीर की भक्ति म दो दिशाओं से आनेवाली प्रेम-परंपराओं का मिलन है। एक तो भारतीय प्रेम-परम्परा और दूसरी सूफी प्रेम-परंपरा। दोनों की पद्धतिया भिन्न होती हुई भी उनका लक्ष्य एक ही है।

भारतीय भक्ति-परम्परा म भी भक्ति की दो धाराए मानी गई हैं—एक तो भावप्रधान और दूसरी ज्ञानप्रधान। भावप्रधान भक्ति म साधक अपने हृदय की सारी कामनाए, अपन मन को समस्त प्रवृत्तियाँ अपने इष्टदेव के चरणों मे अर्पित कर देता है और आत्मसमर्पण के भाव में ही वह

परमानन्द का अनुभव करता है। इसको प्रेमाभक्ति भी कहते हैं। भक्ति के क्षेत्र वा यह प्रेम ईश्वर ज्ञानिन्ध्य का एक मार्ग है। इसमें प्रेमी अपने को प्रिय के प्रेम-बन्धन में बाध लेता है और इतना कम कर बाध लेता है कि उमका अपना अस्तित्व ही प्रिय में डूब जाता है, दुई मिट जाती है और एकता के भाव का अपूर्व उन्मेष होता है। शास्त्रीय परिभाषा में इनको कुछ भी कहा जाय, किन्तु यह वही दशा है जिसे ज्ञानी अद्वैतावस्था कहते हैं। भाव और ज्ञान की परम परिणति एक ही स्थिति में एक ही दशा में होती है। इस स्थिति पर पहुँच कर भक्ति और ज्ञान का अन्तर मिट जाता है।

यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि कबीर के प्रेम का प्रादुर्भाव तत्कालीन समाज की दुर्दशा से हुआ। उनकी कस्या ही अन्ततोगत्वा भक्ति में परिणत हुई। खड को अखड और अस्त को आश्वस्त करने की प्रेरणा के पीछे उनका करणजन्य प्रेम था। इस प्रेम का मूल स्वर एकता था और यही उनकी भक्ति का स्वर था। कदाचित् कबीर के सामने एकता की समस्या को हल करने के लिए एक द्विविधा रही होगी, उनके शगक्ष एक भयकर प्रश्न उठा होगा कि वे प्रेम-क्षेत्र में किस पथ को अपनाये—भारतीय भक्ति-मार्ग को अथवा सूफी प्रेम-मार्ग को। एक में आलंबन साकार और सलील था और दूसरे में प्रारोपित। एक के समर्थन में दूसरे का विरोध निहित था। कबीर का लक्ष्य विरोध वा भिडाना था, इसलिए वे किसी एक मार्ग को लेकर नहीं चले सक्त थे। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने दोनो ओर में प्रेम-साधना के तात्त्विक उपकरण सकलित किये और दोनो के विरोध को निर्गुण भक्ति में विलीन कर दिया।

कबीर की निर्गुण भक्ति का स्वरूप भारतीय भक्ति-धारा के बहुत समीप था। भारतीय भक्ति-धारा के दो रूप अग्र्यत्र कहे गये हैं। उनमें से एक ज्ञानप्रधान भी था। कबीर की भक्ति इसी के अन्तर्गत आती है। जिस समय हम भक्ति के इस रूप पर विचार करते हैं तो महमा गीता के 'उम भक्त का स्मरण ही आता है जिसके लिए 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द ज्ञान और भक्ति के सामजस्य की ओर संकेत करता है। यही सामजस्य कबीर की निर्गुण भक्ति की आधार-शिला है। यहाँ ज्ञान का महत्व भक्ति के लिए ही है।

कबीर की भक्ति को देखने समय विशेष ध्यान देन की बात यह है कि निराकार के सम्यक कबीर अपनी बाणी में साकार को नहीं भुला सक है। ना जसरखि घरि औतरि आवा ना जसर्व ल गोद खिलावा'—कहने वाल कबीर ही उन स्वरूप से संबंधित अनेक उदाहरण दे जाते हैं जो साकार की प्रतिष्ठा में ही अधिक सहायक होते हैं जैसे—

राजन कौन तुमारे आवैं ।

ऐसो भाव बिदुर को देख्यो, बहु गरीब भोहि भायैं ।

(दुर्वाधन) हस्ती देखि भरम ते भूला हीरभगवान न जाना ।^१

और

'महापुरष देवाधिदेव नरसिंह प्रगट कियो भगति भेव ।

कहै कबीर कोई लहे न पार । प्रह्लाद उवारयो अनेक बार' ॥^२

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कबीर को सगुण और निर्गुण की विशेष चिन्ता नहीं थी चिन्ता तो उन्हें उस सामाजिक खाई की थी, जो उनके कारण उत्पन्न हो सकती थी क्योंकि साकारोपासना अवतारवाद और बहुदेववाद का समर्थन करती है जिसका तालमल इस्लाम के 'एकेस्वरवाद' से बिल्कुल नहीं बैठता। कबीर के युग में एकता एक समस्या थी। उसका हल सोचना कबीर अपना कर्तव्य समझते थे। निर्गुण-पथ उसी हल को प्रस्तुत करता है।

कुछ आलोचकों का विचार है कि एक नया पथ को चलाने के लिए ही कबीर ने निर्गुण-भक्ति को पुरस्तर किया था। उनकी इस भक्ति में तथ्य केवल इतना है कि कबीर ने एक नया पथ चलाया और उसमें निर्गुण-भक्ति का प्रमुख स्थान रखा किन्तु कबीर पथ में निर्गुण भक्ति की मान्यता पथ के आग्रह से नहीं थी समस्या के हल के निमित्त थी। कबीर पथवादी थे, यह समझना भ्रम होगा, किन्तु यह सत्य है कि उन्हें नया पथ चलाने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी क्योंकि वे एकतावादी थे। निर्गुण पथ को नया पथ इसलिए नहीं समझ लेना चाहिए कि उसमें कोई नयी चीज थी। ईंट और रोड़े सब पुराने थे यदि कोई नवीनता थी तो उसमें 'मानुषी का कुनवा' जोड़ने में थी।

^१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३१८, १७६

^२ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २१४

कबीर की भक्ति में प्रेम-तत्त्व की प्रतिष्ठा की कोई नयी वान नहीं थी। भारतीय भक्ति धारा में प्रेम का वह स्वरूप मिलता है जिसके श्रद्धा और विश्वास अभिन्न अंग हैं। भक्ति के रूप को आगे बढ़ाने में कबीर का बड़ा हाथ रहा। अनात्मवादी सिद्धों ने देश में ही नहीं बाहर भी अनीश्वरता के प्रचार में कोई बर्बादी नहीं छोड़ी थी। सिद्धों ने सिद्धियों के प्रलोभन से जहाँ योग का प्रचार किया वहाँ अनीश्वरवाद को भी दृढ़ किया। उनका निरीश्वर योग में आत्मा और परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं था। इससे भागवत धर्म को बड़ा आघात पहुँचा और कबीर के समय अनास्था और अविश्वास लौकिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में बहुत बढ़े हुए थे। इससे मनुष्य के मन में मन्देह के साथ साथ निराशा भी बढ़ गयी थी। इन्हीं में कबीर के गुण की दुरवस्था का विशेष कारण निहित था। इसके उच्छेदन के लिये, विश्वास और आशा की प्रतिष्ठा के लिए एक सामान्य भाव भूमि की आवश्यकता थी जो कबीर को ईश्वरवाद के भीतर ही दिखायी पड़ी। यह ईश्वरवाद हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये सामान्य था, अतएव कबीर ने जिस भक्ति की प्रतिष्ठा की, देश की सामाजिक एकता के लिए उसका बहुत बड़ा मूल्य था।

कबीर की भक्ति का वियोग-पक्ष अधिक सवल है। उसकी विशेषता विरह की तीव्रता जो उन्होंने सूफीमत से ली। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूफी-प्रेम उन्मादविशिष्ट है और कबीर के प्रेम निरूपण में उसके अनेक लक्षण मिलते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि कबीर ने सूफी प्रेम साधना से कुछ नहीं लिया वे हाथी को देख कर भी उसके अस्तित्व का निषेध करते हैं। ऐसी बात नहीं है कि कबीर ने परमात्मा के केवल प्रिय (पति) रूप को ही अंगीकार किया था, अपितु माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि अनेक रूपों में उसको उन्होंने चित्रित किया है। सूफी-सम्प्रदाय में इन सब रूपों को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता नहीं है। सूफियों के लिए परमात्मा 'मायूक' है और जीवात्मा आशिक है और कबीर के दाम्पत्य सम्बन्ध में हरि 'पीव' है और वे उतकी 'बहुरिया' हैं। पीव और बहुरिया के पीछे भारतीय दाम्पत्य जीवन की जो व्यञ्जना है उसमें सूफी-मान्यता का भी पुट है। यह ठीक है कि कबीर और हरि—जीव और परमात्मा—में जो पत्नी और पति का सम्बन्ध है वह भारतीय भक्ति परम्परा के अनुरूप है, किन्तु इनमें आशय और आलवन में सम्बन्धित आरोप भी स्पष्ट हैं। इस आरोप के लिए भारतीय भक्ति में कोई स्थान नहीं है। कृष्ण भक्ति में ब्रज गोपियों का

कृष्ण ने पानी पति सम्बन्ध आरोप के लिए कोई स्थान नहीं देता। इसीलिए नामदीप भक्ति यत्र म भक्ति की चारया करने हुए कहा गया है कि सा तु प म प्रमदना यथा ब्रजगोपिकानाम किंतु सूफी प्रम-साधना का सारा महल ही इस आरोप के ऊपर खड़ा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ४ समय तक भक्ति और योग म असंगति का स्वर प्रवृत्त हा गया था। उनके समर्थका न उनम एकस्थता और सर्वाति देखने के बजाय असंगति को ही देता। परिणामत ज्ञान और भक्ति की भाति भक्ति और योग के बीच म भी खाई सी बन गयी। यद्यपि नाथ पथ ने योग म प्रम का घुट देकर उस भाक्त क समीप लाने का प्रयत्न किया था किन्तु उनकी क्षीण शक्ति गवमत म ही अवरुद्ध हा गयी। वह ब्रह्मण्व भक्ति से भा अपना नवदयस्थापित करन की चेष्टा न कर सका। कबीर ने योग की इस प्रवृत्ति को बड़ी व्यग्रतापूण सक्षमता से देखा और उसे भक्ति म लाने का प्रतुल प्रयत्न किया। श्रीरग हरि राम गोविन्द शिव आदि गव्या से एक ही शक्ति की ओर संकेत करके योग की भक्ति से जोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भक्ति म चिन्तारत्त की स्थिरता और योग म प्रम-तत्त्व की प्रतिष्ठा होने से योग और भक्ति बहुत निकटस्थ हा गये।

कबीर की भक्ति बहुप्रमाजना है। वह निरागा और सदेह का निवारण कर आगा और विश्वास का दृढ करनी है एक ही परम शक्ति की प्रतिष्ठ कर लौकिक शक्तिया को चुनौती देती है एक सत्य की मायता से अनेकता क निराकरण करती है और नान से अटूट सम्बन्ध जोड़कर प्रम के आत्मबन्धन क एकता को प्रतिष्ठित करनी है। उक्तम अंधविश्वासा के लिए कोई स्थान नहीं है। किसी पद्धति या प्रथा का क्वार शक्ति क रूप म स्वीकार नहीं करते उनकी स्वीकृति केवल उसी काम या विश्वास को मिल सकती थी जो प्रम मूलक एकता को व्यवस्था करन वाली उनकी बौद्धिकता की निष्प पर ख उतर सकता था। जो चीज समय के निय प्रयोजनीय नहीं है कबीर उस है एव त्याग्य मानते ह। समय की मसौदो पर खराब सिद्ध होने वाली जा प्रथा को वे हैय मानत ह। वे ब्राह्मण और चाण्डाल म कोई मौनिक भेद न देखते थे। उनकी दृष्टि मे प्रेम से परिष्कृत चाण्डाल दुराचारी ब्राह्मण सब ऊचा था। कबीर के अन्तर की इस प्रक्रिया म उनक मस्तिष्क और हृदय सामजस्य देला जा सकता है यहा कबीर के ज्ञानी भक्त की अभिव्यक्ति थ

कबीर भक्ति को आडम्बर से अलग मानते थे। मस्जिद और मंदिर कुरान और वेद, ईमान और धर्म, तस्वीह और माला, दाढ़ी और चोटी आदि अपने तथाकथित रूप में बाह्याडम्बर हैं इनसे सामाजिक विकृतियाँ और भेदों की वृद्धि मात्र होती है। इससे कबीर उनको स्वीकृति नहीं देते। उनको न तो वे धर्म का ही लक्षण मानते हैं और न ईश्वर प्रेम का ही। खुदा या परमात्मा मस्जिद या मन्दिर में नहीं मिलता। वह तो हृदय में प्रतिष्ठित है। हृदय के निर्मल होने पर ही उसका अनुभव होता है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

“कबीर बुनिया देहुरी सोस नवावण जाइ
हिरदा भीतर हरि वसै, तू ताही सौं ल्यो लाइ ॥”

परमात्मा प्रेम और दया में है। इन्ध और पाखण्ड में नहीं। खुदा की सच्ची बरगी नवाज में नहीं है दया में है। जो नवाज पढ़ कर जीवहत्या करते हैं, वे कभी सत्यरूप परमात्मा के समीप नहीं पहुँच सकते। इसी प्रयोजन से वे काजी को चेतावनी देते हैं—

“पहुँ सब भूठी बरिगी, बरिया पच निवाज।
सोचं मारै भूठ पढि, काजी करे अकाज ॥”

इस विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर ने मानव प्रेम को उदार बनाकर व्यापक ईश्वर-प्रेम में विलीन कर दिया था। ज्ञान और भक्ति अथवा योग और भक्ति के बीच में खंड किये हुए अवरोधों को मिटा कर भक्ति को ज्ञान और योग से परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया था। ज्ञान त्रिया विद्विष्ट कबीर की भक्ति में तत्कालीन सभी विचार-धाराओं और साधनाओं का सार संगृहीत था।

पिछले अध्याय में जिन अनेक धार्मिक विचार धाराओं की ओर संकेत किया गया है उनमें से प्रमुख थी—१ सगुण वैष्णव भक्ति धारा २ ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति धारा, ३ नाथ्युपनी योग धारा, ४ सूफी प्रेममार्गी धारा और ५ इस्लाम की एकेश्वरवादी धारा। कबीर की साधना में इन सबके उपकरण सार रूप में मिलते हैं। कबीर की साधना के सबंध में अनेक मत प्रस्तुत किये गए हैं। कबीर के आलोचकों ने अपनी अपनी रुचि एवं खोज के अनुसार अपने अपने निर्णय दे दिये हैं। कुछ ने उन्हें सगुण भक्त कहा है, कुछ

ने ज्ञानी के रूप में अंकित किया है और कुछ ने उन्हें योगी माना है और कुछ ने सब कुछ भुला कर सूफी और इस्लाम का अनुयायी कहा है। रचिवर्चिष्य उन्हें ईसाई धर्म से प्रभावित कहने की सीमा तक पहुँच गया है। इन अनेक मतों के पीछे दो कारण दीख पड़ते हैं—एक तो यह कि कबीर ने कहीं भी अपने सिद्धान्तों का शास्त्रीय विधि से निरूपण नहीं किया और दूसरा यह कि उनके सारग्रहण में अनेक मतमतान्तरो का अंतर इतना सूक्ष्म हो गया है कि उसके रहस्य का उदघाटन सरलता से नहीं किया जा सकता।

यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर पर अपने समकालीन वातावरण का प्रभाव पड़ा वितु प्रभाव के ग्रहण करने में वे बड़े सतर्क थे। इसका परिचय हम उनका सार—स्वीकृति और विकार—निषेध से मिलता है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कबीर ने किसी मत या पथ का खण्डन या उपहास नहीं किया। हाँ, उनमें आ जाने वाले विकारों पर अवश्य ही व्यंग्यो का वशाघात किया है। दम्भ, पाखण्ड और धूर्तता के प्रति तो वे बड़े ही कटु हो गए हैं। उनकी यह कटुता असत्य और अज्ञान के प्रति थी। सार सत्य के प्रति नहीं थी। इन तथ्य की भाँकी हमें इस पद से मिल सकती है—

‘काजी कौन कतेब बखानै ।

पदत पढ़त बेते दिन बीते, गति एकै नहीं जानै ॥

सकति से नेह पकरि करि सु गति, यहू नबदू रे भाई ।

जोर घुवाइ तुरक मोहि करता, तौ अपाँ कटि किन जाई ॥

हौं तो तुरक किया करि सुनति औरति सौं का कहिए ।

धरध सरीरी नारिन छूटै, आपा हिन्दू रहिए ॥

छाँडि कतेब राम कहि काजी खून करत ही भारी ।

पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे भय मारी ॥’

कबीर का कहना है कि धर्म का लक्षण वैशभूषण नहीं है, उसका सार तो सत्य है जो एक है और जो किसी धर्म या पथ से देखा जा सकता है। बोग ढकोसले उस सत्य को छुपाते हैं और उन्हीं के आवरण में वह अनेकता में प्रदर्शित होता है—

‘कबीर यहू तो एक है पडदा दीया भेष ।

भरम करम सब दूरि करि, सबहौं माहि अलेय ॥’

तिलक-छापा, वेश-भूषा, मंदिर-मस्जिद प्रादि भेदसूचक हैं, भ्रम-मूलक हैं, सत्य नहीं हैं। भेदावलंबी इस समार-सागर में कभी पार नहीं उतर सकता --

“कबीर इस ससार कौं, समझाऊ कैं बार ।

पूछ ज पकड़ै भेद की, उतरया चाहैं पार ॥”

इसमें स्पष्ट है कि कबीर अपने वातावरण को बड़ी सूक्ष्मता से देख रहे थे। प्रभाव उनके चारों ओर छा रहे थे। किंतु उन्हीं को स्वीकार किया था जो उनकी मानसिक तुला पर पूरा उतरा था। वे चतुर शिल्पी की भाँति प्रभाव के प्रस्तर को अपनी बुद्धि की टाकी से तराश कर अपनी हृत्वि के अनुकूल गढ़ कर उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देते थे। इसीलिए वे वैष्णव सूफी, योगी आदि अनेक रूपों में आलोचकों के समक्ष आ प्रकट होते हैं।

कबीर ने अपने पथ का आधार वैष्णव-धर्म को बनाया था जिस पर उपनिषदों की शिक्षा का विशेष प्रभाव है। उनके निर्गुण ब्रह्म, आत्मा और ब्रह्म का अभेद तथा एकत्व के ज्ञान से मुक्ति आदि के सिद्धान्त मूलतः उपनिषदा में ही मिलते हैं। उनके ‘भगति नारदी मगन मरीच, इहि विधि भव तरि, कहै कबीरा’—शब्दा से वैष्णव भक्ति के प्रति उनका आकर्षण स्पष्ट है। वैष्णव धर्म के प्रति उनका झुकाव इतना है कि वे सिहर कर कह उठते हैं—

‘कबीर धनि ते मुन्बरी, जिन जायो बँसनेो मूल ।

राम सुभिरि निरर्भ हुया, सब जग गया अजत ॥”

कबीर के कुछ सिद्धान्तों की प्रवृत्ति वैष्णव-धर्म के अनुरूप है। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, अहिंसावाद, भाग्यवाद, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि के प्रति कबीर की आस्था और श्रद्धा बँगी ही है जैसी वैष्णव भक्तों की होती है।

इसके अतिरिक्त कबीर का परिवर्तन बौद्ध-धर्म के महायानी रूप, वज्रयान, सहजयान, निरजन-पथ, तन्वमत और नाथ-पथ और जैन-धर्म से भी था। कबीर की वाणी को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि वे सहजयानी और नाथपथी सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित थे। बाबा गोरखनाथ के प्रति

उनका आदर दीव्य पडता है, किन्तु उन नाथपथी योगियों को खरी सुनाने में वे बिल्कुल नहीं हिचकते जिन्होंने योग को किंगरी, भेखला, सीगी, जनेब, घधारी, रुद्राक्ष, अगारी, गुदरी खण्डर भोला आदि में ही परिमित कर लिया है। इन चिन्हा को वे बाह्याडंबर मानते हैं और इनकी निंदा करते हैं। वे योगों के स्वरूप की मीमांसा करते हुए कहते हैं —

“सो जोगी जाके मन में मुद्रा ।
राति दिवस न करई निद्रा ॥
मन में आसन, मन में रहना ।
मन का जप तप मनसू कहना ॥
मन में खाग मन में सीगी ।
अनहद नाद बजायें रगी ॥
पच परजारि भसम करि भूका ।
कहै कबीर सो लहसै सूका ॥”

उनके अन्य कई पदा से भी यही प्रकट होता है कि नाथपथ के बाह्याडंबरो को भी उन्होंने आड़े हाथों लिया है। वे तो बाबा गोरखनाथ के अलख जगाने तक के भी समर्थक नहीं हैं और न वे उनकी साधना की प्रमुखता की ही स्वीकृति देते हैं। कबीर के लिए साधना गौण है, राम की कृपा मुख्य है। वे राम रामकृपा में विश्वास के समर्थक हैं। कबीर के राम उदार और भक्तवत्सल हैं और गोरखनाथ सिद्धों की ज्योति के उस व्यक्त रूप में प्रास्था रखते हैं जो निरजन है। यही कबीर का गोरख से अलगाव है। दोनों में एक और भी अन्तर है। कबीर के गुरु आत्मा और परमात्मा के बीच की कड़ी है, अपितु परमात्मा के समक्ष या साक्षात् परमात्मा है, जबकि बाबा गोरखनाथ के गुरु वायिक साधना और योग के विशेषज्ञ हैं पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में गोरखनाथ का कबीर पर बहुत प्रभाव है। नाद, विन्दु, सुरति, निरति आदि शब्द जिनका प्रयोग कबीर-बाणी में अनेक बार हुआ है, गोरखनाथ की टक्याल के ही निश्चय है। खडन-मडन की शैली और तीव्र प्रयोग भी कबीर ने गोरखनाथ से ही सीखे हैं। उनके वाक्यों में सिद्धों और नाथों का अक्षडपन भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु कबीर के व्यक्तित्व की छाप कहीं भी छिपी नहीं है। उनका व्यक्तित्व उनकी भाषा

गौर अर्थ में है। महज, समाधि, शून्य, पटञ्जक, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि पर उन्हीं का रग चडा हुआ है।

कबीर के 'अजपा जाप', 'उल्टी चाल' या 'उल्टी गंगा' आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको हम निरजत-सम्प्रदाय में खोज सकते हैं। इसी प्रकार चक्रभेदन, कुण्डलिनी-चानन आदि बातें कबीर ने तत्र-मत से ली हैं। 'कुण्डलिनी' की मान्यता शाक्तों में भी थी, किन्तु उनके असयन आचरण के प्रति कबीर को बड़ी घृणा थी। इसीलिए वे कह उठे —

'चन्दन की कुटकी भलो, ना व बूर की अवरराउ' ।

बँसो की छपरी भलो, ना सायन का बड गाउ ॥"

और भी,

"सायत बामण मति मिले, बँसो मिलै चडाल ।

अक माल दे भेंटिये, मानो भिने गोपाल ॥"

इन सब प्रभावों के परिणामस्वरूप कबीर का निर्गुण पथ बड़े समृद्ध रूप में प्रकट हुआ। उसमें व्यवस्थित साधना का विकास हुआ। भक्ति और योग की मगति पुष्ट हुई। माया के व्यवहारिक और मैदान्तिक भेदों के बल से मायावाद को तर्कों की भूमिका पर खड़े होने का हौसला हुआ और अद्वैतवाद बहुत पूर्णता को प्राप्त हो गया। कबीर ने धर्म को अत्यन्त सहज, सरल, सात्त्विक और बुद्धिवादि रूप देकर धर्म और समाज का निरुद्ध सबंध प्रकट किया।

इसके अतिरिक्त वातावरण के प्रति कबीर की प्रतिक्रिया भी हुई जिससे वर्णाश्रम के दर्पे इभ के प्रति उनका विरोध मतरुं हो गया। लोक और वेद के अधानुसरण के विरुद्ध उन्होंने बहुत सी खरी खोटी बातें सुनायी और हठयोगियों की करामाता का विरोध करके उहोंने बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का खडन किया।

सिद्धों और नाथों की परम्परा में कवीर

महाना बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त उनके शिष्य-प्रशिष्या में व्यावहारिक पक्ष की मान्यता बढ़ गयी। साथ ही सरल सुगम धर्म साधना के स्थान पर दार्शनिक गुत्थियाँ क सुलभान की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस प्रकार बौद्ध धर्म में मतभेद बढ़ गया और सम्प्रदाय बनाने की भावना का विकास होन लगा। प्रोफेसर वीथू के अनुसार साम्प्रदायिक उथल-पुथल के गर्भ में बौद्ध-धर्म कम से कम छठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो गया उनमें से हीनयान और महायान नामक दो सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध हैं। वास्तव में यान का अर्थ वाहन या यात्रा का साधन है। हीनयान नाम महायान सम्प्रदाय वालों ने ही प्रतिपक्षी सम्प्रदाय को दिया था।

चाहे हीनयान सम्प्रदाय के लोग प्रारम्भ में अपने लिये यह नाम पसंद न करते हो किन्तु उसमें केवल नैतिक प्रवृत्ति वाले व्यव्यक्तियों को ही स्थान दिया जाता था अतएव वह यथार्थवादी, अनन्तवादी और नैरात्म्यवादी ही रहा। इसके विरुद्ध महायान में सभी वर्ण, विचार एवं मत वालों को सरलता से समान स्थान मिल सकता था, अतएव उमें हीनयान की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता एवं गौरव प्राप्त हुआ और वह अधिक मानवीय लोकगम्य, सहज एवं समन्व-मूढक समझा जाने लगा। इन मत ने बुद्ध का देवत्व पर प्रतिष्ठित कर, जातक कथाओं का आधार में वाचिसत्वों की उपासना का प्रेरित किया और बौद्ध-धर्म के मूल ढाँचे को ही बदल दिया।

इन सम्प्रदाय ने मस्कृत भाषा अपनायी, भक्तिवाद एवं तन्त्रोपचार की पद्धतियाँ का समर्थन किया। तत्रवाद के प्रभाव के कारण महायान वाले विभिन्न गुह्य साधनाओं की ओर आकर्षित हुए और गूढार्तगूढ रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के प्रजनन के कारण वे भी कई उपायानों में विभक्त हो गये। जिनमें इतनी

विभिन्नताएं आ गयीं कि यह पहिचानना भी कठिन हो गया कि कभी उनका सम्बन्ध महायान से रहा होगा। उनमें साधना की उलझने, मन्त्रों की जटिलताएं, योग, समाधि, तन्त्रो, मन्त्र तथा डाकिनी-शाकिनी की सिद्धि का महत्त्व बढ़ गया। मन्त्रों में लोगो की आस्था इतनी बढ़ गयी कि मन्त्रों, के विभिन्न प्रयोगों द्वारा ही उनके परिणामों का अनुमान कर लिया जाता था।

इसके समानान्तर ही महायान सम्प्रदाय में वासु-मार्ग की धारा भी प्रवाहित होने लगी जिसकी विकृतावस्था के कहने की आवश्यकता नहीं है। वे बौद्ध साधक जो मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने में विश्वास करते थे और मन्त्रयान सम्प्रदाय का प्रचार करते थे सिद्ध कहलाने लगे। शंकर के आलोक से जब बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त अभिभूत होने लगे तो आन्ध्र शासकों के अनुराग के कारण उनकी राजधानियों (प्रतिष्ठान और धान्यकटक) के निकट श्रीपर्वत उन सिद्धो का प्रधान केन्द्र हुआ। मन्त्रयान सम्प्रदाय धनलोभ होने के कारण विलासिता की ओर प्रवृत्त हुआ और वह उस सीमा तक पहुँची कि वह 'भैरवी चक्र' के रूप में सदाचार की भी अवहेलना करने लगा। अब उसका परिवर्तित रूप वज्रयान हो गया। यह परिवर्तन सन् ८०० ई० के आस पास हुआ और वज्रयान में मन्त्र और योग के साथ मद्य और मैथुन भी सम्मिलित हो गये। आठ सौ वर्ष बाद महायान के सदाचार की यह दशा हुई। सन् ८०० से सन् ११७५ ई० तक वज्रयान सम्प्रदाय अपने दिन देख कर पतनोन्मुख हो गया। आगे चल कर वज्रयान सम्प्रदाय पालु शासकों का आश्रय लेकर विहार से आराम तक फैल गया। वज्रयान के प्रचारकों के प्रसिद्ध चौरानी सिद्धो की भी गणना की जाती है जो अपनी चमत्कारपूर्ण सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे। इनमें प्रायः सभी वर्ष के साधक थे। उनमें शूद्रों की अधिकता थी।

इस कारण इनमें वर्ण और वर्ग भेद की भावना थी। प्रत्येक वज्रयानी साधक एक महामुद्रा के सम्पर्क में अवश्य रहता था। वह किसी नीच जाति की रूपवती स्त्री को अपने लिए चुन लेता था और फिर गुरु के आदेश से उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था। उसके सहवास में रहकर ही उस साधक की हर प्रकार की साधना चला करती थी। उन दोनों की वृत्तियों में साम्य लाने के प्रयत्न सहवास के द्वारा ही किये जाते थे।

इन सिद्धांतों के कारण साधना काम-वासना प्रधान बन गयी। दुष्यसन उनकी साधना बन गये थे। उनके सहवास में समरस' व महासुख' का रहस्य निहित था। इस का दुष्प्रभाव समाज में बड़ी तीव्रता से फैलन लगा।

आग चल कर धीरे धीरे यह वज्रयानी सम्प्रदाय ही सहजयान सम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया। चौरासी सिद्धों में से बहुत से साधना के वास्तविक रहस्य को जानते थे। अतएव उन्होंने साधना के पथ से जटिलता को दूर करके सहज भाव की स्थिति का महत्त्व दिया। इसी कारण उनका सम्प्रदाय सहजयान नाम से अभिहित हुआ। उनके मन से साधना ऐसी होनी चाहिये जो चित्त को विधुव्य न होने दे अन्यथा मिद्धि अगम्भव है। सहजयानियों ने मनयान और वज्रयान में प्रचलित मंत्र आदि बाह्य साधनों की उपेक्षा करके मानसिक शक्तियों के विकास पर ही विशेष ध्यान दिया। उन्होंने अपने पूर्वजों के मूल पारिभाषिक शब्दों का स्वीकार करते हुए भी उनको अपनी व्याख्या से विभूषित किया। इस प्रकार वज्रयान में जो वज्र शब्द पु सद्रिय का प्रतीक था वह सहजयान में उस प्रज्ञा का बोधक बना लिया गया जो बोधिचित्त का सारस्वरूप है।

सहजयान में योग साधना के हेतु गुरु से दीक्षा लेना अनिवार्य था और वह गुरु अपने शिष्यों की अन्तवृत्तियों का परीक्षण करके ही साधना विशेष में प्ररित करता था और उसी के अनुसार वह किसी कुत्र या वग का सदस्य समझा जाता था। बौद्धों के पंचस्वर्ग या मूल तत्त्वा के अनुसार डावी, नयी रजकी चाडाली, और ब्राह्मणों—ये पांच प्रकार के कुल होते थे। वस्तुतः वज्रयान और सहजयान दोनों सम्प्रदायों का लक्ष्य महासुख या पूर्णानन्द प्राप्त करना था। यह समरस दशा सहज ही बड़ी जाती थी। इसी कारण सम्प्रदाय का नाम सहजयान पड़ा।

मिद्धा का समय वि० सं० ७६७ में १२५७ तक माना जाता है। मान्यता तो यह भी है कि सिद्ध परंपरा आग चलकर मन्मथनाथ तथा गोरखनाथ के हाथों में नाथ-पथ के नाम से अभिहित हुई जो बारहवीं शताब्दी के आरम्भ से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही। यही नाथ-पथ सन्तकाव्य का अधिकांश प्ररक रहा। कहने की आवश्यकता नहीं कि मत्स्यनाथ गोरखनाथ आदि सिद्धों की टुकड़ाल के ही सिक्के थे। अतएव सन्त-साहित्य की नींव को वस्तुतः सिद्धों ने ही डाला था।

सिद्धों में वर्ण-भेद के प्रति घृणा थी। आदि सिद्ध सरहपा जो स्वयं ब्राह्मण भिक्षु थे, जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने सहजयान सम्प्रदाय में इसको पतन नहीं दिया। उन्होंने ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहा—
 “ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे—जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो ये भी दूसरों की तरह उत्पन्न होते हैं। तो ब्राह्मणत्व रहा कहा ? यदि यह कहा जाये कि सस्कारवश ब्राह्मण होता है तो फिर चाडाल में भी संस्कार करने दो, वह भी ब्राह्मण हो जायेगा। यदि वेदाध्ययन से कोई ब्राह्मण बन सकता है तो चाडालों को भी वेदाध्ययन करके ब्राह्मण क्यों नहीं बनने दिया जाता ?” इसी प्रकार सिद्धों ने वेदवाद की आलोचना की और कहा—
 “पाठसिद्ध न होने से वेदों की प्रामाणिकता असिद्ध है। वे परमार्थ नहीं हैं क्योंकि उनमें शून्य की शिक्षा ही नहीं है। अतः उन्हें व्यर्थ की बरबाद समझना चाहिए।”

इतना ही नहीं इन सिद्धों ने धार्मिक आचार-विचारों पर भी वाकप्रहार किये और यज्ञादि की व्यर्थता बतलायी। सरहपा ने कहा—“यदि अग्नि में घृत डालने से ही मुक्ति मिलती है तो फिर यज्ञादि सबको क्यों नहीं करने दिये जाते, जिससे सब के सब मुक्त हो जायें। यज्ञ करने से मुक्ति चाहे प्राप्त होनी हो या न होती हो किन्तु दुःख लगने से नेत्रों को तो पीडा पहुँचती ही है।” इसी प्रकार शिवापामकों का उपहाम करते हुए सरहपा ने कहा, “ये शिव के भक्त शरीर में भस्म लगाते हैं, सिर पर जटा धारण करते हैं, दिया जला कर घर में बैठते हैं और ईशानकोण में बैठकर घटा बजाया करते हैं, आसन बाध कर आखे मूदा करते हैं तथा लोगों को व्यर्थ ही धोखा देकर गुमराह करते हैं। बहुत से लोग इनके बहकाने में आ जाते हैं परन्तु जब कोई वस्तु है ही नहीं तो फिर ईश्वर भी एक पदार्थ है और वह भी कैसे रह सकता है ?” इस प्रकार सरहपा और उनके अनुयायियों ने वैष्णव, शैव आदि धर्मों की साधना पद्धतियों का कट्टर उपहाम किया और सहज साधना को ही श्रेष्ठतम साधना मान कर उसी का प्रचार किया।

सरहपा ने चित्त की बुद्धि का अपूर्व साधन ब्रह्मपानियों में प्रचलित योगिनी-मार्ग को माना है। जो उस मार्ग को पूर्णतः समझता है, वहमा अपना चित्त उसी में लगाता है, वस्तुतः उसी को चित्त-बुद्धि प्राप्त होती है। सम्प्रदाय में इसके अनेक नाम हैं। कही यह अवधूनी, कही चाडाली, कही डोबीत या कही

बगली से अभिहित है। यह एक ऐसा राज मार्ग माना जाता है जो वैराग्य से बिल्कुल भिन्न एवं विपरीत है। इसके अनुयायी घर में भार्या के साथ निवास करते हुए भी मुक्त हो सकते हैं। वास्तव में सहजयानी साधना का अन्तिम लक्ष्य चित्त शुद्धि है। इसी से सहजावस्था सुगमता से प्राप्त हो सकती है। जो इस सहज का परित्याग करके निर्वाण प्राप्त करना चाहता है माना वह आकाश कुमुद की गंध सूँघना चाहता है।

सहज साधना में एक चित्त ही सब का बीज रूप है। बधन और मुक्ति का उद्भव यहीं से होना है। कहे की आवश्यकता नहीं कि मुक्त चित्त ही मुक्ति का साधन है। अबद्ध चित्त केवल बधन में डाल सकता है। जड़-जीव जिस चित्त के कारण बधन में पड़ते हैं वही विवक्तियों को मुक्त करता है।

चित्तेकेत अलबोअ भयणिञ्जाणोवि जसविफुरति ।
त चित्तमणित्थ पणयह इच्छा फल देति ॥
चित्ते बज्जे यज्जइ मुखे मुक्कइ पतियसन्वेहा ।
बज्जति जेण विजडा सह परिमुच्चन्ति तेणवि बुहा ॥”

गीता में भी बध और मुक्ति का कारण मन ही माना गया है। जो मनोजित् है वही बड़ा भारी योगी होता है। सहजयान सम्प्रदाय में भी मनका शून्यीकरण इष्ट है। शून्य दशा में मन इन्द्रिय-विषया की अनुभूति नहीं करता अनाद्यन्त होने के कारण वह सब सुख 'अद्वय' कहलाता है। इसी को अमना-करण, नि स्वभावीकरण या मन का मार डालना कहते हैं। कबीर आदि सन्तों का 'अमन' या 'उन्मन' भी यही है। अमनीकरण की स्थिति के अभ्यास को अनेक रूपों द्वारा प्रकट किया गया है। रई धुनने या हरिण की आरवेट के रूपक उनके सुन्दर उदाहरण हैं।

सहजयानी सिद्धा ने अपनी साधना पद्धति में योग की अनेक प्रक्रियाओं का भी स्थान दिया है। प्राणायाम की उस दशा में जहाँ इडा पिंगला मिल जाती हैं अर्थात् दोनों स्वरो से वायु का गमनागमन निरुद्ध हो जाता है, सहज या महामुख का आविर्भाव होता है। इस महामुख-मल क्लिजलक का पान योगी शरीर के भीतर ही प्राप्त कर लेते हैं। वह आनन्द 'मुरत-बीर' के मुख के समान होता है।

हम महामुक्त-कमल के दो खड हैं—'ललना' (चन्द्रानाडी) और 'गुमना' (सूर्यानाडी)। यह पादप नभ रूपी जल में परमानन्दमय प्रकाश-पथ में उत्पन्न होता है। मूल शक्ति उसकी नाल है और अनाहत-ज्ञान उसका रूप है। जहां वायु और मन एक साथ निश्चल हो जाते हैं वह 'उद्धमेस' (सुपुमना का मिरा) है। उसकी कल्पना पर्वत-शिखर के समान की गई है वह महामुद्रा और मूलशक्ति का निवास-स्थान माना गया है। जिस प्रकार वज्रयानियों ने महामुद्रा की साधना में व्यभिचारपरक चित्र प्रस्तुत किये थे, उसी प्रकार सहजयानियों ने भी प्रस्तुत किये। साधक के एवान्तविहार और प्रेम-विलास की अवस्था भी उन्होंने उसी प्रकार चित्रित की, किन्तु अपनी साधना को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने भिन्नार्थ प्रकट किया।

सहजयान सम्प्रदाय में एक युगनद्ध की भावना भी विद्यमान थी। उनकी बोधिचित्त को सबूत अवस्था में ले जाने का विशेष महत्त्व है। बोधि-चित्त का यह पथ इग तथा पिगला-नाडी से होकर मध्या-नाडी सुपुमना से जाता है जिसे हम मध्यमार्ग भी कहते हैं। 'सहजमार्ग' से अभिहित सहजयानियों की यह साधना उजूवाट (ऋजूवाट) अथवा सरल मार्ग के रूप में चित्रित की गयी और विमुक्त सात्त्विक जीवन का मार्ग मानकर उसके द्वारा विश्व-कल्याण तक की प्राप्ति की गयी।

मक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-धर्म सदाचरण की साधना के रूप में प्रारंभ हुआ था उसने परिवर्तनों के गर्भ में अनेक रूप धारण किये, किन्तु वज्रयान में उसका अति विवृत एवं वीभत्स रूप प्रस्तुत हुआ। सहजयान ने अपने प्रयत्नों से कुछ सुधारों को जन्म अवश्य दिया और ये प्रयत्न चौदहवीं शताब्दी तक होते रहे किन्तु वह भी अपनी प्रवृत्तियाँ दूसरे नये सम्प्रदायों को सौंप कर उनमें विलीन हो गया। सहजयान को चाहे वज्रयान की ही एक प्रशाखा मान लिया जावे परन्तु उसके दृष्टिकोण की विशेषता भुलायी नहीं जा सकती। वस्तुतः सहजयान ने ईश्वरवाद की प्रेरणा दी और स्वाभाविक धर्म और आचरण का प्रतिपादन किया।

सिद्धों का साहित्य अनेक सग्रहों में मिलता है। उन्होने किसी सुप्रसिद्ध भाषा को व्यवहार में न लाकर मध्य-सामान्य जन-भाषा का ही प्रयोग किया। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उन्हें भिन्न-भिन्न भाषाओं से सम्बन्धित किया है। कोई उन्हें बगला ना प्रादि कवि कहता है और कोई अवधी का। वस्तुतः वे अप-

शुद्ध के ही कवि हैं। उनकी भाषा प्रमुखतया मागधी अपभ्रंश है। कुछ विद्वानों ने उसे 'सध्या' भाषा कहा है और इन शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। कुछ विद्वानों ने सध्या भाषा उस भाषा को कहा है जिसमें सध्या का आलोक और अधकार दाना का मिलन है अर्थात् जिसमें स्पष्टता के साथ अस्पष्टता भी हो। कुछ विद्वानों के अनुसार सध्या भाषा वह भाषा है जो देश के अधि प्रदेश में बोली जाय। कदाचित् बंगाल और बिहार की सीमा पर निर्मित होने के कारण सिद्ध भाषा को सध्या नाम दिया गया। कुछ विवेचकों ने अभिसन्धि (रहस्य) से सम्बन्धित करके इसको यह नाम दिया है। प० विष्णुशंकर शास्त्री ने इस शब्द को सधा कहा है और उस संस्कृत शब्द सधास (अभिप्रत) का अपभ्रंश रूप मानकर उसका अभिसन्धि सहित या अभिप्राययुक्त भाषा माना है। विद्वानों ने अपने-अपने तर्कों से इन तीनों मतों को काट दिया है। डा० रामकुमार वर्मा ने 'सध्या भाषा' उस भाषा को कहा है जो अपभ्रंश के सध्याकाल में प्रयुक्त हुई। मरी समझ में यह मत भी निर्दोष नहीं है क्योंकि ऐसी भाषा का जन्म उपनिषद् काल में ही हो गया था। बज्रयान ने इस भाषा का पर्याप्त विकास किया और तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में तो कुछ सम्प्रदायों में यह भाषा प्रचलित हो गयी। अबश्य ही सध्या भाषा नाम बहुत बाद का है जो स्पष्टापष्ट दोनों अर्थों का एक साथ ही द्योतन करता है। यह भाषा बज्रयान में छिपा कर कोई दूसरा अर्थ भी देती है। इसी गूढगूढता के कारण कबिर उसका यह नाम दिया गया।

सिद्ध काव्य में गूढता और अगूढता के सवध से एक ही साथ दो रस निष्पन्न होते कहे जाते हैं—शृङ्गार और शान्त। इन दोनों के निर्वाह में ही काशल निहित है। रुढ़िया के खडन, सदाचार के प्रतिपादन और मध्यमार्ग के प्रतिष्ठापन के साथ सिद्धा ने जिम महासुख की गवेषणा की है उसमें नैतिक और मानसिक धरातल पर शान्ति और आनन्द की भावना का विनिवेश है। सिद्ध लोग दुःख और नश्वरता से धरारा कर निराशावाद का आश्रय लेने के समर्थक नहीं हैं। वे तो वास्तव में निराशा में आशा की कान्त किरण दिखला कर महामुख की घोर प्रेरित करते हैं। वे जीवन के सकलन में रस प्राप्त करते हैं विकलन में नहीं। शृङ्गार रसोमिया कही कही अश्लीलता अभिव्यक्त करने लगती है। जिस के मूल में बज्रयानी प्रभाव है।

सिद्धों का साहित्य चाहे साहित्यिक निकष पर पूरा न उतरता हो किन्तु लोक-भाषा के प्रचलन में उनका महत्त्वपूर्ण योग रहा। भाषा की साक्षरता, एक नयी शैली के बीज भी इन्हीं लोगों ने लोक-भाषा में बोये थे।

सिद्ध-साहित्य ने गीतिकाव्य के क्षेत्र में भी अपना योग दिया और जन-मन को आकर्षित करने के लिए दोहा के साथ छोटे-छोटे पदों का प्रचलन भी किया। संगीत साधना के प्रति अभिरुचि होने के कारण कुछ सिद्धों ने तो अपनी रचनाओं को संगीत के घाट उतारने का ही उपक्रम किया। वीणापा नामक सिद्ध की रचनाओं में राग-रागणियों की सहज-संयोजना हुई है।

छन्दों के क्षेत्र में सिद्धों को आचार्य होने का गौरव तो नहीं दिया जा सकता किन्तु दोहा, चौपाई, छण्ड्य आदि छन्दों के प्रचलन में उनका योग अवश्य रहा। उन्होंने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिये तो प्रायः दोहा-छन्द की ही सहायता ली। कुछ लोग भ्रमवश दोहा-चौपाई वाली शैली में प्रबन्ध-काव्य की सृष्टि करने का श्रेय सूफी कवियों को देते हैं किन्तु सरहपा तथा कृष्णाचार्य के ग्रन्थों में इस शैली का प्रणयन स्पष्ट है। इन से भी पहले जैन कवियों ने भ्रम में इस शैली का प्रवर्तन किया था और दस-दस बारह-बारह चौपाइयों के बाद छत्ता, उल्लाला आदि के योग से प्रबन्ध-काव्य लिखने की परम्परा भी उस समय अधिक प्रचलित हो चुकी थी। फिर भी छन्द-साधना में सिद्धों के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता।

इस प्रकार हिंदी की साहित्यिक परम्पराओं के निर्माण में ही सिद्धों का योग नहीं है, अपितु धार्मिक और सांस्कृतिक विचार-धारा की दृष्टि से भी उनका योगदान स्मरणीय है। धर्म के विकास की दिशा में सिद्धों ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। उन क्षेत्रों में नाथ-सम्प्रदाय ने कुछ और प्रगति की। आगे चलकर साहित्य में जिस रहस्यवाद ने व्यवस्थित रूप में अपनी अभिव्यक्ति की वह सिद्ध साहित्य से ही प्रेरित हुआ था। वर्ण और वर्ग के विरोध में समता की, जिस भावना का उदय हुआ हिन्दी का परवर्ती साहित्य उसके मूल्य को नहीं भुला सकता।

नाथ-पथ को भी सिद्ध-साहित्य की ही एक शाखा कह सकते हैं। यह सत्य है कि कुछ सिद्ध नाथ ही थे। त्रिपुरा विषयक तांत्रिक साहित्य के इतिहास में नाथों के नामों का प्राचुर्य है। नाथों की बहुत सी बातें जिस प्रकार वच-

यानिया सहजयानिया तानिका नपुरा धीराचार्यों से मिलती ह उसी प्रकार शवा सहजिया और बाद क वणवा से मिलती ह । महायानियो और तानिका का सम्बन्ध अध्ययन का एक रोचक विषय है । महायानिया का दूयवाद हठयोग तत्र आदि म कसे प्रविष्ट हा गया और बाद क बौद्ध सम्प्रदाया में उसकी व्याख्या कया मे कया हा गया यह भी एक रोचक विषय है । इन मतों का सम्बन्ध रासायनिका क दान से होन के कारण उसका अध्ययन भी आवश्यक है । वणवा क रमवाद पर मिद्धा से सम्बन्धित रहस्य विज्ञान क विकास का बहुत प्रभाव पडा है । यही कारण है कि कबीर जैसे वणव के वाणी प्रवाह म इम परम्परा की लहर छिटक रही ह तो आश्चर्य की क्या बात है ।

वम तो नाथ लोग अपना उत्पत्ति शिव से बतलात ह जिनको वे नाथ कहत ह इसीलिए पथ का नाम नाथ पथ है । साहित्य म नाथ-पथ को सिद्ध-माग या अवधूत माग भी कहा गया हे और इस मत क आचार्यों ने सिद्धि क लिय योगाभ्यास पर विशेष बल दिया है इसलिये यह योग माग नाम से भी अभिहित है । कुछ अशो म कापालिका का भी नाथा से घनिष्ठ संबन्ध है किन्तु वह अपन घाय म एक स्वतन्त्र मत के अनुयायी ह । कहन के लिए तो कापालिक मत के प्रवक्त आदिनाथ ही मान जात ह किन्तु इसके सिद्धान्तों और आचारों म इसका अपनापन स्पष्ट है ।

नाथ पथी अपना मत की दिव्योत्पत्ति म विश्वास करत हुए मत्स्यद्र नाथ का मत प्रवक्त मानत ह । इनका इतिहास अनेक दन्तकथाओं से प्राप्त होत हुए भा यह मानने म बाधा नहीं डालता कि मत्स्यद्रनाथ एक बड़ योगी थ । इनके संबन्ध म यह कहा जाता है कि बड़ी भारी योगशक्ति के होने पर भी ववासना क पाग म पड़ गय, तब उनके शिष्य गोरखनाथ ने उहे बड़ी कठिनता से उससे मुक्त किया ।

मत्स्यद्रनाथ के शिष्या मे योग्यतम गोरखनाथ ही थे । भारतीय महा पुराण म उनका नाम अमर रहेग । वे बड़ भारी सिद्ध ही नहीं आधुनिक हठ योग के अमदाग भी थे । वे मध्यकाल म यौगिक रहस्यवाद के प्रसिद्ध सवालक थे । महामहोपाध्याय हरप्रसाद जी शास्त्री का कहना है कि मूलत गोरखनाथ बौद्ध थे । बाद म वह नाथ हो गय ।

तारानाथ के अनुसार उनका बौद्ध नाम अनगवच था किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार उनका नाम रमणवज्र था । यह सत्य हो सकता

है किन्तु कायाबोध में जो गोरखनाथ की रचना के रूप में प्रसिद्ध है, एक कहावत आती है जिससे वे 'पशुवारम्भक' प्रकट होते हैं। यदि 'आरभ' शब्द बलिदान (Sacrificial slaughter) का वाचक है तो गोरखनाथ नाथ होने से पूर्व बौद्ध कदापि नहीं हो सकते।

गोरखनाथ या मत्स्येन्द्रनाथ का समय निश्चिन्त नहीं है। परम्परा उन्हें कबीर (१५०० ई०) और मधुसूदन सरस्वती (१७०० ई०) में सम्बद्ध करती है, किन्तु शायद इसका कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। ज्ञाननारायण या ज्ञानदेव ने, जिनका होना १३वीं शताब्दी में माना जाता है, अपनी भगवद्-गीता की टीका में अपनी गुरु-परम्परा में उनको तीसरा माना है। यह परम्परा इस प्रकार दी गयी है— १. आदिनाथ, २. मत्स्येन्द्रनाथ, ३. गोरखनाथ, ४. महिनीनाथ, ५. निवृत्तिनाथ और ६. ज्ञाननाथ। इससे गोरखनाथ का १२वीं शताब्दी के आरम्भ में होना सिद्ध होता है। इससे गोरखनाथ और धर्मनाथ समसामयिक और एक ही गुरु के शिष्य भी सिद्ध हो जाते हैं परन्तु कुछ अन्य मतों के अनुसार गोरखनाथ का जीवन-काल ५०० ई०, ७०० ई० या १००० ई० भी माना जाता है। गोरखनाथ के अनेक शिष्य थे। उनमें से बालानाथ, हालिकपूव, मालिपाव आदि प्रसिद्ध थे। राजा गोपीचन्द्र की राजमाता मयनामती गोरखनाथ की ही शिष्या बतलाई जाती है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से नाथ लोग अद्वैतवादी नहीं थे और न, द्वैतवादी ही थे। वे दोनों से भिन्न थे। नाथ को वे परमेश्वर कहते हैं जो सगुण और त्रिगुण से सबंधित विरोध से परे है। उनकी दृष्टि में जीवन का चरम लक्ष्य नाथ रूप में आत्मानुभूति करना और सबंधों की दुनिया से सर्वत्र ऊपर रहना है। इस अनुभूति का मार्ग योग बतलाया गया है जिस पर उनकी प्रमुख बल रहता है। नाथों की यह धारणा है कि योग के बिना सिद्धि प्राप्त नकरना असंभव है। सिद्धिसिद्धान्त पद्धति, जिसे कुछ लोग गोरखनाथ की कृति बतलाते हैं और कुछ नित्यनाथ की, तो यहाँ तक कहती है—

“सन्मार्गश्च योगमार्गं, तदितरस्तु पाषण्डमार्गः।”

योग की चाहे कुछ भी परिभाषा रही हो किन्तु अपने नाम के समय से ही हठयोग की परिभाषा बही है। सि० सि० पद्धति में उसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

हकर कीर्तित सूर्यंष्टकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ॥”

ब्रह्मानन्द के अनुसार यहाँ सूर्य और चन्द्र क्रमशः प्राण और अपान के प्रतीक हैं और उनका योग ही प्राणायाम है जो वास्तव में हठयोग का अर्थ है । वामु विजय (प्राण निरोध) ही हठयोग का मार है ।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस प्रकार का प्रचलन भारत में माना ने किया था । हठयोग प्रदीपिका (१४) में कहा गया है कि इस योग का रहस्य केवल मत्स्य-द्रनाथ और गोरक्षनाथ को ही विदित था । ब्रह्मानन्द ने जालन्धर भर्तृहरि और गायत्रीचन्द्र के नाम और जोड़ दिये हैं । इन सब लोगों का संबंध नाथपंथ से था । अतएव यह संभव है कि गोरक्षनाथ, या अधिक संभवतः मत्स्य-द्रनाथ हठयोग के आदिम प्रचारक थे । इसका इस उक्ति से कोई विरोध समझने की आवश्यकता नहीं है—

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै यतोपदिष्टा हठयोगविद्या (ह० यो० प्र० १-१) क्योंकि प्रत्येक विद्या एक प्रकार से परमेश्वर से निकली हुई कही जा सकती है ।

हठयोगविद्या की नींव नाथों ने डाली, इसका निणय करना कठिन है क्योंकि एक अन्य परम्परा के अनुसार हठयोगियों के दो सम्प्रदाय हैं—एक प्राचीन और दूसरा आधुनिक, जिनकी नींव क्रमशः मार्कण्डेय और नाथों ने डाली—

“द्विधा हठ स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधित ।

अन्यो मृकण्डपुत्रार्थं साधितो हठसत्तक ॥”

मार्कण्डेय द्वारा प्रवर्तित हठयोग में अष्टांग की मान्यता है किन्तु दूसरे सम्प्रदाय ने हठयोग में स-यम-नियम को निकाल कर उसे पड़ङ्ग बना दिया । यदि इस परंपरा में कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो यही कहना उचित है कि नाथों ने प्राचीन मृतप्राय विद्या को पुनर्जीवन दिया । यह मत अधिक ग्राह्य भी लगता है ।

अब प्रश्न यह है कि जब राजयोग पहले से ही उन्नत दशा में था तो हठयोग के पुनर्जीवन की क्या आवश्यकता थी ? यह तो स्वयं सिद्धों ने भी

स्वीकार कर लिया था कि अपने पूर्णतम रूपों में भी हठयोग राजयोग का केवल सहयोगी या मोपान है। पतंजलि का योग प्रमुखतः राजयोग सिद्धान्तों पर आधारित है। इसी प्रकार जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में मान्य योग भी राजयोग पर आधारित है यद्यपि हठयोग की सरल क्रियाओं की उपयोगिता इन सभी ने स्वीकार की है।

हठयोगियों का ऐसा विश्वास है कि साधारण लोगों के लिए जिनका मन पर बिल्कुल अधिकार नहीं, राजयोग का अभ्यास असम्भव है। मन्त्रयोग ध्यान-योग का अभ्यास यदि समुचित रूप में किया जाये तो राजयोग की सिद्धि तक पहुँचा सकता है किन्तु इनको भी सशक्त बनाने के लिए मनो-योग या मन-साधना की आवश्यकता है जो साधारण भक्ति की शक्ति से बाहर की चीज है। मगर हठयोग की नीव शरीर की कुछ यांत्रिक क्रियाओं पर होने से उसी को एकमात्र वैज्ञानिक योग कह सकते हैं और सामान्य व्यक्ति के लिए उनकी सुगमता भी स्वयं सिद्ध है क्योंकि इसकी साधना में किसी प्रकार की मानसिक शक्ति, जिसकी अन्य प्रकार के सभी योग में थोड़ी-बहुत आवश्यकता रहती है, अनिवार्य नहीं है।

यह तो प्रारम्भ में ही कह दिया गया है कि हठयोग का सार प्राण-विजय है और हम देश के सभी लोग यह मानते हैं कि बिन्दु- (वीर्य), वायु (प्राणवायु) तथा मन का एक दूसरे से गहन-संबंध है। इससे किसी एक के निरोध से शेष दो अपने आप निरुद्ध हो जाते हैं। हठयोगी अपनी साधना का आधार ब्रह्मचर्य या वीर्य-निरोध मान कर चलते हैं। अतएव उनकी साधना का प्रथम सोपान वायु निग्रह बनता है और उससे वह मनोनिग्रह में प्रवृत्त होते हैं। समग्र क्रियाओं और प्रयत्नों का सार यही मनोनिग्रह है। वायु-निग्रह को सरल बनाने के लिए आसन, मुद्रा और नादानुसंधान की आवश्यकता बतलायी जाती है।

आसन का निरन्तर अभ्यास शरीर को हल्का, स्वस्थ और दृढ़ बनाता है। एक बार इन गुणों के उपलब्ध हो जाने पर स्वभावतः उनकी प्रतिक्रिया मन पर होती है। मुद्रा का अभ्यास कुंडलिनी शक्ति को जगाने के लिए अभिप्रेत है क्योंकि उसकी सजग प्रेरणा के बिना कोई भी चिदनुभूति असंभव है और नादानुसंधान या नादानुसंधान का सीधा संबंध मन से है। इससे मन की चंचलता नष्ट होकर वह स्थिर होता है।

जैसे ही मन निश्चल होता है तथा वायु-ब्रह्मरन्ध्र में विलीन होती है कि उस वातावस्था का उदय होता है जिसे लय, मनोन्मत्ती या सहजावस्था कहते हैं। यह परमानन्द की अवस्था होती है। इस सबध में यह ध्यान देने की बात है कि उक्त अभ्यास या प्रक्रियाएँ एक-दूसरी से संबन्धित हैं।

नादानुसंधान समुच्चिन रूप से तभी हो सकता है जबकि चेतन हृदय से उठनेवाली अविरल आन्तरिक शब्द-धारा जब श्रवणीय बन जाय। यह शब्द वास्तव में तभी सुनायी पड़ सकता है जबकि वायु सुषुम्ना और उसकी अनेक प्रशाखाओं में प्रविष्ट हो जावे। इसके लिए नाडी-शोधन भी आवश्यक है। जब नाडियाँ परिशुद्ध हो जाती हैं तो अनाहतनाद सुनायी पड़ने लगता है इनकी शुद्धि के लिए आसन और मुद्राओं की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत आसन-सिद्धि उस समय तक अगमभव है जब तक कि शरीर के स्वा-यित्व के विरोधी सूक्ष्म कारण पूर्णतः दूर न हो जायें।

गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग पद्धति का प्रचार किया वह प्राचीन परंपरा से विरोधता भिन्न नहीं है। वस्तुतः हठयोग में बड़ी उत्कृष्ट प्राणविद्या निहित है। गीता, गोरक्षसहिता एवं हठयोग प्रदीपिका में हठयोग के महत्त्व के प्रतिपादन के साथ उसे राज-योग की आधार-शिला कहा गया है। आसन, मुद्रा और प्राणायाम की सिद्धि के साथ ही साथ हठयोग समग्र सृष्टि में परिव्याप्त महाकुण्डलिनी शक्ति को भी प्रधानता देता है। हठयोगियों का कहना है कि गर्भ में जीव इसी कुण्डलिनी और प्राण-शक्ति के साथ प्रविष्ट होता है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट ही रहती है। वह मेरुदण्ड में स्थित त्रिकोणचक्र के स्वयम्भू लिंग का साढ़े तीन बलयों से परिवेष्टन किये हुए है। कुण्डलिनी या सर्पिणी की भाँति साढ़े तीन बलयों में स्थित होने से यह कुण्डलिनी कहलाती है।

अनेक मुद्राओं और क्रियाओं का लक्ष्य कुण्डलिनी जागरण है जिसका सबध, आसना की सफलता से है। वस्तुतः इन सब यांत्रिक क्रियाओं (Mechanical devices) का लक्ष्य केवल उस दिव्य शक्ति की मुक्ति और सक्रियता है, जो मनुष्य के भीतर भौतिक भार से दबी हुई सुषुप्त एवं निष्क्रिय पड़ी है। सुषुम्ना का यह मार्ग साधारणतया अवरुद्ध रहता है। योगी अपनी साधना से उसे भाँफ कर देता है।

नाथों के योग का विशेषता यह थी कि उसमें मयन के काविक पक्ष पर विशेष बल दिया गया था । इसका सबब शारीरिक नाडी विषयक तथा प्राणतंत्री मन्वी ज्ञान में विशेष है । नाथों का सामान्य सिद्धांत उन भौतिक तत्त्वों का ज्ञान है जिनको हम जाग्रत अवस्था में स्थूलतम रूप में पाते हैं और सम्प्रज्ञात या तथाकथित सस्मिता-मनाधि में मूहमतम रूप में अनुभव करते हैं । भौतिक तत्त्वों में आवृत्त जीवात्मा का ज्ञान जगत् में प्रावृत्त विश्वात्मा के ज्ञान से अभिन्न है केवल सीमाओं के सावधानी से निवारण करने की आवश्यकता है । हठयोगियों के मत से उनके निवारण का निश्चित एवं मत्वर मार्ग वायु को क्रमशः उस समय तक अर्ध्वगामी बनाना है जब कि मूहस्त्रहल-हम्मन् के उच्चतम तत्त्व पर चेतन तत्त्व में विहङ्ग-नच्च की प्राप्ति न हो जाये ।

आत्मा पर दुहरा आवरण पड़ जाता है—एक तो भूतस् का और दूसरा मनस् का । मन शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया गया है जिसके अन्तर्गत बुद्धि, अहंकार आदि भी आ जाते हैं । इन्द्रिया मन का व्यापारिक रूप हैं । भूतस् शब्द सापेक्ष सन्तुलन की अवस्था में पदार्थों का वाचक है । इसके अन्तर्गत पचतन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध आ जाते हैं । प्रत्येक तन्मात्रा का अपना केन्द्र होता है जहाँ विकास और संकोच की योग्यता रहती है । चेतना के भूतस् में आवृत्त होते ही मन अपना विकास इन्द्रियों में करता है । इन्द्रिया पदार्थ ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं करा सकती । इन्द्रियों में विलग किया हुआ मन ही अतीन्द्रिय ज्ञान का उद्भव करा सकता है । मन इन्द्रियों से जितना विलग होगा ज्ञान उतना ही शुद्ध होगा । मन के विलगीकरण का अभिप्राय ही ध्यान और उसकी शुद्धता है । स्थूल भूत से आविष्ट मन स्थूल—इन्द्रियावद्ध कहलाना है । इस दशा में वायु की गति भी सरल एवं अर्ध्व नहीं होती ।

शरीर में वायु को तिर्यक् गति तिर्यक् मार्ग की आवश्यकता पंदा कर देनी है । इसी का पारिभाषिक नाम नाडीचक्र है जो अनेक नाडियों की गुत्थियों में बनता है । ये नाडिया शरीर में विभिन्न दिशाओं में जाती हैं । सुपुम्ना को छोड़ कर जो शुद्ध वायु की सरल गति का केन्द्रीय मार्ग है, अन्य नाडियों को सुपुम्ना के साथ उनकी स्थिति के रावध में स्थूल रूप से दो वर्गों में बाट सकते हैं—दाया और बाया । साधारण मनुष्य के शरीर में मन और

क्यों इन्हीं चक्रदार मार्गों में से प्रवाहित होते हैं। यह यमन मनुष्य सप्ताह है।

सुषुम्ना के मार्ग में छ चक्र स्थित हैं जिनको भेदन करके वायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है। पहला चक्र 'भूलाघात' है जो बुद्धि और जननेन्द्रिय मध्य स्थित है। इसका आकार चतुर्दल कमल का सा है। इसमें एक सुनिवास करता है। दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है जो जननेन्द्रिय के मूल में है। यह पद्मकमल है। तृतीय 'नाभिचक्र' तीसरा चक्र है। यह दशदल कमल है और नाभि प्रदेश में स्थित है। चौथा 'हृदय-चक्र' हृदय प्रदेश में है। यह द्वादशदल कमल है। सोनह दलों का विशुद्ध चक्र कठ स्थान में है और छठवाँ चक्र 'आज्ञा-चक्र' है। इसे आवाश चक्र भी कहते हैं। यह केवल द्विदल कमल है और भ्रुकुटी मध्य में स्थित है। यही पट्ट चक्र है। इन सबके ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार चक्र है वह सहस्र दल वाला यमन है जिसे सहस्रदल कमल कहते हैं। यही शिव का स्थान है और शक्ति यही शिव से मिलती है।

नाथों का जोर तो इस बात पर भी रहता है कि यदि परमेश्वर का प्राप्त करना है तो केन्द्रीय मार्ग जो सगर में नदी की भाँति उसमें मिलता है मालूम करना चाहिए। अन्य सब मार्ग भ्रामक होंगे क्योंकि वे स्थूल पदार्थों से बने हैं। भौतिक मन की अनेक धाराएँ—इन्द्रिय वृत्तियाँ तथा भौतिक वायु की विभिन्न धाराएँ—प्राणतत्त्व जैसे ही एक बिन्दु पर तीव्रता से मिलते हैं तब शक्ति की गहन शक्तियों का व्यञ्जक तीव्र प्रकाश होता है। शक्ति की यह अभिव्यक्ति ही कुरुक्षेत्री का प्रकाश एव भूतस् से उभरकर आशिक मोक्ष है शक्ति का यह आविर्भाव, आशिक हाते हुए भी अविरलता से बढ़ता है और परम तत्त्व की भस्मीभूता में विलीन हो जाता है। इस तिरोभाव का अर्थ विनाश नहीं है, केवल बिलय या ऐक्य है।

शक्ति की अनन्तता ही उसकी परमता है, शक्ति, चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त, एकता है। नित्य व्यक्त शक्ति ही ब्रह्म है, और उनी का दूसरा नाम शक्ति है। वह कम धीर भूत में मुक्त है किन्तु यह सत्य है कि इस शक्ति के एक अन्त को भूतम निगमण कर लेता है और ऐसी प्रतीति होती है मानो उसके मन से उसने अपनी एकता खो दी हो। नाथों का यह वाक्य है कि एक मात्र सद्गुरु अपनी सक्रिय शक्ति के द्वारा जो वास्तव में शिवेतर नहीं है, अपने

की मुमुक्षु शक्ति को सचेत कर सकता है। शिव और शक्ति का अन्तर तुल्य भेदहीन अन्तर है। इस संबन्ध में कहा गया है—

“शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।

अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव१ ॥”

यह एक रहस्य है कि भौतिक तत्त्व शक्ति को कैसे आवृत कर लेता है। मगर यह सत्य है कि एक बार शक्ति के अनावृत हो जाने पर वह उस तत्त्व विश्व-कारण में खिच आती है जो मुक्त है।

भौतिक तत्त्व ही शिव और शक्ति में भेद पैदा कर देता है। इन कारण इसके अतिशय हो जाने पर तथाकथित भेद विगलित हो जाता है। अस्तव मे भौतिक पदार्थ कुछ नहीं है, परम तत्त्व से जीव के विप्रकर्ष के कारण प्रामाणिक प्रतीति है। यह परम तत्त्व शिव और शक्तिस्वरूप है। जब शिव और शक्ति का ऐक्य हो जाता है तो यह भ्रम नष्ट हो जाता है। योग का अर्थ इसी ऐक्य की प्रतिष्ठा है। तांत्रिक और नाथिक साहित्य में जो श्रु गारिक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं उनके भीतर भी इसी एकता का रहस्य निहित है।

जब तक जीव भूतम् से आवद्ध रहता है शिव को नहीं जान सकता, उसे आत्मानुभूति नहीं हो सकती। यह तभी संभव है जबकि उसकी शक्ति मुक्त हो जाये। शक्त्यावरण का अभिप्राय है (१) अपने कारणभूत शिव से विच्छेद (२) भूतम् के अन्ध गर्भ में उसका (जीव का) निगमन तथा (३) अन्त में अदृश्य प्रकाश के उम गहन लोक में निगमन हो जाना जो भूतस के कारण पैदा हो जाता है। पहली और दूसरी स्थिति 'प्रकृतिलीन' दशा है। यह सृष्टि से पूर्व की स्थिति है। तीसरी स्थिति प्राकृतिक वधन की दशा है। इसमें भौतिक सापेक्षिक (Relative) शक्तियों का सन्तुलन बिगड़ जाता है। उदाहरण के लिए वायु ही ले सकते हैं जो इस शरीर में विषमाचार करती है। इसी प्रकार अन्य भौतिक शक्तिया भी हैं।

इस विषमता के निवारण के लिए योगी के अनेक साधन होते हैं। स्वाभाविक ढंग से भी यह विषमता कभी-कभी चाहे एक क्षण के लिए, ही सही, दूर हो जाती है। इसको 'सधि-क्षण' कहते हैं जो पूर्वकालीन साहित्य के

निरोध क्षण से मिनता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस क्षण का बल बढ़ाया जाय। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि—प्राणवायु के प्रवाह को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—दक्षिण प्रवाह तथा वाम प्रवाह। ये दोनों धाराएँ पाजिटिव तथा निगेटिव के रूप में विरोधी हैं किन्तु एक दूसरी को पूरक हैं। सिद्धो और नाथा के साहित्य में इन धाराओं को सूर्या और चन्द्रा भी कहते हैं। इन्हीं को हठयोग में क्रमशः पिमला और इडा के नाम से अभिहित किया जाता है।

कुछ साधना के द्वारा इन सूर्य और चन्द्र शक्तियों का निरोध सहज या मध्यमाग के खुलने में सहायक होता है। इस माग को सुपुम्ना नाडी ब्रह्म नाडी या शून्य नाडी भी कहते हैं। इस माग के खुलते ही (जो अब तक अवरोध परा था) बिंदु वायु और मनस त्रियायोग से सूक्ष्म होकर इसमें प्रवेश करके ऊर्ध्व गामी होत हैं। कुण्डलिनी का जाग्रण मध्यमाग का खुलना वायु और मन की शुद्धि प्रज्ञा का उदय ग्रहकार और अविद्याप्रिय का विनाश—य नाम एक ही क्रिया के भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से रख गये हैं। यह क्रिया एक दम सम्पन्न नहीं हो जाती क्योंकि युगों की संचित वासना का विनाश धीरे धीरे ही होता है। इस प्रक्रिया में समय लगता है। तत्र शब्दावली में नाथ लोग इसे पटचक्रभेद कहते हैं। यह प्रक्रिया नियत माग की क्रमिक ऊर्ध्वगति है जो पाश्चात्य रहस्यवादियों की विरेचन प्रक्रिया (Purgative process) तथा तांत्रिकों के उपासना कांड की भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि से मिलती है।

ब्रह्म के सूक्ष्म माग (ब्रह्म नाडी) को वैदिक ऋषि भी जानते थे। छोटे उपनिषदों के अतिरिक्त इसके ज्ञान का प्रमाण छांदोग्य उपनिषद में भी है जिसमें एक कर्त्रीय नाडा का उल्लेख आया है जो हृदय से मूर्धा तक जाती है। स्पष्टतः यह नाडी सुपुम्ना है। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि मनक ऊर्ध्वगमन के संबंध में चार भिन्न मत हैं। इनके अनुसार

१ अमराग शासन of गोरक्षनाथ—यत्र च मूलभगमण्डलान्ते कुण्डलिनी शक्तिविनिगता तत्र वामभागोदभव सोमनाडिका दक्षिणभागोदभव सूर्यनाडिका, चन्द्रो वामाङ्गव्यापक सूर्यो दक्षिणाङ्गव्यापक चन्द्रो वामाङ्गो वामनासापुट सूर्यो दक्षिणाङ्गो दक्षिणनासापुट—इयव सूर्यचन्द्रो व्यवस्थितौ।

-चार भिन्न स्थान ठहरते हैं जहाँ से मनका ऊर्ध्वगमन होता है—(१) मूलाधार चक्र, (२) नाभि, (३) हृदय तथा (४) भ्रूमध्यभाग ।

वैदिक मंत्रों के अनुसार मन का ऊर्ध्वगमन हृदय से होता है किन्तु नाथा ने मूलाधार और नाभि से माना है । प्रत्येक दशा में वह स्थान सूचित होता है जहाँ मन और वायु एकरूप होते हैं । बड़े ध्यान के पश्चात् यह मार्ग व्यक्त होता है । आलंकारिक भाषा में इस प्रकार पथ का एक मिरा ईश्वर या गुरु का सूचक है और दूसरा सिरा प्रकाशित जीव या शिष्य का और स्वयं मार्ग दोनों के संबन्ध का । निरन्तर अभ्यास में दोनों मिरा का अन्तर कम होता चला जाता है और योग-शक्ति बढ़ती चली जाती है । अन्त में मार्ग समाप्त हो जाता है और ईश्वर एवं जीव अथवा शिव और शक्ति का मिलन हो जाता है । इस मिलन को 'दोनों की एकता' भी कह सकते हैं क्योंकि दोनों तत्त्वों का अन्तर मिट जाने से अभेद सिद्ध हो जाता है ।

यही शिव शक्ति सामरस्य है जो आनन्द रूप में व्यक्त होता है । आनन्द ज्ञान से प्राप्त होता है और योग की सहज अभिव्यक्ति ही ज्ञान है । यह ज्ञान पुस्तक-ज्ञान से भिन्न होता है । पुस्तकों से प्राप्त भौतिक ज्ञान को नाथा ने हेय माना है क्योंकि वह भारमात्र होता है जो केवल अवकार में डालकर भ्रान्त करता है प्रकाश नहीं देता ।

वास्तविक ज्ञान योग के बिना प्राप्त नहीं होता । बौद्धिक ज्ञान से मुक्ति नहीं होती । इसीसे योगबीज (६४) में कहा गया है—'योगन रहित ज्ञान मोक्षाय नो भवेत्' - वास्तव में इतिहास में कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जो यह प्रकट करते हैं कि योग के बिना ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । असित, जनक, तुलाधार, धर्मव्याध, पैलवक, मंत्रेयी, सुलभा, शाङ्गी, शाङ्गिनी आदि के नाम इस सब में विशेष उल्लेखनीय हैं ।

सिद्धों ने योग पर इतना बल इसलिए दिया है कि उसके बिना भौतिक शरीर पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकता । कायिक परिमितियों से ऊपर योगी के सिवा कोई और नहीं उठ सकता । जब तक कायिक परिमितियाँ या बन्धन रहते हैं मानसिक स्वैर्य और आलोक संभव नहीं है क्योंकि कायिक परिमितियों का संबन्ध वासनाओं और भौतिक परतन्त्रताओं से है । यह काया-

जाल अनेक व्याधिया का कारण है। यह पचतत्त्व से प्रभावित होता है शीत और धूप म विघ्न होता है और क्षय एव मृत्यु का शिकार बनता है। योगियो का दावा है कि योग से इन सब दुबलताया का निवारण हो सकता है।

ताया क सिद्धान्ता के अध्ययन म कायिक शुद्धि को नहीं भुलाया जा सकता। योगी लोग उक्त दुबलताया से युक्त शरीर को अपक्व कहते ह। शारीरिक मग्ध से दुख की अनुभूति हाती है और आत्मा की सहज शक्ति आच्छन्न होती है। साधारण मनुष्य बड़ तप से भी इंद्रियो और वासनाओं का दमन नहीं कर सकता। प्रयत्न करने पर भी मनुष्य के मन को प्राकृतिक तत्त्वा का प्रभाव विक्षुब्ध कह ही देता है। ऐसा ही मनुष्य परिस्थितियो का दास कहलाना है। स्थूल भौतिक शरीर स सबधित दुबलताओ को तथाकथित ज्ञान दूर नहीं कर सकता। इसीलिए योगद्वारा शरीर की शुद्धि और परि पक्वता की आवश्यकता होती है।

शारीरिक शुद्धि का सबध शारीरिक अमरता से भी है। इस अमरता पर नाय बहुत जोर देते ह। उनका मत है कि यदि स्थूल कायिक दोषो का परिहार हो जाय तो शरीर रोग क्षय एव मृत्यु से मुक्त हो सकता है। वह हलका हो सकता है विचार की ताब्रता से वह आकाश म चल सकता है इच्छानुसार कोई या कितने भी रूप धारण कर सकता है। किसी भी दीवार मे टाकर निकल सकता है परवर म प्रविष्ट हा सकता है जल म अक्षिप्त (undrenched) रह सकता है अग्नि उसको जला नहीं सकती और बाण उसको सुग्रा नहीं सकती। वह मामन आकर भी अदृश्य हा सकता है। उत्तम सक्व और विकाम की योग्यता आ जाती है और भूतजय के फलस्व रूप उसम सब शक्तियो का समावेश हा जाता है। इस प्रकार का शरीर देव दुलभ होता है। यह शरीर आकाश स भी अधिक शुद्ध होता है। सिद्धकाय दिव्यदेह योगदेह आदि धनक नामो से एमे शरीर का अभिहित किया जाता है और इस परिवर्तन की प्रक्रिया (process) को देहवेध पिण्डस्थैह्य, पिण्डधारण आदि नामा से पुकारते ह।

इस सबध म यह बनलाने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक युग और देश क रहस्यवादी अमर काया की इच्छा करते रहे ह। हठयोग रसायन और तंत्र से सम्बंधित साहित्य म इस प्रकार के शरीर के बहुत से उल्लेख

मिलते हैं। यह कहा जाता है कि जिस प्रकार नौहवेध हो सकता है उसी प्रकार दहवेध भी हो सकता है अर्थात् जिस प्रकार नौहों का सोना बनाया जा सकता है उसी प्रकार कुछ साधना से प्राकृतिक गरीर को अमर बनाया जा सकता है। प्राचीन रामायणियों के पास कायाकल्प के उनके अपने साधन थे। जिनमें पारा भुम्भुड गंधक आदि का अणु प्रमुख होता था। इस शरीर को वे रममयी तनु और हरगोरीसष्टिजा तनु कहते थे यद्यपि यह रम या पारा (हरधानु या हरमष्टि) और भुम्भुड (गोरीधानु या गोरीमष्टि) का परिणाम होता था^१।

रसायनिका को जो सिद्धि पारा धातु से अभिप्रेत की जाती है उसी को वायु नियंत्रण से अभिप्रेत थी। इसीलिए कहा गया है कि वह कमयोग जिससे शरीर की स्थिरता प्राप्त की जाती है उस और पवन नाम से दो प्रकार का माना जाता है^२। प्रसिद्ध महायानी नागार्जुन यह कहा जाता है बड़ा भारी रसायनिक था जिसने अद्भुत शक्तियाँ सिद्ध कर रखी थीं। वह तान्त्रिक और सिद्ध योगी भी था। उनके बहुत से अनुयायी भी उसी के समान यशस्वी थे। नाथ लोग स्पष्टतः नागार्जुन और उसके सिद्धान्त में प्रभावित हुए थे। कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि नाथ लोग का हठप्रक्रियाओं और रसायनशास्त्र के ऊपर समान रूप से अधिकार था।

हठ और रसायन, दोनों की प्रक्रियाओं में एक ही प्रकार की परिमितियाँ हैं। वे शरीर को गुद्ध अमर और मुक्त बना देती हैं किन्तु अपनी सीमाओं को पार किए बिना मन को स्थिर और शांत नहीं बना सकती। वे जीवन मूर्ति का उदय करती हैं जिसमें मन और वायु (प्राण) सहस्रार की गुह्य व्यापक व्याप्ति से प्रकाशित आज्ञाचक्र में स्थिर हो जाते हैं। यह स्थिति दीर्घकाल तक रहती है और इस बीच में उपासना या राजयोग की दशा, जो उसके पश्चात् स्वभावतः प्राप्त हो जाती है मन को धीरे-धीरे अनंत में विलीन कर देती है। इससे यह स्पष्ट है कि हठयोग और रसायन

^१ देखिये रसहृदय

^२ रसश्च पवनश्चेति कमयोगो द्विधा स्मृतः ।

की क्रियाओं के अन्त में ही राजयोग का वास्तविक क्षेत्र प्राप्त होता है^१। राजयोग की ममाप्ति पूर्णप्रज्ञा के अन्तिम प्रकाश में होती है। जिसकी प्राप्ति शूद्र शरीर और मन (यथा मिथ्य शरीर की दशा) में ही होती है। प्राकृतिक एवं दूषित काया प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए अयोग्य होती है, यहाँ तक कि उससे अटूट ध्यान भी नहीं हो सकता।

गोखनाथ ने एक 'केवल' तत्त्व की भावना की है जो परमात्मा से अभिन्न है। वह भाव और अभाव, दोनों में परे है। उसका नामकरण तक नहीं किया जा सकता—

“वस्ती न दून्य न वस्ती अगर अगोचर ऐसा।

गगन सिखर महि बालक बोलहि बाका नाँव धरहुमे कंसा ॥”

—(गोरखबानी)

इस 'केवलावस्था' की प्राप्ति ही जीव का मोक्ष है। इसकी साधना की विवेचना संक्षेप में इस प्रकार की गयी है—

“शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके यदि वायु के गमनागमन के मार्ग को भी अवरुद्ध कर लिया जाय तो उसका व्यापार चामठ, सिद्धियों में होने लगता जिससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक ऐसी सूक्ष्मता सिद्ध कर लेगा कि उसकी आया भी नहीं पड़ सकेगी—

“अवधू नबघाटी रीकि लै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट ।

काया पलटे अबिचल विध, छाया विवरजित निपजै सिध ॥”

—(गोरखबानी)

गोरखनाथ ने 'वासना' को विनाश का मूल कारण माना है। उनकी ता है कि यदि साधक को वासना ने छू भी लिया तो फिर वह पीछे लप गी है। वह सारी साधना को नष्ट कर देती है। कहते हैं—

^१ तस्मात् दिव्यदेह सम्पाद्य योगाभ्यासवशात् परतत्त्वे दृष्टे पुरुषार्थ-प्राप्तिर्भवति।

देखिय—सर्वदर्शन सग्रह, रसेश्वर भाग । यहाँ 'योग' का अर्थ स्पष्टतः राजयोग है।

“नदी तीरे बिरिखा, नारी सगे पुरिखा,
 श्रलप जीवन की आसा ।
 मन थं उपजी मेर खिसि पडई,
 तापं कंद बिनासा ।
 गोड भये डगमग, पेट भया डीला,
 सिर बगुना की पखिया ।
 ग्रमी महारस बाधणि सोस्या ॥”

—(गोरखदानी)

इस वामना का विनाश वैराग्य भावना के बिना कदापि संभव नहीं है। वैराग्य को सुदृढ़ करने के लिए इन्द्रिय-विषयो से पराङ्मुख होना आवश्यक है। जब तक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से इन्द्रिया अपना सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् जब तक ऐन्द्रिय विषयो के प्रति आमन्त्रित रहती है तब तक वैराग्य-भावना कैसी ? इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह और वैराग्य-भावना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः वैराग्य-भावना से ही इन्द्रिय-निग्रह होता है। और तभी प्राण-साधना और मन साधना बन सकती है। यही हठयोग-साधना का मूल रहस्य है। गोरखनाथ का कहना है—“हठयोग साधना से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाने पर अनाहतनाद सुन पड़ता है जो समस्त सार तत्वों का मार और गभीर से भी गभीर है। इसीसे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है जो अपनी स्वसवेचना के कारण अनिर्वचनीय है। उस स्थिति में ब्रह्मसाक्षात्कार के सिवा सब कुछ असत् और व्यर्थ प्रतीत होता है—

“सारमसार गहर गभीर गगनउचलिया नाद ।
 मानिक पापा केरि लुकाया भूटा वादविवाद ॥”

—(गोरखदानी)

इस प्रकार गोरखनाथ प्राणप्रक्रिया प्रधान योग-साधना को वेदाध्ययन से अधिक महत्त्व देते हैं। सर्वसाधारण के लिए यह सरलतम साधना है। इससे परमात्मा आत्मा में उसी प्रकार गोबर होने लगता है जिस प्रकार जल में चन्द्रबिम्ब। इससे शरीर भी शुद्ध होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

गोरख-साधना के प्रथम सोपान पर मनोधारण और संतजीवन-यापन की प्रतिष्ठा है। पहले के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक रूपों का उपयोग किया

हैं जिसमें मन मृग के आखेट की चर्चा है। जो मनको मार लेता है वही सन्तो द्वारा मरजीवा कहलाता है।

गोरखनाथ क समय तक तप का मूल्य आका जाता था किन्तु उन्हाने अपनी साधना में जिम जाप की प्रतिष्ठा की उसमें जीम और माला की आवश्यकता नहीं रहने दी। गोरक्षपद्धति में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुन ।
हसहसत्यभु भत्र जीवो जपति सर्वदा ॥'

—(गोरखदानी)

श्वास प्रश्वास के साथ चलन वाला यह आत्म-चिन्तन ही नाथ पथियों का अजपाजाप है। इसे उन्हाने अजपा गायत्री कहा है—

'अजपा नाम गायत्री योगिना मोक्षदायिनी ।
अस्या सकल्पमात्रेण सबपारं प्रमुच्यते ॥'

साधना की अन्य क्रियाएँ इस जप में कोई व्याघात उपस्थित नहीं कर सकती, हा, थोड़ा म अम्याम की आवश्यकता अवश्य होती है। फिर तो यह जाप गुप्त रूप से निरन्तर स्वतः ही चला करता है। इसी की ओर संकेत करते हुए गोरखनाथ ने कहा है —

'ऐसा जाप जपो मन लाई ।

सोऽह है अजपा गाई ॥'

—(गोरखनाथ)

इस जाप से साधना की दो प्रकार से सहायता मिलती है—एक तो मन की त्ति पशु होती है और दूसरे ब्रह्म भावना के उत्कर्ष से आत्मनिरति सिद्ध होती है। इसी को घटावस्था की मिद्धि कहते हैं—

'घरही रहिबा मन न जाई दूर । अहनिंसि पीवं जोगी बास्नीसूर ॥

स्वाद बिस्वाद बाई माल छीन । तब जानिबा जोगी घट काल छीन' ॥'

आत्म चिन्तन गोरख-साधना का मूल मंत्र है। आत्मा के सिवा गोरखनाथ को कोई भी मूल्य वस्तु आकषक प्रतीत नहीं होती। 'आत्मा ही मछली है, वही

जान है, वही धीवर है, और वही कान भी। वही स्वयं मारता और खाता है। माया रूप में वह अनेक बधन डालता है और जीवन बनकर उसमें पड़ भी जाता है। उसके बाहर स्नान करने योग्य नहीं कोई तीर्थ है और न पूजन करने योग्य कोई देवता है। अलक्ष्य और अभेद होते हुए भी जो कुछ है, वह वही है।

इस प्रकार गोरखनाथी के विषय आत्म-साधना में सबधित है। उन्होंने अपने पूर्वजों से लाक्षणिक शैली लेकर भी उनका उपयोग अध्यात्म क्षेत्र में ही किया है। रहस्यात्मक शैली का बीज-बपन ब्रह्मयानियों के हाथों से होकर भी वह अपने वास्तविक अर्थ में नाथ पथ में ही प्राकुरित हुआ। उलटवासियों का लिखित रूप यही में आरम्भ होता है। हिन्दी पहेली के जन्म का भी यही समय है। हिन्दी के विचित्र रूपक भी वस्तुतः नाथों से ही प्रचलित हुए। उलटवासियों में जहाँ एक शैली दृष्टिगोचर होती है वहाँ प्रवर्तका की एक प्रवृत्ति का भी परिचय मिलता है। तांत्रिक और योगियों ने उलटी बातें कह कर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की और साथ ही अपनी शैली का प्रचार भी किया। 'हठयोग प्रदीपिका' के निम्नलिखित श्लोक में इसका परिचय मिल सकता है —

‘गोमास भक्षयेद्विषयं पिवेदमरवारुणीम् ।

कुलीन तमहं मय्ये इतरे कुलघातका ॥’ ह० प्र०, ३-४७

किन्तु तत्काल ही वे स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—“लोग कहते हैं कि गोमास महापाप है और वाहणी-सेवन अयुक्त है। उनका यह भ्रम है। वास्तव में गोमास-भक्षण पापनाशक है और वारुणी अमरता प्रदान करने वाली है। 'गो' शब्द जिह्वा-वाचक है और तालु में उसका प्रवेश ही गोमास भक्षण है। जिह्वा प्रवेश से उत्पन्न हुई बन्धु के कारण उपरिस्थित चन्द्र से जो सार स्रवित होता है वही अमर वारुणी है। ऐसी कूटोक्तिों का प्रचलन सिद्धों की वाणी में पर्याप्त मिलता है और पीछे के भक्तकाव्य में इस पद्धति का उपयोग किया गया है, किन्तु यौगिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में, जिसमें आचरण पर अच नहीं आने पाती।

गोरखनाथ ने सिद्धांत का हाथ में हुई विवृत्त साधना को पुनः परिष्कृत करके उसमें नवीन प्राण फूँके। तुलनात्मक दृष्टि में देखने पर गोरखनाथ की

साधना-पद्धति भारतीय मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल मिलती है। धर्म विकारी तत्त्वों पर गोरख साधना में कठोरता प्रकट की गयी है तथा समय एक सदाचार से जीवन का निकटतम सबंध स्थापित करने का अमोघ प्रयत्न किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सहजमाग की व्यवस्था का अर्थ वास्तव में गोरखनाथ को ही है।

गोरखनाथ ने अपने पद्य के प्रचार के लिए जन्-समुदाय की भाषा को ही ग्रहण किया। इससे एक ही साथ दो काम हुए सवसाधारण में नाथ पद्य का प्रचार हुआ और जन भाषा को विकसित होने का अवसर मिला। गोरखनाथ संस्कृत भाषा के भी पंडित थे अतएव इनकी रचनाएँ हिन्दी के साथ साथ संस्कृत में भी हैं। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने भरठी भाषा भी अपने सिद्धान्तों का प्रणयन किया। अमरनाथ सवाद और 'गोरख-गीता' भी भाषा में हैं। मिश्रबन्धु ने ब्रज भाषा में भी उनके एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है जिसमें पूछिया, कहिया आदि राजस्थानी शब्दों का भी प्रयोग है।

गोरखनाथ की रचनाओं की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ भी कहना सही नहीं है। डॉ० बडधवाल ने उनका सबदी का सबसे अधिक प्रामाणिक माना है किन्तु डॉ० माहन्सिंह की दृष्टि में गारखाबोध ही उनकी सबसे अधिक प्रामाणिक रचना है। वही गोरखनाथ इन रचनाओं की प्राचीनता पर सन्देह किया जाय किन्तु हमें मंजूर नहीं कि परवर्ती सन्तकाव्य नाथ-पद्य की साम्प्रदायिक एवं साहित्यिक साधनाओं से बहुत प्रभावित हुआ है। सन काव्य में ब्रह्मब्रह्म वाणी-मयम मन शुद्धि जाननिष्ठा वाह्याचारों का अनांतर आदि का जा चिन्तन मिलता है उसका मूल स्रोत भी नाथ वाणिया ही है। यद्यपि कबीर आदि कुछ मध्यावियों ने बहुत सी मौलिक उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की किन्तु उनकी वाणी के अधिकांश विषय नाथों की भूमिका से ही चुन गये थे। यह माना जा सकता है कि गारखवाणों रूखी तथा सिद्धों के विरोध में गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर पकट करने वाली थी किन्तु योग की दुस्तर साधनाओं को भी उठाने जीवनोपयोगी रूप में प्रस्तुत करके धार्मिक भावनाओं को प्रेरित किया। नाथ ही गोरखनाथ ने अपनी कृतियाँ के द्वारा परवर्ती साहित्य को सवाद गली प्रदान की जिसका प्रणयन साम्प्रदायिक मिथ्याता के प्रतिपादन तथा विश्वास एवं मत के प्रचार के निमित्त किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी साधना पद्धति में गोरखनाथ ने बहुत सी बातें सिद्धों की भी समाविष्ट कर लीं, किन्तु अनेक बातें उन्होंने नितान्त मौलिक रूप में भी प्रस्तुत कीं। गृहस्थ जीवन के प्रति उनकी अरुचि में उनकी मौलिकता को नहीं भुलाया जा सकता। योग को गोरखनाथ ने योग के रूप में ही स्वीकार नहीं किया, वरन् उसे एक तत्त्वसिद्धि के माधन के रूप में भी लिया। वज्रयानियों ने जिस योग को प्रमुखतया कायिक बना रखा था और जिसमें विकृताचरण भी समाविष्ट हो गया था उसी को गोरखनाथ ने न केवल मानसिक आधार प्रधान किया, वरन् आध्यात्मिक सीमा पर भी पहुंचा दिया। उनकी कुछ वाणियों से ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन्होंने आत्मवाद में उपामना के छिटे भी दिये हैं। जैसे—

“तुझ पर बारी हो अणघड़ीया देवा।

× × ×
सब सत्तार घड्या है तेरा, तू किन्हं नहिं घड़ीया।

× × ×
गोरख कहै गुरु के सबदा तू ही घड़नेहारा।”

अपने ‘निरंजन नाथ’ की आरती पाकर भी अपनी योग साधना में भाव पुट का संकेत किया है। जिसको वे नाथ कहते हैं, जो निरंजन है वही हरि नाम धारी है। इन नामों के अभेद के द्वारा हम कबीर तक पहुंच सकते हैं और उनकी वाणियों में हम गोरखनाथ का लक्ष्य खोज सकते हैं। किन्तु जबकि गोरख का नाथ, निरंजन या हरि योगसाध्य है, कबीर का हरि, राम या निरंजन प्रेमसाध्य है। कबीर योग को प्रेम का सहयोगीमात्र बना लेते हैं। यही दोनों की साधना का मौलिक अन्तर है।

गोरखनाथ बाह्याचार के विरोधी थे। इसका अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिये कि वे सदाचार के भी विरोधी थे। सदाचार का सम्बन्ध उन्होंने मन और वाणी से भी मान रखा था। इसीलिए वे ऐसे आचरण को जो मन के विरोध में होता था भिव्याचार मानते थे। ऐसे ही आचरण के प्रति उनका कहना है—“भोग आचार आचार कहा करते हैं। भला यह आचार अत्याचार होकर कैसे निभता है? भोजन में जो धी देते हो वह भी तो चर्मपात्र अर्थात् पशुधन से ही आता है? चलते समय पैरों में जो जूने पहने

१. गोरखवाणी, पृष्ठ १५४-१५८

२. गोरखवाणी, पृष्ठ १५७-१६१

वाते हैं वे भी धमड़े के ही होते हैं। शयन में स्त्री सग होता है उसकी तो तात ही जाने दीजिये $\times \times \times$ । मूर्खादि ग्रहण के अवसरों पर मिट्टी के पात्र और जलादि को अगुचि समझ कर त्याग दिया जाता है किन्तु धान्य घृतादि को क्यों नहीं फेंक दिया जाता? बात तो यह है कि जलाशय में जल तो लूत प्राप्त हो सकता है और कुम्हार के घर मिट्टी के पात्र भी थोड़े ही पैसा में प्राप्त हो जाते हैं तो फिर क्यों न उन्हें अपवित्र समझ कर आचारवान् होने का दावा किया जाय? इधर घृत और धान्य आदि को मोत तन में अधिक पैसे लगते हैं, इसलिए उन्हें अपवित्र नहीं माना जाता। कहा तब इस आचार की बाने लिसी जाये। वास्तविकता तो यह है कि आचार वस्तु ही अल्पित है और बुद्धिमान लोग इस पर तनिक भी विश्वास नहीं करते।^१ उन्होंने केवल आचार का ही खडम नहीं किया अपितु द्वैतवाद, अद्वैतवाद और स्मार्त आदि आदि मतों में दोष दिखाना कर शिव शक्ति में अभेद स्थापित किया और काम-त्याग पर जोर देने हुए उन्होंने शून्य में ईश्वर की शक्ति की। इसी शून्य में कबीर आदि सत्तो न निगुण ब्रह्म को देसा।

इसमें सन्देह नहीं कि सन्त मत का नाथ पथ से बड़ी प्रेरणा मिली। नाथों को मन के क्रियात्मक नियंत्रण से संबंधित करके नाथपथ ने जो साधना-वृत्ति अपनायी, सन्तमत ने उसीको अधिकशत मान्यता दी। नाथा ने भूत-गुद्धि और भूत सिद्धि पर विशेष जोर दिया, किन्तु कबीर आदि सन्ता ने मन ही शुद्धि और सिद्धि पर विशेष बल दिया। नाथ पथियों ने मन का सबंध इंद्रियों के द्वारा शरीर से स्थापित किया है और शरीर की शुद्धि में मन की शुद्धि का सबंध स्थापित किया है। यद्यपि नाथा की यौगिक क्रियाएँ एक प्रकार की यांत्रिक हैं, किन्तु कुछ स्तुतियों में उनकी वाणी की रागात्मकता भी स्पष्ट है। कबीर ने मन के सबंध का दोनों ओर देखा है—शरीर की ओर और परमात्मा की ओर। एक ओर वे नाद द्वारा मन के शून्यीकरण तक पहुँचते हैं तो दुसरे ओर मुख-से ऊपर को ओकोत्तर अवस्था है दूसरी ओर वे परमात्मा प्रेम द्वारा मन को बाध कर परमात्मा में विलीन कर देते हैं। कबीर को साधना में रागात्मक वृत्ति की ही प्रधानता है। नाथ-साधना प्रत्यक्ष प्रमाणों

^१ देखिये, गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह पृष्ठ ६०-६१

^२ देखिये क्षितिमाह्न सेन।

पर आश्रित है, किन्तु सन्तो ने चित्तवृत्तियों के निरोध तक ही नाथो का साथ दिया है। रागात्मिका वृत्ति के द्वारा तत्त्वानुभूति को और प्रगति उनकी साधना-पद्धति की मौलिकता है। कबीर ने नाथ-साधना की शुष्क सरिता में प्रेम का प्रवाह देकर मन को न केवल विलय के लिए बाध्य किया, अपितु रजन का घवसूर भी दिया। इस प्रकार कबीर ने सार-संग्रह के बल से जो मार्ग प्रस्तुत किया उसमें शंकराचार्य, गोरखनाथ, रामानंद के साथ-साथ सूक्तियों का भी सहयोग है।

भाषा और शैली की दृष्टि से तो कबीर ने गोरखनाथ का अनुकरण अधिकतम में किया है। वही जन माधारण की बोली, वही उलटबासियाँ और विचित्र रूपक। उपमानों के क्षेत्र में कबीर की मौलिकता सिद्ध है। वे लोक-जीवन से उतरे हैं। कबीर की अनुभूतियों ने उनकी वाणी को उपमान प्रदान किये हैं। जीवन के दैनिक व्यापारों से चुने उपमानों ने उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों को बड़ी सफ़्त अभिव्यक्ति प्रदान का है। इससे दो बातें स्पष्ट हैं— एक तो यह कि लोक जीवन में कबीर का निकट सवध रहा है, दूसरी यह कि उनकी अध्यात्म-विवेचना वाल्पनिक नहीं, आनुभूतिक है। जगत् और ब्रह्म, स्थूल और सूक्ष्म, अमृत्य और सत्य के बीच उन्होंने जो अनुभूतियाँ सकलित की हैं वस्तुतः वही कबीर बाणी है। कबीर-बाणों में जो कहीं-कहीं तीव्रता और तीक्ष्णता है वह गोरख बाणी में नहीं दीखती।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सिद्धो ने एक बड़ी भारी क्रान्ति को जन्म दिया, किन्तु आचरण के भ्रम की दिशा में उन्होंने जो बदल उठाया उसको भुलाया नहीं जा सकता। उनके सम्प्रदाय में मद्य, मत्त, हठयोग और स्त्री को प्रमुखता दी गयी थी और एक नवीन साधना की आड में आचरण को ताक में रख दिया गया था। जिस योग का आधार कभी ब्रह्मचर्य था वही मद्य और महामुद्रा से सवधित होकर क्या हो गया? कहने की बात नहीं। सिद्धो के मत्त और हठयोग चमत्कार की वस्तु बन गयी जिन्होंने शताब्दियों तक भोली जनता को भ्रम में रखा। जो बौद्ध धर्म नदाचार को लेकर आगे बढ़ा था, वह वज्रयान के हाथों में इतना पतित हो जायेगा, कौन जानता था।

फिर भी यह कहना असंगत नहीं है कि सिद्धो ने धर्म, आचार और दर्शन के क्षेत्र में क्रान्ति को जन्म तो दिया ही। वे सभी अच्छी-बुरी रुढ़ियों को

उखाड़ फकना चाहते थे यद्यपि जहा तक मिथ्याविश्वास का रूढ़ था उसमें वे कई सुती वृद्धि करने वाले थे। इही वृद्धियाँ के साथ भाषा का प्रश्न भी जुड़ा हुआ था। सिद्धा न लोक भाषा में कविता गुरु की क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि भारत के अल्प धर्मवालों की भाँति वे भी किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने सिद्धांतों का प्रचार कर क्योंकि इससे धर्म का ज्ञान थोड़ा से लोगों तक ही सीमित रहता था। सिद्धा ने वज्रयान की जनता पर विजय पान के लिए भाषा का कविता का सहाय लिया। आदि सिद्ध सरहपा से ही हम देखते हैं कि सिद्ध बनने के लिए भाषा का कवि होना मानो एक आवश्यक बात थी। सिद्धा न भाषा में कविता करके यद्यपि अपने विचारों को जनता के समझने लायक बना दिया तथापि डर था कि विरोधी उनके आचार विरोधी कम कलाप का तुल्य आम विरोध कर कही जनता में घृणा का भाव न पदा करे। इसीलिए वे एक तो, विनैप योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को ही उसे सुनने का अवसर देते थे दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार दोनों में लग जाय। इस भाषा को पुराने लोगों ने सध्या भाषा कहा है और आजकल उस निगुण रहस्यवाद या छायवाद कह सकते हैं। गुप्त रखे जान के ही कारण हमें प्राकृत पगल जैसे ग्रंथों में इन काव्यों का कोई उद्धरण नहीं मिलता।

सिद्धा का समय राहुल साकृत्यायन के मत से १२वीं शताब्दी का अन्त ठहरता है। यदि इस समय को चौदहवीं शताब्दी के अन्त से अर्थात् कबीर के समय से जोड़ा जा सके तो सिद्धा और सन्तों की कविता के प्रवाह के एक होने में आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़ने वाली शृङ्खला नाथपथ की कविताएँ हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर को नाथपथ से बड़ी प्रेरणा मिली क्योंकि विदेशियाँ और विधर्मियाँ के प्रहार तथा अपनी भीतरी निवृत्तताओं के कारण बौद्ध धर्म तो भारत से विलीन हो चला था और नाथपथ उससे

१ राहुल साकृत्यायन—पुरातत्त्व निबन्ध धावली पृष्ठ १६०

२ राहुल साकृत्यायन—पुरातत्त्व निबन्ध धावली पृष्ठ १६०

३ राहुल साकृत्यायन—पुरातत्त्व निबन्ध धावली, पृष्ठ १६१

शिक्षा ग्रहण कर अपनी रक्षा के लिए अनीश्वरवादी से धीरे-धीरे ईश्वरवादी हो गया। कबीर के समय वही एक ऐसा पथ था जिसकी वाणियों का व्यापक प्रचार था और जिसके मत्संगो की सर्वमाधारण पर छाप थी। भारत में दूर-दूर के प्रान्तो में अतक फैली हुई नाथपथ की गढ़िया उसके विशाल विस्तार की सूचना देती हैं।

सिद्धो और नाथो के निमित्त किसी सन्देह के लिए भ्रमकाश नहीं है क्योंकि गोरख-सिद्धान्त-संग्रह में दी हुई सिद्धो की नामावली में मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ के नाम भी सम्मिलित हैं जो नाथ पथ के प्रवर्तक भी माने जाते हैं। यह ठीक है कि सिद्ध अनीश्वरवादी थे और बौद्धधर्म से मिली हुई थाती में उनके पास प्रमुखत 'अनीश्वरवादिता' रह गयी थी, किन्तु नाथपथ में ईश्वरवाद की ओर लौटने पर भी अभी निर्वाण, शून्यवाद के साथ-साथ वज्रयान की कुछ लहरे भी लहरा रही थी।

कबीर का सिद्धो से सीधा सम्बन्ध बनने का तो प्रश्न ही नहीं है। निर्वाण, शून्य और सहज को उनकी वाणी में देख कर उनका सिद्धो से संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। ये शब्द नाथपथ में आते-आते बहुत कुछ अर्थ बदल चुके थे और बहुत कुछ अर्थ-परिवर्तन उन्होंने कबीर के हाथों में देखा। कबीर-कालीन वातावरण में नाथपथ की लहरे देख कर कबीरवाणी के साथ उनका सम्बन्ध खोजना न तो अनुचित है और न कठिन ही, किन्तु मैदान्तिक क्षेत्र में कबीर की मौलिक देन को नहीं भुलाया जा सकता। कबीर सिद्धों के वातावरण में नहीं रह रहे थे फिर भी वे उनको भूले नहीं थे। उनकी विकृतियों को कबीर-जैसा साधक कभी सहन नहीं कर सकता था। सिद्ध-नाथना के सम्बन्ध में उनकी धारणा अच्छी नहीं थी। उनकी यह साक्षी इस बात को व्यक्त करती है—

“धरती प्रक असपान बि, दोई तूँ बड़ा अवध ।

घट दर्शन मसे पडया अर खौराती सिद्ध’ ॥”

यह विरोध देखकर भी कबीर को सिद्धो से सम्बन्धित करने में कोई आपत्ति नहीं दिखायी पड़ती। जिस प्रकार सिद्धो और नाथो के सिद्धान्तों

को देखकर उनकी परम्परा को किन्हीं दो स्रोतों से नहीं देख सकते उसी प्रकार कबीर को उस परम्परा से विलग नहीं कर सकते। यह ठीक है कि सिद्ध अनीश्वरवादी और नाथ ईश्वरवादी हो गये, किन्तु इससे उनकी परम्परा खंडित नहीं होती बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कबीर का रागात्मक ईश्वरवाद नाथा के शुष्क ईश्वरवाद की परम्परा से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। सिद्धा के प्रयत्ना में वर्णवाद और वर्णवाद का विरोध कोई नया कदम नहीं था, धार्मिक अनुग्रह था। पूरा अग्नि को ग्रहण करता है, यह एक तथ्य है। यदि वह ग्रहण नहीं करता तो इतना आर्द्र है कि वह अग्नि को नहीं पकड़ता, अन्यथा बड़े आश्चर्य की बात है। यदि विषयो के प्रस्तुत होते हुए भी इन्द्रिया उनको ग्रहण नहीं करती तो स्पष्ट है कि मन पर इतना नियंत्रण है कि इन्द्रिया अपने अपने विषय से निरपेक्ष हो गयी हैं। ब्रह्मयान में महामुद्रा और मन्त्र के सेवन के सम्बन्ध में इसी सिद्धान्त का व्याज हो सकता है। यह सिद्धान्त सिद्धान्तरूप में तो बहुत ऊँचा था, किन्तु इसके व्यावहारिक रूप में जो भय था वही सिद्धों के दुराचार में व्यक्त हुआ। नाथों ने उनके योग को तो स्वीकार किया किन्तु उसे सदाचार पर आधारित करके साधना में परिवर्तन किया। सिद्धा की साधना का लक्ष्य वह आनन्द था जो त्रिधात्मक ढंग से मन के शून्यीकरण में उपलब्ध है। नाथा ने उस आनन्द को तो स्वीकार किया, किन्तु ईश्वर साक्षात्कार के परिणाम रूप में उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार मन की वृत्तियों के निरुद्ध होने पर ही सम्भव माना और उक्त निरोध के निमित्त उन्होंने दृष्ट्याग का आश्रय लिया। कबीर ने इस ईश्वरवाद में भक्ति का पुट दकर रागात्मकता भर दी जो स्पष्टतः रामानन्द का प्रभाव था, किन्तु विरह-तीव्रता में सूफी-प्रेम भावना भी उतनी ही स्पष्ट है जिसको सत्ता ने ही नहीं कृष्ण भवता ने भी अपनाया।

इस प्रकार कबीर ने सिद्धा के ही योग, विचित्र ढंग और शैली को अपना कर नाथ-पथ पर अधिकार प्राप्त किया। चाहे नाथ-पथ धर्म भी जीवित हो, किन्तु कनफटे जोगियों की बाणिया में कबीर का स्वर भी सहृदयता दीख पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि कबीर ने नाथपथ को ही अपनाया, अपितु प्रेम की धरा पर ज्ञान और ज्ञान के उपकरणों से वैष्णव भक्ति का एक नूतन किन्तु मध्य भवन निर्मित किया जिसमें अनेक अच्छाद्यों का ही समग्र नहीं था, अपितु ज्ञान और उपासना का मधुर मिलन भी था।

आलोचना-पद्धति

कबीर अपने समय के आलोचक थे। उन्होंने समाज को बड़े ध्यानपूर्वक देखा, उसकी भलाई-बुराई दोनों का पर्यवेक्षण किया। समाज में जो 'मुरुप' था उसका उन्होंने आदर किया और उसके प्रति सन्तोष व्यक्त किया, और जो 'कुरुप' था उसकी निन्दा की। मुरुप और कुरुप दोनों सामाजिक पक्षों पर ध्यान रखते हुए भी उन्होंने कुरुप को बड़ी सूक्ष्मता से देखा। समाज की छोटी से छोटी बुराई भी उनकी दृष्टि में दूर न हो सकी। उसके निकाल फेंकने के लिए उन्होंने आलोचना एवं भर्षना का मार्ग अपनाया।

कबीर का लक्ष्य आलोचना करना नहीं था। वे आलोचना के लिए आलोचना नहीं करते थे, दुःखद्वारा को नष्ट करने के लिए ही आलोचना करते थे। इसलिए इसकी आलोचना को निन्दा के क्षेत्र में नहीं रख सकते। निन्दक का मध्य मिथ्यावाद करना है और आलोचक का लक्ष्य विद्यमान दूषणों को सामने रखना—सामने भी इसलिए कि वे दूर हो जाय। इसमें कबीर का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है।

कुछ लोग कबीर को ईश्वर-भक्त कह कर उन्हें अन्य क्षेत्रों में खींच लेने का प्रयास करते हैं। यह ठीक है कि ईश्वर-भक्त सर्वत्र ईश्वर की सत्ता का अनुभव करना हुआ मनुष्यों के समान समझता है। वह सबके प्रति प्रेम और दया भाव रखता है। जीवमान के प्रति प्रेम को ईश्वर-भक्त ईश्वर-प्रेम से भिन्न नहीं समझता, किन्तु कबीर की स्थिति दूसरी है। वे एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। सामाजिक ऋद्धियों और विषमताओं ने उनको विकल कर दिया था। वे उनको पिटा कर समाज में समता की प्रतिष्ठा कर देना चाहते थे। कबीर का 'भक्त' उसी समता की भावना से प्रेरित हुआ वह उनके व्यक्तित्व के विकास की ही एक स्थिति है। साधना के पथिक होने

के नाते उनका सबध पहले समाज से हुआ है, फिर ईश्वर से। सामाजिक गवेदना ने उन्हे ईश्वरोन्मुख किया है क्योंकि समाज को एक सूत्र में बाँधने के लिए, उसमें आनन्द की भावना भरने के लिए पितृत्व की प्रतिष्ठा भी आवश्यक है।

कबीर की आलोचना साम्य की भावना से प्रादुर्भूत हुई है, किन्तु कबीर का साम्यवाद निरीश्वरवादी नहीं है। उसमें यात्रिक जटता नहीं है। उसका धरातल प्रेम और विश्वास है। उसका मूल सत्य और अहिंसा है। उसकी साधना सरल और सुबोध है। अहंकार, दम्भ पाखंड, स्वार्थपरता, छल, निंदा, भेद आदि उसके विरोधी भाव हैं। उनमें कबीर का साम्यवाद नहीं पनप सकता। वह किसी महेश या नरेरा की नीति से सबधित नहीं है। उसका क्षेत्र मानवता है। उसका सहज कोमल स्पर्श प्रत्येक व्यक्ति को मुग्ध कर लेता है। जो सब जीवों में परमात्मा की सत्ता का अनुभव नहीं करते, उनको कबीर भ्रान्त मानते हैं और वे शीघ्र ही कह डालते हैं—

“यह सब भूठो बदिगी, बरिपा पच निवाज।

साचें मारें भूठ पडि, काजी कर अकाज’ ॥”

कबीर के साम्यवाद ने मकीर्णता का, सम्प्रदायवाद का बहिष्कार कर दिया है किन्तु धर्म का व्यापक रूप (मानवता के आधारभूत रूप) के प्रति उसका आग्रह है। वे राम स्नेही को सच्चा मानव मानते हैं क्योंकि वही सत्य का वास्तविक रूप समझता है, वही अहिंसा का सम्मान करता है और वही एकता का पुजारी है। इसलिए कबीर शाक्त और ब्राह्मण से दूर रह कर ईश्वर भक्त के प्रति आकर्षण व्यक्त करते हैं—

“सापन धामण मनि मिले, बैसनों मिले चडाल।

अकमाल दे भेटिये, मानों मिले गोपाल’ ॥”

कबीर का साम्यवाद वह साम्यवाद है जिसमें धर्म है, किन्तु व्यापक और उदार, ईश्वर है, किन्तु सर्वध्यायी, वह मन्दिर, मस्जिद और गिरिजा की सीमाओं में सीमित नहीं है। उसकी साधना में सरलता और कोमलता और लक्ष्य में एकता है जिसकी सत्ता समाज को प्रेम निधि और व्यक्ति को विभोर कर

१. कबीरदास—कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२

१. कबीरदास—कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ५१

सकता है। वह एक आदर्श है जिसकी ओर कबीर के प्रयत्न यथार्थ को प्रेरणा दे रहे हैं।

इसी साम्य की प्रतिष्ठा के लिए कबीर ने सामाजिक विकृतियों की निन्दा की है। वे विकृतियों का विनाश चाहते हैं, व्यक्तिमात्र की उनसे मुक्ति चाहते हैं। लौकिक विकृतियों से निकल कर वे मानव को उस स्थिति में देखना चाहते हैं जिसे लोक-भाषा में गाम्य कहते हैं और जिसे दार्शनिक परिभाषा में आत्म साक्षात्कार भी कहते हैं। विकृतियों के निवारण के विभिन्न वे भासना तक का प्रयोग कर डालते हैं जिससे उनकी वाणी कटु और कर्श प्रतीत होने लगती है।

अपने समय और समाज की कुत्साओं और आवश्यकताओं से कबीर इतने सुपरिचित थे कि उनका ध्यान उनमें हटता ही न था। उन्होंने गोपीचन्द, गोरखनाथ, नामदेव और जयदेव का स्मरण लोगो को इसलिए दिखाया कि वे उनके मार्ग का अनुसरण करे अथवा कल्पना के भीने आवरण से भूत के स्वर्ण लोक की ओर देखने को उन्हें कभी चिन्ता नहीं हुई। यदि उनका ध्यान कभी उस ओर गया भी तो भक्ति, प्रेम और ईश्वरीय न्याय की प्रमाणित करने वाली प्रथित घटनाओं अथवा अनुभूतियों में प्रेरणा लेकर उन्होंने अपने समय की कुत्साओं और रूढ़ियों पर और भी अधिक निर्मम आघात किये। एक महान् आत्मा को धारण करने के कारण वे विचक्षण भविष्य द्रष्टा थे। आदर्श की मधुमयी भूमिका पर वे एक ऐसे समाज की कल्पना करने थे जो मुख दुख के द्वन्द्वों से परे है, जहाँ व्यक्ति वर्ण और जाति के बन्धनों से मुक्त है और जहाँ अस्मद प्रेम की ही अनुभूति शीघ्र है —

“कबीर हम बासी उस देश के, जहाँ जाति वरण कुल नाहिं ।
शब्द मिलावा होइ रहा, वेह मिलावा नाहिं ॥”

सामान्य दृष्टि में उक्त उद्धरण में आध्यात्मिक अनुभूति की विगुहता ही दृष्टिगोचर होती है, परन्तु सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें गहराई में जाने को प्रेरित करता है। वस्तुतः वर्तमान जीवन के अभावों ने प्रक्षिप्त होकर कबीर के अन्तर में इस निराले भाव-बोक की मृष्टि की जिनमें शब्द-ब्रह्म का आनन्दमय मिलन है और जहाँ जड़ प्रचेतन की कलाई खोल दी गयी है।

इस लोक में सबको प्रतिष्ठित करना चाहते हैं क्योंकि उसी स्तर पर स्थिति एकता है। सत्य का न्यायमय पथ ही इसका सरल एवं सीधा मार्ग है। उन्हें अपने समय में जो बुराश्या दृष्टिगत हो रही है उनमें विषमता का विलास है, असत्य और अन्याय की शीडा है। फिर भी दभी और पाखण्डी लोग उसे बेप ह्याग छिपाने का प्रयत्न करते हैं। कबीर उनको चेतावनी देने हैं कि उनका यह मिथ्याचार उनकी मुक्त नहीं होने देगा—

‘का नागै का बाधे घाम, जो नहीं चीन्हति आतम-राम ।
नागै फिरें जोग जे होई, बन का भुग मुकति गया कोई ॥
मूड मूडायं जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड न पहुती कोई ॥
व्यद राखि जे खलै है भाई, तौ दुसरै कौण परम गति पाई ।
पढ़े गूनें उपजै अहकारा, अघघर डूबे वार न दारा ।
कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम बिन किन सिधि पाई ॥’

कबीर जानते थे कि मंदिर और मस्जिद समाज की एकता को संहित करने वाले थे, अतएव उनके सम्बन्ध में जो भ्रम था उसके विरुद्ध उन्होंने एक बहुत उची आवाज उठायी। यदि परमात्मा मूर्ति में रहता है, मंदिर में उसका निवास है और अतलाह मस्जिद में रहता है तो दूसरे स्थानों में किसका वास है उनका स्वामी कौन है—

‘अल्लह एकु मसोति बसतु है, अवर मुलकु किसु केरा ।
हिःरू मूरति नाम निवासी, दुहमति तत्तु न हेरा ॥’

उन्होंने समाज में भरे हुए कपट को देखा और साथ ही उन हृदियों को देखा जो आपस में भेद भाव पैदा करती हैं। हृदय कपट से पूर्ण है फिर भी लोग दिखावे के लिए पुरी में जा जा कर स्नान करते हैं या मस्जिद में जा जा कर निरुद्धा करते हैं। यह सब आचार व्यर्थ है। उन्होंने हृदय की शुद्धता पर विशेष बल दिया और तीर्थ, नमाज आदि के मिथ्याचारों पर करारी चोट देते हुए वे कहते हैं—

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३२

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-२६६

‘कहा उडीसे मज्जन किया, क्या बसरीत सिर नायें ।

दिल महि कपट निवाज गुजारै क्या हज कावै जायें ॥”

बहुदेववाद में विश्वास भी सम्प्रदायवाद का प्रेरक था और सम्प्रदाय समाज में एकता के स्थान पर अनेकता ही फैलाते थे, इसलिए कबीर ने एक परमात्मा की शरण में जाने का ही निर्देश किया—

८ “कहत कबीर सुनहु नर नरवँ परहु एक की सरना”^१

कबीर ने वास्तव में ऋद्धियों और आचरणा की आलोचना की है और आलोचना करते समय इन्होंने कुछ को ही अपना लक्ष्य बनाया है। यो तो सामान्य आलोचना के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति आ जाता है, किन्तु मुनि-पूजा, तीर्थव्रत, रोजा, नमाज आदि के संकेता से वे धर्म या सम्प्रदाय विशेष पर अपने वाग्धारण छोड़ते हैं। धर्मों के क्षेत्र में भी वे उनके ठेकेदारों तक जा पहुँचते हैं। पंडित, मुल्ला अबधु आदि धर्म प्रांतनिधि हैं। कबीर इन्हीं को संबोधन करके इनके रूढ़ाचारा की आलोचना करते हैं। इनके संबोधन व्यंग्य प्रधान भी है जिनमें वे मधुर चुटकियाँ भर कर घायल कर देते हैं। प्रायः कबीर की आलोचना बड़ी तीव्र होती है। वे धर्म पर चोट करते हैं। वे चोट केवल चोट करने के लिए नहीं करते, अपितु भ्रम एवं मिथ्याचार को दूर करने के लिए करते हैं। वे धर्म और कर्म के उभे खोखलेपन पर आघात करते हैं जिसमें कोई तथ्य नहीं है। मुल्ला को संबोधित करके कबीर ने ऐसे ही आघातों का परिचय दिया है—

“मुल्ला कहा पुकारै दूरि, राम रहीम रह्या भरिपूरि ।

यहु तो अलह गूगा नाहीं, देखै खलक दुनी बिल माहो”^२।

संबोधन के साथ कबीर अपना निर्णय भी सुना देते हैं। जहाँ वे प्रश्न करते हैं वहाँ उनका लक्ष्य संकेतित रहता है, किन्तु ऐसे भी अनेक स्थान हैं जहाँ प्रश्नों के अन्त में उनका निर्णय गुँथा रहता है। उक्त पद में प्रश्न भी है और उत्तर भी। अंतिम पंक्ति में उन्होंने जो निर्णय दिया है वह बद्ध और तीव्र है—

^१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-९

^२. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-९

^३. कबीर-ग्रन्थावली पद ६०, पृष्ठ १०७

‘कहै कबीर यह मुलना भूठा, राम रहोम सबनि में दीठा’ ।^१

कबीर किसी अपराधी को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु मिथ्याचार को क्षमा नहीं कर सकत । वे उसके पीछे पड़ते हैं, उसे नष्ट करने का भरसक प्रयत्न करते ह और इमी प्रयत्न में मुल्ना, पाडे और काजी को खरी-खरी बातें सुनती पड़ती हैं । पाडे बेद पड़ता है किन्तु उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं दीख पड़ता । यह देख कर कबीर क्षुब्ध हो उठते हैं—

पांड़े कौन कुमति तोहि लागी,

तू राम न जपहि अभागो ।

बेद पुरान पढत अस पांड़े खर चन्दन जंसे भारा ।

राम नाम तत समभक्त नाही, अति पड़े मुखि छारा ॥

बेद पढया का यह फल पाडे, सब घटि देखें रामा ।

X X X

जीव बघत अरु धरम कहत ही अधारम कह’ है भाई ।

आपन तौ मुनि जन ह्वैं बँठे का सनि कहीं कसाई ॥”

कबीर के समय में धार्मिक मामलों में फैसला काजी के हाथों में होता था । वह कुरान शरीफ के आधार पर फैसला देता था । उसके न्याय में हिन्दू मुसलमान का भेद-पक्ष रहना था जिससे वैमनस्य की ज्वाला को और भी अधिक भड़क उठने का अवसर मिलता था । यह देख कर कबीर बच मौन रहने वाले थे ? किसी दंड का भय उन्हें मूक नहीं कर सकता था । शान्ति की प्रेरणा उनको आतुर कर देती थी । वे दाणी को चिन्ता नहीं करते थे, उसकी सजबज का खयाल उन्हें नहीं होता था, अतएव दाणी स्वयं उनके उद्गारों को सभालती फिरती थी । हिन्दू और तुर्क के भेद के विरोध में उनके उद्गारों को देखिये—

‘काजी कौन कतेब बषानें ।

पढत पढत बेते दिन बीते, गति एकं नहि जानें ।

सक्ति से नेह पकरि करि सुनति, यह नबदू रे भाई ।

जोर खुदाइ तुरक मोहि करता, ती आपं करि किन जाई ।

^१ कबीर-ग्रन्थावली, पद ६०

^२ कबीर-ग्रन्थावली, पद ३६, पृष्ठ १०१

हों तो तुरक किया करि सुनति, औरति सों का कहिये ।
 अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिन्दू रहिये ।
 छाडि कतेब राम कहि काजी, खून करत ही भारी ।
 पकरी टेब कबीर भगति की, काजी रहे भय मारी ॥”

इस प्रकार अन्याय और पाखण्ड के कारण उत्पन्न हुई जीवन की विपमताओं की कबीर ने बड़ी कटु आलोचना की जिसमें कबीर के अन्तर की तीव्र व्याकुलता फूट पड़ी। अपने समय की जितनी कटु आलोचना और समकालीन बुराइयों पर जितने भीषण प्रहार कबीर ने किये उतने शायद और किसी ने नहीं किये। उनकी आलोचना में तीव्रता, कटुता, भर्त्सना, भय, मोहन और सवेग, सबका यथावसर उपयोग किया गया है।

कबीर का लक्ष्य केवल आलोचना करना नहीं था, बुराइयों को मिटाना था। वे किसी दूषण को समाज में नहीं देखना चाहते थे, विशेषतः उस दूषण को जो समाज की एकता को भ्रष्ट करने में प्रवृत्त था क्योंकि दूषित समाज में वे घुटने लगे थे। उस घुटन को वे सहन नहीं कर सकते थे। कुछ आलोचकों के विचार से कबीर की आलोचना-पद्धति में समाज के निर्माण के लिए कोई उपकरण नहीं है। समाज के लिए उनकी वाणी का केवल निशेधात्मक मूल्य है। यह आरोप ठीक नहीं है। कबीर सहज स्वाभाविक प्रेममय जीवन के प्रचारक थे। उमी में वे कल्याण को देखते थे। यह ठीक है कि वे समाज की बुराइयों को निकाल कर फेंक देना चाहते थे, किंतु यह भी ठीक है कि वे एक आदर्श समाज की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। निर्दोष समाज में ही कबीर के आदर्श समाज की कल्पना निहित थी। कबीर के आदर्श में कोई अलौकिक कल्पना नहीं थी।

वे कोई नया शिलालेख तैयार करने नहीं जा रहे थे, किंतु जो शिलालेख उनके सामने था, वह दूषित और भ्रामक था। उसे शुद्ध कर चमकाना उसके सही रूप का सामने लाना उनका प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने देखा कि कुछ दली-पाखण्डियों के मार्ग का अनुसरण करते हुए लोग भटक रहे थे। जीवन के सही रूप को न समझ कर कितने लोग गुमराह हो रहे थे। कुछ गर्व और अहंकार का भार डो रहे थे और कुछ अत्याचार और निराशा में पिस रहे

थे। कबीर की आलोचना पद्धति में उनका उद्धार का प्रयत्न था। समाज के उद्धार के लिए उह एक दिव्य प्रेरणा मिला थी। उनके लिए परमात्मा का निदेश था—

हरिजी यहै विचारिया साखी कही कबीर ।
भी सागर म जीव ह जे कोई पकड तोर ॥^१

इस साखी से स्पष्ट है कि कबीर की दाणी के मूल में लाक मगल की कामना निहित है। उनकी मगल-भाषना लाक प्रेम की समानार्थक है। यो तो कबीर जीवमात्र के प्रति सटानुभूति रखते हैं किन्तु मानव पर उनकी विशेष दृष्टि है। इसीलिए उनकी दृष्टि उसकी दुबलताओं पर है। उनकी भक्ति और काव्य-सत्रना की आधार शिला मानवता के प्रति उनकी तीव्र भवेदना है। मनुष्य के प्रति वे सहानुभूति रखते हैं, इसीलिए वे उसके दोषों की आलोचना भी करते हैं। जो प्रथम कबीर के सामने प्रमुख रूप में आया है वह सामाजिक परिभाजन का प्रश्न है। विषमताओं के निवारण और एक समतल सामाजिक भूमिवा की प्रतिष्ठा का प्रश्न है। दोषों की आलोचना के साथ साथ कबीर की दृष्टि में उनका निवारण भी है जो सदृशों की प्रतिष्ठा के साथ ही हो सकता है। अतएव जब हम कबीर को आलाचक के रूप में देखते हैं तो उसके निषेध पक्ष के पीछे विधेय भी छिपा रहता है—

खाहि हलात हराम निवार, भिस्त तिनहु कीं होई ।
पच तत्त का मरम न जान, डोजगि पडिहै सोई ॥^१

→

×

×

×

सायर उतरौ पथ सवारौ बुरा न किसी का करणा ।
कहै कबीर सुनहु रे सतौ ज्वाय खसम कू भरणा^१ ॥

यहां बुराई से बचाने का प्रयत्न के पीछे सायर उतरौ पथ सवारौ का प्रश्न भी निहित है। पथ सवारौ में 'सत्पथ' पर चलने का संकेत स्पष्ट है। यही सत्पथ भवसागर से पार उतरने का साधन है। 'सत्पथ गमन' की प्रेरणा कबीर की दृष्टि में मनुष्य वहन करता ही है और उसका यह दायित्व है स्वामी के प्रति। मनुष्य ने अपने दायित्व को विभाया या नहीं,

इसका उसे परमात्मा को उत्तर देना पड़ता है। इस प्रकार कबीर की आलोचना-पद्धति निपेधात्मक ही नहीं, विधेयात्मक भी है।

कबीर का मत्पथ मिथ्याचार के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ता। उस पर चलने का अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को ही नहीं, वरन् जा भी चाहे उस पर चल सकता है। वह इतना सरल है कि उस पर चलने वाले को कुछ जोर नहीं आता किन्तु वक्रगति मनुष्यों का उस पर चलना कठिन है। वक्रता का परित्याग ही उनकी गति की साधना है। इसीलिए वे वैष्णव तक को अपनी आलोचना के मैदान में क्षमा नहीं करते। छापा-तिलक बना कर लोगों को बचित करने वाले आडम्बरी वैष्णव की कटुतम आलोचना करके ही कबीर कृतकृत्य नहीं हो जाते अपितु उस आडंबर के कारण को भी सामने ला रखते हैं—

“वंस्नो भया तो का भया, ब्रूभा नहीं विवेक।

छापा तिलक बनाइ कर, दरध्या लोक अनेक ॥”

वेश-भूषा और आडम्बर के पीछे अज्ञान छिपा हुआ है। उसी अज्ञान ने छापा तिलक को गौरव देकर वैष्णव को भ्रम में डाल दिया है। वैष्णवत्व वेश में नहीं है, हृदय और आचारण में है—प्रेम और सरल व्यवहार में हैं। यहाँ सात्त्विक एवं सदाचारपूर्ण जीवन के प्रति कबीर का आग्रह स्पष्ट है जिसको कुछ उद्धरण और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं, यथा—

“बणों को छपरी भली ना साकत का बड गांउ।”

क्यों ? इसीलिए न कि वैष्णव श्रेष्ठ आचरण का प्रतीक है और शाक्त दुराचार की प्रतिमूर्ति। इससे यह भ्रम दूर हो जाना चाहिये कि कबीर मगल की साधना के क्षेत्र में केवल निपेध-पक्ष को ही नहीं अपनाते। उनकी वाणी विधेय का स्वतंत्र रूप से भी प्रचार करती है और निपेधगत मकेतो से भी। यह ठीक है कि वाच्यार्थ में निपेध की ही प्रमुखता है किन्तु कबीर के अभिप्राय को, उनकी वाणी को लक्ष्यार्थ से बचित नहीं किया जा सकता। ‘खू दन तो धरती नहै वाढ सहे बनराइ’ जैसे वाक्यों में विधेय स्पष्ट है किन्तु जिस प्रकार निपेध में विधेय मकेतित रहता है उसी प्रकार ‘खू दन × ×’ आदि वाक्यों में निपेध भी सकेतित है। मनुष्य विनयविमुख न हो, असहिष्णुता से काम न ले, बुराई का प्रतिवार बुराई से न करे आदि निपेधों में कल्याण

की भावना स्पष्ट है। अनएव कबीर वाणी ने दोनों पक्षों का समावेश है। निषय पक्ष में विधेय और विधेय में निषय के मन्त्रे स्वतः ही मिल जाते हैं।

पीछे यह कहा जा चुका है कि कबीर की आलोचना पद्धति में व्यंग्या का भी समावेश है और व्यंग्य शून्य में कबीर का स्थान कुछ कम ऊँचा नहीं है किन्तु यथा में कबीर ने समाज की खिल्ली उड़ायी है ऐसा न समझ लेना चाहिये। खिल्ली में हलकापन का भाव निहित है। यदि कबीर का समाज को खिल्ली उड़ाने वाला कह दिया जाय तो समाज के प्रति कबीर की संवेदना का हनन अपन प्रकट होगा। कबीर का पाठक यह जानता है कि उनके व्यंग्य वाणी का सा असर करने वाला है उनमें मर्म भेदन की शक्ति है। सीधा प्रभाव ही नव व्यंग्या का अर्थ है। उनके व्यंग्य पाठा पहचान के हेतु नहीं है अपितु तात्पर्य प्रकट करने वाला है। अतः कबीर की वाणी का समाज का मजाक या खिल्ली फट्टे कर डालने वाला उचित नहीं है। क्योंकि खिल्ली या मजाक में विवचनता का भाव भी नहीं होता जा सकता। कबीर जो कुछ कहते हैं वह विवचन शक्ति ही कहते हैं। प्रथम गौर महानमति में सदाबिन्दु श्लोक या व्याघात से प्रेरित होकर करते हैं। उनका विवचनता ही उनकी वाणी की चरम स्पष्टता है। जो लोग इस मर्म पर ध्यान नहीं देते वे कबीर की वाणी का तात्पर्य भाग नहीं डालते हैं।

कबीर की आलोचना पद्धति को सर्वान्वितया से ताछत नहीं करना चाहिये। जिन लोगों को कबीर-वाणी में सर्वाङ्गितया दीव पवती है वे कबीर की व्यङ्ग्यता का समुचित मल्याकन नहीं कर पायें हैं। ध्यान रखने की बात है कि कबीर आदि ने अनेक अस्मिता के विरोधों में। दादू ने उनके लिए ठाक ही कहा है कि वे सिर देकर मर्यादा अपना अर्थ का बलिदान करके ही कबीर हुए थे। उनका सम्पूर्ण ध्यान ही एक विचरित अर्थात् महामानव को मर्ति प्रस्तुत करता है। सहानुभूति और प्रथम में माग से कबीर ने आत्म विस्तार कर लिया था, अतः वे ही सदेह नहीं हैं। आत्म विस्तार महत्व का प्रतीक है। अतः बिना यह भी व्यक्ति अपने युग का मर्म आलोचक नहीं हो सकता। जिसकी अन्तर्भूति समाज के सुख दुःख से पतती है जिसका हृदय के स्पन्दन में अन्तर्भवदन का स्वर मुखर होते हैं और जिसकी वाणी में यथा व

सही रूप को यत्न करन की क्षमता होती है उसी व्यक्ति की धाराचिन्ता अपने समय और समाज का परिष्कार और उचित पथ निर्माण कर सकती है।

कबार में य सब गुण विद्यमान थे इसीलिए उनकी धारा में इतनी शक्ति दिखायी देती है। सदेह नहीं कि अहंकार मनुष्य का प्रबल गुण है। उनका त्याग अति दुस्साध्य है। यह महापरिष्कार की दुर्लभता है—मान तज्या गति जाइ—एव मान न बड़ बड़ मुनिया के मन तक को चंचल कर लिया जा। कबीर उसमें अवध में बड़ सतक है। जिन्होंने कबीर के भेद बड़ी धलाय है का भलीभाँति मयना है। वह उह अहंकारी कहन का भय नहीं कर सकना क्योंकि जो कबीर कबली और करणी में समझौता मान्य थे उन्मान स्वयं ही उनके बीच में कोई खाई खोदना तो ऐसी उनक व्यक्ति में आता नहीं की जा सकती। वे साम्यवादी धरातल में वह ऊँचाई प्राप्त कर चुके थे जहाँ में उनका पान में अवध में किसी सामान्यता में आवकाय नही मिलता —

— 2 — जब मैं था तब हृदय नहीं अब हृदय हुआ है।

एक व्यक्ति से स्पष्टतः कबार की निरहंकारता भलरूती है। यदि इनमें भी किसी को अज्ञान का भागी मिल रही हो तो और कुछ रहना व्यर्थ है। जो एक मारता रोग हूँ रहूँ घाट का की बात करता हो और दूसरी ओर प्रहृष्टपद को प्राप्त करने की धोषणा कर रहा हो उसकी दानो स्त्रितियों का समझौता निरहंकारता में ही ही सकता है क्योंकि कबीर के व्यक्तित्व में अज्ञान के प्रतिस्मित और कुछ नहीं रह जाता।

जो कबीर सामाजिक धार्मिक और आर्थिक धरातल पर साम्य की प्रतिष्ठा चाहते थे निम्नोक्त नातिकारो पन्थ में। नातिको मान के लिए जिस माहूम और धार्मिक विश्वास तथा अनौती देन के लिए जिस निर्भीकता और दृष्टता की आवश्यकता थी कबीर के व्यक्तित्व में उनका प्राचुर्य था। उन गुणों की सामूहिक शक्ति अब कबीर के व्यक्तित्व में गौरव से समकालीन रुडिया और विपमताप्रा का उपनारती है तो नीति के स्थान मापण्य में मापने वाल अथवा भाषा के कवच तुरदरे रूप से परसन दान समीक्षक उभे गवाँतत में नाछित देखते हैं परंतु जो साहित्य को समाज की गतिविधि का नियता भी मानते हैं वे निगुण कबीर की मनुष्य धारा में रोमांचित हो उठते हैं।

जो कबीर कीरी से कुजर तक एक ही आत्मा को व्याप्त देखते हैं, जो बकरी और बसाई में तत्त्वतः अभेद पाते हैं, उनके अन्तर से किसी गर्वोक्ति का उदय हुआ होगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। गर्वोक्ति के साथ अभेद का कोई सम्भोग नहीं हो सकता। अस्मिता का विगलन ही एकता का सीढ़ी है। अतएव यह कहना असंगत है कि कबीर की आलोचना-पद्धति में गर्व या अहंकार का पुट है। कबीर स्वभाव और आचरण, दोनों क्षेत्रों में साम्यवादी हैं। अतएव उनकी किसी सहजोक्ति को गर्वोक्ति कहना सर्वथा अनुचित है।

कबीर की वाणी में समाज के लिए एक प्रेरणा और एक पथ था। वे कोई ऐसे जन-नायक नहीं थे जिनकी मति और कृति मदविचूर्ण रहती है। उनमें मस्ती है, किन्तु प्रेमकी, समता के साक्षात्कार की। यह उनके अन्तर से प्रवाहित प्रेम-धारा है जो युग-दग्ध मानवता को समशीलोगुणता की भाव-भूमि पर लाने के लिए तत्पर है। कबीर में आत्मरस या स्वरस की मादकता भरी हुई थी। उसी के प्रभाव से वे वर्ग और वर्ण के भेद से ऊपर रहते थे और उसी में उनकी निर्द्वन्द्व स्थिति थी जिसमें उनके उद्गार को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। अनुभूतिजन्य कोई उद्गार उनके लिए अनभिव्यजनीय नहीं था। वे जो कुछ कहना चाहते थे, अवश्य कह डालते थे, बिना यह ध्यान रखे हुए कि वे कैसे कह रहे थे। उन्होंने भाषा की खुशामद नहीं सीखी थी। वे उसे भाव-वाहिनी मानते थे और भाव-सेवा के लिए उनकी भाषा सदैव प्रभूत रहती थी। भाषा में चमक-दमक और सजावट है या नहीं, यह शायद उन्होंने कभी नहीं सोचा। यदि विदग्धता, कौशल और पांडित्य के अभाव के कारण कोई आलोचक उसे, 'अमाजंन', 'गर्वोक्ति' आदि से लाञ्छित करे तो यह उसकी भूल है। देखना तो यह है कि उनकी भाषा में कितनी ईमानदारी और तत्परता है, जो काम भाषा को सौंपा गया है उसे वह करती है या नहीं और करती है तो किस सीमा तक, कितनी सफलता-से।

कबीर की आलोचना-पद्धति में कभी-कभी ह्वापन अवश्य प्रतीत होने लगता है किन्तु वह आलोच्य के प्रति उनकी सहानुभूति और ईमानदारी का प्रतीक है। मैं समझता हूँ कबीर का समय ऐसी वाणी की अपेक्षा रखता था। युग को अपनी गति बदलने के लिए मर्म-स्पर्श की आवश्यकता थी और कबीर

आलोचना पद्धति



की वाणी में मर्मस्पर्शिता पर्याप्त है। जहाँ मर्मस्पर्शिता है वही रूखापन है। रूखापन कबीर की वाणी की प्रवृत्ति नहीं, आवश्यकता की मांग थी। सच तो यह है कि कबीर की आलोचना-पद्धति को उचित परिपार्श्व में देखना ही उनकी वाणी का उचित मूल्यांकन है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर की आलोचना पद्धति में प्रेम और सहानुभूति को मूल प्रेरणा है। व्यग्य और तीव्रता उसका गुण है। सम्बोधनों में उसकी स्पष्टता और निर्भीकता और सकेतो में उसका लक्ष्य निहित है। उनकी वाणी में मार्जन की कमी दिखायी पड़ती है किन्तु आज के दृष्टिकोण से, शिक्षित आलोचक की दृष्टि से, कविता की कसौटी पर कबीर की वाणी को परखन वाले के लिए। जनसाधारण की भाषा में मार्जन गुण किम भीमा तक रह सकता है, इस परिपार्श्व से देखने वाले को कबीर वाणी आलोचना का बहुत माध्यम ही दीख पड़ेगी।

व्यक्तित्व

कबीर अपने समय के सच्च प्रतिनिधि थे। उनका वास्तविक रूप साधक का था। वे एक ही साथ निर्भीक स्पष्टतावादी और विनयी थे। दम और अखण्ड उनके प्रिय नहीं थे। अतःकार और अताचार उनका दुःख लगने थे। श्रीगुरु और पीड़िता के प्रति भक्ति का आक्रामक देकर उन्हें प्रसंगा और प्रोत्साहन दते थे। वे लोक जीवन के प्रति निरुत्सुक थे। सामान्य व्यक्ति के लिए उनका व्यक्तित्व अतिमाभाव प्रकट होता है। इसीमें उनकी सतता निहित है। उनका व्यक्तित्व की शरणात्मक अवस्था है। इसका अतिरिक्त वे स्वतंत्र चिंतक भी थे। उनको गभीर चिंतन उनकी बाणी में कभी कभी इतना निगूढ हो गया है कि वह अदभुत और विचित्र प्रतीत होता है—इतना निगूढ कि अच्छे अच्छे विचारक तक उसकी गहराई में गति लगा कर उसके समझ में असफल रहते हैं। यदि यह वह दिया जाय कि कबीर अपने राम की भाँति ही माधारण बुद्धि के परे की वस्तु हैं तो कुछ अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकार कबीर ने अनेक शब्दों में अपने राम का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है उसी प्रकार उनके अनेक विचारार्थियों ने उनका व्यक्तित्व की गवेषणा करने की चपटा की है कि तु इत्यमिद कह कर कोई उसकी इति पर पहुँचने का दावा नहीं कर सका। उनको भक्त ज्ञानी और यागी के व्यक्तित्व में देखकर आलोचक अपनी अपनी कह गये हैं। किसी ने उनका भक्त स्वरूप को और किसी ने ज्ञानी रूप को ही देख कर अपना एकाग्र मन स्थिर कर लिया है। न भक्ति, न योग और नान ही कबीर का पूण व्यक्तित्व को व्यक्त कर सके हैं। अखण्ड फक्कट और मस्तमौला शब्दों में भी उनके व्यक्तित्व का पाक्षिक दर्शन ही हो पाता है। समाज-सुधारक का रूप भी कबीर के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता। हाँ सत्त शब्द अवश्य ऐसा है जो सम्पूर्ण कबीर को हमारे सामने रख देता है।

जिसने कबीर को जानी, भक्त आदि किसी एक रूप में देखा है वह उनकी वाणिया में ही इस सब में उपयुक्त तर्क और उद्धरण दे सकता है किन्तु जो उनको 'सन्त महात्मा' कह कर घुप जाते हैं वे चाहे कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण न कर सके किन्तु उसके सब में कोई आति नहीं पैला सकते ।

कबीर का व्यक्तित्व जितना गूढ प्रतीत होता उतना ही सरल था और जितना सरल दीखता है उसमें वही अधिक गूढ था । जिस प्रकार नारियल या बादाम को ऊपर से देख उनके भीतरी स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कबीर के बाह्य रूप को देखकर उनकी भक्तनामयी कठोर वाणी को पढ़कर उनके कोमल दयालु अंतर का अनुमान नहीं लगाया जा सकता । सच तो यह है कि वे एक सत, ऊच दर्जे के महात्मा थे इसलिए उनके व्यक्तित्व की सीमाओं में सरल और गूढ दोनों रेषाओं का अनुशा मिलन है । ठान है कि वे पड़े लिखे नहीं थे किन्तु अपठ और अशिक्षित शब्द उनके व्यक्तित्व का सही मूल्य नहीं आक सकते । कबीर का शब्दों में खोजना असंभव है । उन्हें उनकी (शब्दों की) प्रवृत्ति उनकी अर्थ दिशा में ही ढूँढना पड़ता है । उनके शब्दों में कहीं कहीं घड़ी गभीर ध्वनि भरी मिलती है जिसमें उनकी गहन अनुभूति का विलाम दृष्टिगोचर हो जाता है । वही कहीं यह समझना बहुत सावधान ही होता कि अमुक शब्द का क्या अर्थ है अपितु यह जानना बहुत आवश्यक है । जाता है कि अमुक शब्दों की भूमिका क्या है । यह समझने के पश्चात् कबीर का अंतर अगाध नहीं रहता । इसी परिचय में महात्मा कबीर का परिचय निहित है ।

कबीर जागरूक चिन्तक और निष्पक्ष आलोचक थे । वे गुण दान मूल्य पान नहीं, चिन्तनों उनकी निर्भक्ता है । उनकी वाणी में जो एकदम एक सखान और भयना का भाव दिनायी देता है उसका कारण है उनका मानव प्रेम, दयालुता और ईमानदारी । बाह्याङ्गवरो के प्रति उनकी वाणी न जो प्रतिनियात्मक-रूप श्रद्धा किया है उनमें उनकी ईमानदारी की ही प्रेरणा है । जिस वाणी में प्रति क्रिया है उसीमें नाति टंकी हुई है । उनकी निर्भक्त वाणी अदृष्ट शक्ति से दश, धर्म, समाज दर्शन और भाषना में नाति की घाग प्रवाहित करन में तप्य प्रतीत होती है ।

मानव एकता के परिपोषक कबीर न मुधार म मिलते हैं और न मत-प्रवर्तन म। वे रुद्धियो के विरोधी किन्तु धर्मभोर व्यक्तित हैं। अन्धविश्वासों के प्रति उन्हें घृणा है और सद्वृत्ति और सदाचार के प्रति उनकी आस्था है। वे निष्पक्षता के समर्थक और निःशक्ता के प्रेरक हैं। वे श्रद्धावान् शिष्य गुरु हैं। उनका 'गुरु भाव' कही प्रखर नहीं हुआ। वे प्रेम के प्रचारक और नीति के भस्थापक हैं। वे धन के सग्रह और परिग्रह की निदा बर्योकि धन का सचय एक करता है और बहु काम दूसरे के आता है।

वद और कुरान के अधपाठ म कबीर का विल्कुल विश्वास नहीं है। वे अधपाठ की निदा करते हैं किन्तु उनके भीतर जा सत्य निहित है, जिन अनुभव की व्यजना है उसकी निदा उन्होंने कभी नहीं की। रोजा और व्रत म कबीर की दम दीखता है। सच्चे राजा और व्रत तो मन की पवित्रता है। तीर्थों के प्रति भी कबीर की आस्था नहीं है। इन सबम कबीर को धर्म-साक्षात्कार नहीं होता। इन सब के मूल म जो रहस्य है उसको पा लेना ही धर्म है। सत्सग, विवेक, मन की पवित्रता आदि म धर्म-दर्शन हो सकता है।

कबीर लोक को छोड़ भागने की बात कहते हैं, ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी उनकी वाणिया की तह म न पहुँचने के कारण आलोचक लोग उनका मतमाना अर्थ कर डालते हैं और ऐस ही किसी भोके म वे कबीर को पलायनवादी भी कह देने हैं। वे न तो बल्कल वसन पहनने के समर्थक हैं और न वनखड मे तप करने के ही पक्ष पर हैं। फिर उनका 'पलायनवाद' (यदि कोई है भी तो) उन्हें कहीं ले जा सकता है। वे इस जगत मे रहकर भी उसक प्रति आसक्त नहीं होते। यह अनासक्त भाव उनकी बराम्भोजितया का मूल स्वर है।

यदि वे 'पलायनवादी' (शब्द के प्रचलित अर्थ म) हात तो अपने व्यवसाय को छोड़ कर भी भाग जात किन्तु ऐसी बात नहीं। वे भ्रमजीवी थे। जो व्यवसाय उन्हें उत्तराधिकार के रूप म मिला था उसका उन्होंने परित्याग नहीं किया। अपनी अर्जना को वे अपने परिवार के भरण पोषण और साधु-सवा मे व्यय करते थे। पलायनवादी पराश्रय मे भागता है। कबीर भागने वाले

१ बाकुल बसतर किना पहरिवा।

का तप बदन सडि वासा ॥—(कबीर अन्धखली, पृष्ठ ११६)

नहीं थे। वे जीवन की हर परिस्थिति का सामना कर सकते थे। आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता के कारण व्याकुलता उनको छू तक नहीं पाती थी। साधु-सेवा और त्याग उनके व्यक्तित्व के भूषण थे। माँ और पत्नी का विरोध भी उनको इस संबंध में विचलित नहीं कर सकता था। एक ओर उनकी उदारता थी और दूसरी ओर सहिष्णुता, एक ओर रूचि थी और दूसरी ओर विरोध। विरोध उनको कभी झुका नहीं सकता था। दुनिया की बातें मुनकर भी वे करते मन की ही थे। उनकी इच्छाशक्ति ने उन्हें चट्टान बना दिया था जिसमें निश्चलता थी किन्तु साव ही कोमलता भी। कबीर के व्यक्तित्व के ये दो विरोधी तत्त्व ही उसे गूढ़ बना देते हैं।

कबीर मग्न और मनमौजी थे। जो धुन आयी वही कह डाला। भावों का दवाना मानो उन्होंने कभी सीखा ही नहीं था। सत्य का पुजारी निर्भीक तो होता ही है अदम्य भी होता है। कबीर भी सत्य के पुजारी थे। उनके सत्य न तो कभी दबने का प्रयत्न किया और न उन्होंने कभी उसे दवाने का ही। सत्य उनका गुरु था और सत्य ही ब्रह्म भी। वे अपने को भी सत्य से भिन्न नहीं समझते थे। उनकी आत्मा सत्यस्वरूप थी।

वे अनाशक्त योगी और ईश्वरसक्त भक्त थे। उनके ईश्वर प्रेम में 'स्वात्मिक' और 'स्वतक' दोनों समाविष्ट थे। 'स्वतक' के प्रति उनका प्रेम अहिंसा का पोषक था। सत्य के अन्वेषक के नाते वे पूर्वमान्यताओं को महत्त्व नहीं देते थे। बुद्धि और अनुभव की कमीटी पर सही उतरने पर ही कोई मान्यता कबीर से प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती थी। किसी भी अप्रतिष्ठित मान्यता की वे धज्जियाँ उड़ाने में समर्थ थे। उनके पास बुद्धि थी और वाक्शक्ति भी। उनके कण्ठ से जो आलोचना निकलती थी वह बड़ी स्पष्ट और तीव्र होती थी। उनकी बुद्धि अनुभव को स्वीकार करती थी। इसीलिए शास्त्र-ज्ञान से वह कभी परास्त नहीं हुई।

कबीर को अपने समय का नेता कह सकते हैं। हाँ, नेता, एक आदर्श नेता क्योंकि वे सत्य-प्रेमी, स्पष्टतावादी, निर्भीक, अहिंसक, वक्ता और त्यागी थे। वे अलोलुप और आत्मविश्वासी थे किन्तु निरभिमान भी थे। वे सरल, विनम्र और सदाचारप्रिय थे। कबीर उद्योगी और वर्मनिष्ठ थे। विपत्तों से दूर, निन्दकों के पडौमी। कबीर सर में कर्म के ममान इस जगत में रहते थे। डा० त्रिगुणायत

के य थोड स दाब्द कबीर के व्यक्तित्व की बड़ी स्पष्ट भाँकी प्रस्तुत करत ह—
 'सत्य क उस अनन्य उपासक म श्रष्ट दार्शनिक बुद्धिवादिता और चिन्ता, कट्टर
 क्रान्तिकारियों की क्रांति और कठोरता अनन्य भक्त की विनम्रता और प्रमा
 नुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्टवादिता सच्चे साधु की आचरण प्रियता
 आदर्श पुरुष का कतव्य पशयणता योगियों की अक्लडता तथा पक्क फकीर की

साधना थी।

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण में समाज की परिस्थितिया
 और आत्मप्रेरणा का बहुत बड़ा हाथ था। व कभी भिक्के नहीं कभी भुक्त
 नहा कभी भटके नहा कभी भटक नहीं। व अपनी साधना के घनी विश्वासा
 क राजा और अनभूतिया क साहूकार व। जा माग उ हाने दूसरा को खिलाया
 व उमी पर चले व और वही उनका मुक्ति माग था। वधन ताडन व लिए
 उहने जो सरनता डूड निकाला वही उनक माग की विगपता थी। डा०
 हनारीप्रसाद द्विवेदी न ठीक ही ता कहा है कि हजार वष क इतिहास म रुवार
 ऐसा व्यक्तित्व लरु कोई लखक उत्पन्न नहा हुआ।



१ देखिय गोविंद त्रिगुणाचल—कबीर की विचारधारा

२ देखिय राजद्रासिंह चौड—सत कबीर दर्शन पृष्ठ १७

लोक-मंगल की साधना

लोक मंगल की साधना एक ऐसी साधना है जिसमें व्यक्ति को अपने अनक स्वार्थों का विमर्जन करना पड़ता है। व्यक्तिगत साधना से वह इस रूप में भिन्न होती है कि उसमें लोक कल्याण प्रधान होता है जबकि व्यक्तिगत साधना में आत्मकल्याण प्रधान होता है। एक में साधक लोक का सामन रगता है दूसरी में अपने को। फिर भी दोनों में कोई ऐसी विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती जिससे यह कहा जा सके कि प्रमुख स्वयं पर दोनों पृथक हैं। व्यक्तिगत साधक लोक साधक भी हो सकता है।

सामाजिक प्राणी होने के नाते कोई मनुष्य समाज में रहता हुआ उसमें अपना मवध नहीं तोड़ सकता। यह हो सकता है कि उसकी साधना के कुछ पहलू समाज से दूर हो जाय फिर भी वह जिन लक्ष्य को लेकर मारना में प्रवृत्त होता है वह उसके सद्भावों को जगा कर उन्हें लोक कल्याण में भी लगा सकता है। ईश्वर का जो प्रेम भक्त को मोहादि में लीच लेता है वही उसकी लोक के प्रति महानभक्ति एवं दया को भी उद्वुद्ध कर देता है। व्यक्तिगत साधना में स्वार्थ प्रमुख होते हुए भी वह दमन सकीणता का परित्याग करना जानता है। व्यक्तिगत साधना की सिद्धि या चरम परिणति वास्तव में स्वायत्त की उदारता या व्यापकता में होती है। उस स्थिति में व्यक्तिगत स्वायत्त की सीमाएँ समाज को भी धनर्भूत कर लेती हैं।

लोक साधक के लक्ष्य में व्यक्तिगत साधना का अक्षयपूर्ण नहीं दिख जा सकता। लोक कल्याण की कितनी ही उत्कट भावना क्या न हो व्यक्ति अपनी उधेखा करके अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। अपने को भुला कर लोक मंगल की साधना बड़ा विभव नहीं है। जब तक अपना विचार नहीं किया जाना तब तक दूसरों से अपना मवध नहीं जोड़ा जा सकता। दूसरा म

सबध जुडन का भाग्य है सामाजिक सदगुणों का उदय जिस का सबध व्यक्ति स हाता है। इन गुणों की पुरस्कृति व्यक्ति साध्य है लोक साध्य नहीं। दया रक्षा अहिंसा सत्य आदि व्यक्तिगत गुण हात हुए भी सामाजिक मूल्य रखते हैं। इनके बिना सामाजिक गति कभी संभव नहीं है। यदि हम दूसरे को प्रेम करते हैं तो अपने सबध से करते हैं। पहले आम प्रेम है। आम प्रेम ही पर प्रेम का कारण है। स्व अपनी उदार दशा में पर से भिन्न नहीं होता। स्व की साधना का एक पक्ष पर हित साधना भी है इसी में लोक मंगल की साधना पल्लवित होती है।

लोक मंगल की साधना स्वार्थों को सीमित एवं परिष्कृत करने की प्रेरणा देता है। जिस स्वाध की साधना दूसरा वे दृष्ट में बाधक बनती है दूसरे के उत्कर्ष को रोकता है वह अधम है। लोक मंगल के साथ उसकी संगति नहीं हो सकती। लोक मंगल केवल ऐसे स्वार्थों को अवकाश दे सकता है जो परोत्कर्ष को बाधित न करें। सच तो यह है कि परापक्षक स्वाध आत्मोत्कर्षक भी नहीं हो सकते। केवल आमक हा सकते हैं। सर्वे भवतु सुखिन की कामना सच्चे आत्मोत्कर्ष की कामना होती है। सब में हम और हम में सब समाहित हो जाते हैं।

जो महापुरुष कहलाते हैं वे इन्हीं गुणों से विभूषित होते हैं। वे 'स्व' का शक्ति सम्पन्न करके लोक कल्याण के हेतु उस का उपयोग करते हैं। राम कृष्ण बुद्ध आदि के नाम इसी परंपरा में उल्लेखनीय हैं। कबीर नानक आदि ने इसी को आगे बढ़ाया था। नलसी और सूर इसी भाग के पक्षिक थे। यदा यदा हि धर्मस्य आदि वाक्या का अर्थ भी यही है कि महापुरुष निरसग से शक्ति का वरदान लेकर भूतल पर आते हैं। वे एक ही साथ दो काम करते हैं लोक-कल्याण की स्थापना और अधम का विनाश।

अधम व्यक्ति को निष्करण एवं दुराग्रही बनाता है। वह समाज के नोमल एवं मधुर व धन को ताड़न का सतत उपक्रम करता है जिसमें पीडा वेदना सकट अत्याय उपद्रव आदि न जाने कितने सन्नामक सामाजिक रोग भडक उठते हैं जिन से पीडित समाज की रक्षा और मुक्ति महापुरुषों का धर्म होता है। पीडा एक दूसरे प्रकार की भी हाती है और वह है दहिक या दैविक।

लोक-मगल का साधक इनमे सामाज की रक्षा करने मे अपना योग देता है। इस को भी धर्म कहना उचित ही है। 'सर्वभूतहिते रत' धार्मिक का लक्षण है।

कुछ आस्थावान लोग धर्म को एक दैवी प्रेरणा मानते हैं किन्तु वे भी आचार से उसे विरहित नहीं कर देते। जो लोग सद्गुणों के प्रसार और उपयोग को ही धर्म मानते हैं वे तो उमे आचरण में ही देखते हैं। उत्साह आदि गुणों में धर्म-भावना निहित रहती है किन्तु उत्साह को क्रिया से अलग करके धर्म का साक्षात्कार मभव नहीं है। धर्म की रक्षा ही वास्तव मे धर्म-धर्म है। धर्म व्यक्तिपरक होता हुआ भी समाज-सापेक्ष होता है। वह कर्ता के हृदय से उद्भूत होकर सम्प्रदान तक त्वरितगति से जाता है। इसी लिए प्राचीनों ने 'धर्मस्य त्वरिता गति' का निदर्शन किया है। कर्ता और सम्प्रदान के बीच में ही धर्म-क्षेत्र है। इसमे व्यक्तिगत साधना अगल होकर समाजमुखी बनती है। धर्म दाता का भूषण और प्राप्ता का वरदान है। धर्मरत मानव आत्म-तोष प्राप्त करता हुआ दूसरो को भी तोष प्रदान करता है।

इसमे कोई सदेह नहीं कि कबीर-जाणी मे साधना का स्वर ही प्रमुख एव प्रखर है किन्तु यह समझना उचित न होगा कि उनकी साधना आत्मप्रधान है, लोक से उसका कोई सम्बन्ध न था। यह दुहराने की आवश्यकता नहीं कि लोक ने ही कबीर को कबीर बनाया था। उनकी प्रेरणा लोक जन्य थी। उसका आधार लोक था और क्षेत्र व्यापक था। अतएव यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि कबीर साधक थे, किन्तु उनकी व्यक्तिगत साधना लोक-साधना मे ही टकी हुई थी। जहा व्यक्तिगत साधना बगल और गुफाओं मे सीमित हो जाती है केवल वहा वह लोक-मगल को भुना सकती है अन्यथा उसमे लोक-कल्याण अपने आप समाविष्ट रहता है। कबीर को साधना उनके व्यक्ति से प्रारम्भ हुई है किन्तु व्यक्ति मे आबद्ध रहने के लिये नहीं। वे बगलों और गुफाओं का आदर साधना के सबध से बिल्कुल नहीं करने। साधना मन और आचरण से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है, वह मनो और गुफाओं मे उत्पन्न नहीं होती। इसलिए कबीर कहते हैं—

“कबीर खोजी राम का, गया जू सिधल दीप ।

राम तो घटि भीतरि रमि रह्या, जो प्रावे प्रतीत ॥”

मो साईं तन म बसे, भय्यो न जाण तास ।
कस्तूरी के मृग ज्य, फिर फिर मूँघ घास' ॥

इससे स्पष्ट है कि कवार की साधना दूर भागन को प्रोत्साहन नहीं
प्राप्ती । उसका उद्देश्य समाज में रहकर ही अपने और दूसरे के मूल का मोजन
करना है इसलिए वे साधु सगति का उच्च मानत हुए कहते हैं —

'कबीर सात साध की बेगि करीन जाइ ।
हरमनि दूर गवाइसी देसी समति बताइ' ॥

साध सगति व सामन व द्वारका धार वाणी का साधन है अवमूलन कर
करते हैं —

मथुरा जंघ द्वारिका भाव ताव जगनाथ ।
साध सगति हरि भगति दिन बहू न आव हाथ ॥

साधु सगति कन का आशय स्पष्टतः कबीर की सामाजिकता को पुष्ट
करता है और समाज व मन्द व से ही व साधना का सफल मानत है ।

समाज में कवार का वास्तविक स्थितिगत स्थिति है एक अछला और
दूसरा चुरा । अछे तत्त्व की प्रणामा करत गए व बरे स बचन का उपदेश दत
हैं किन्तु एसी बात नहीं है कि वे चुरे की बिकूल उपेक्षा कर देने हैं । आज
के प्रातिवादिता का मान के चुराई का चित्र खाचन में भा आग रहते हैं । व
मनुष्य का न ना देव ही मानत है और न दानव है । वह मनुष्यत्व से उठन
का चेष्टा करे यही भक्त कबीर की वाणी में स्थान स्थान पर भिन्नता है ।
जिनको वराइया दानवता का आशय बन रहा है उन्हें वे सुधार की प्रेरणा देते
हैं । वह प्रेरणा किमा व्यक्ति व सुधार को दृष्टि से नहीं है आपतु समाज को
पहन से बचाने पतन का उद्धान में परिणत करन और अपने आदेश के साध
में ढालन का दृष्टि से है ।

कवार का आदेश किसा परंपरा या मन्त्रशाय विनोप से लिया हुआ नहीं
है अपितु वह मन्त्र है जिसके लिए उन्हें समाज का काकी म धन करना पडा

है। वही कबीर का सार सग्रह है और वही उनका मन है। कबीर को सन्-मत का प्रवक्तक कहा जाता है किन्तु उनका प्रादुर्भाव प्रवचन की दृष्टि से नहीं हुआ। सामाजिक दूषणों के निवारण की दृष्टि से हुआ था। यदि कबीर के मार सग्रह का सम्बन्ध उनसे (कबीर से) जोड़ने है तो समान में तो पहले में ही जुड़ा हुआ लगता है। मदगुणा का सग्रह जिस प्रकार समाज ही में हुआ है उन्हीं प्रकार वह समाज के ही निमित्त हुआ है। कबीर की मानना उनके मत में पृथक् नहीं है। उसमें जिस प्रकार व्यक्तिगत साधना दृष्टिगत होती है उसी प्रकार समाज सग्रह भी।

कबीर एक मन्त्रपुरुष थे। उनका प्रमुख रूप साधक का था। कुछ स्थान पर वे अज्ञान सिद्ध होने का बात भी कह गये हैं जो उनकी गुढ़ व्यक्तिगत किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के तीव्रतम उदगार हैं। कबीर की यह स्थिति उनका समग्र व्यक्तिव की द्योतक नहीं है। उनका अधिकतर चरित्र उनका मानना में निहित है जो व्यक्तिगत हने हुए भी समाप्त है। एक ओर वे मयम नियम के मन्त्र से आत्मसाक्षात्कार में मत्तम दीख पड़ते हैं दूसरा ओर आत्मगुणा के प्रक्षय से वे उनका प्रसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक कर देना चाहते हैं। इस प्रकार की व्यक्तिगत साधना जिसमें आत्मविस्तार या आत्मरन्ध्राण की भावना निहित है लोक मगल की साधना का रूप धारण कर लेती है। कबीर की भक्ति साधना पीड़ित जन लोक के प्रति उनके प्रेम को पुरस्कार करती है। ईश्वर के प्रति उनका प्रेम है। वे उमम निमग्न होकर उसका आस्वादन करते हैं और दूसरों को भी उनके आस्वादन का प्रेरणा देते हैं। एक ओर ईश्वर प्रेम दुनिया में उनका मोह तोड़ता है दूसरी ओर वही साथी जीवा के प्रति उनकी सहानुभूति और वरणा उत्पन्न करता है। अपने माथिया के प्रति सहानुभूति और करुणा की दशा में कबीर ने लिए आध्यात्मिक उल्लास का स्वाधमय एकांतोपभोग दुष्कर हा जाता है।

कबीर के दयाभाव को कुछ आलोचक पवित्र किन्तु गुप्त कह देते हैं। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। उसमें ऐसी चेतनाओं का भक्त मिलता है जो कष्ट व दुःख को दूर करने के लिए आवश्यक प्रतीत होती है। कबीर की दया में करुणाकारी प्रयत्नों को न छोड़ना उनके चरित्र की अपेक्षा करना है। क्योंकि वे

‘करनी के बिना कधनी’ को कोई मूल्य नहीं देते। इतने पर भी उनकी उचितियों में प्रयत्न-प्रेरणा न देवना सरामर अन्याय है। अत्याचारों को सहकर भी कबीर ने सत्य और अहिंसा का जो प्रचार किया उससे उनकी शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी शक्ति का उपयोग उन्होंने सोव-रहित के लिये भी किया। अतएव कबीर की दया वाणी-दिलास का भौंका बहकर नहीं उड़ायी जा सकती।

कबीर की इस करुणा का कारण है सबकी एकता, सबका एक स्रोत। उसी को देख कर कबीर की करुणा की गठरी यत्र-तत्र सर्वत्र बिखर पड़ती है। उम्र समय उनकी व्यक्तिगत साधना का एकान्तफल, व्यक्तिगत आनन्द स्तम्भित-ता दीख पड़ता है। सासारिक दलदल में फँसे हुए निराशा को आशा और उल्लास प्रदान करने के लिए वे अपनी आध्यात्मिक ऊँचाई से नीचे उतरने में न तो अपमान समझते हैं और न कहीं डगमगाते हैं। दिव्य साक्षात्कार से आविर्भूत उल्लास की तीव्रता के साथ वे एक आदेश भी प्राप्त करते हैं जो उन्हें दिव्य सदेश के प्रसार की प्रेरणा देता है।^१ जिसे लोग कबीर का अहंकार समझते हैं उनमें वस्तुतः साधियों के प्रति उनके प्रेम का आन्दोलन है अन्यथा उनके मार्ग में अहंकार, गर्व या प्रगल्भता का क्या काम था ?

अहंकार न केवल व्यक्तिगत रूपण है वरन् एक सामाजिक रूपण भी है। अहंकार से समाज विच्छेद्वृत्त होता है। इसलिए वे मदान्ध लोगों को समझाते हुए कहते हैं—

“दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाथ।
मुई खाल की सास सो, सार भसम हूँ जाय” ॥”

१. कथणो कयी ती क्या भया, जे करणी ना ठहराइ ॥
—(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३८)
२. हरिजी यहं विचारिया, साषी कही कबीर।
भोसागर मे जीव है, जे कोई पकडे तोर ॥
—(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५६)
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४८

इस प्रकार कबीर ने अहृष्टि को विचर्ण करने और समता लाने के लिए जिस मनोवैज्ञानिक अस्त्र का प्रयोग किया है वह लोक-मगल की साधना के मार्ग में सुन्दर स्फटिक-मोपान का काम करता है।

कबीर इसी लोक के मानव हैं। उन्होंने समाज के पतन को अपनी आँखों से देखा है, आततायियों के बीभत्स अनाचारों का महोत्सव पूरा वीं खुली आँखों से देखा है और पीड़ितों की मर्माहों को भी उन्होंने कष्टों के कोमल ध्वणियों में सुना है। सामाजिक विषमताओं ने उन्हें प्रेरणा दी और यातनाओं ने सहिष्णुतामयी प्रतिक्रिया। कबीर के दर्शन में झूलत समाज-दर्शन निहित है। उनका अद्वैतवाद उपनिषदों से और मायावाद शंकर से सम्बन्धित होता हुआ भी मौलिक है। उसमें सामाजिक एकता के सारे तत्त्व विद्यमान हैं। जिस माया का उन्होंने निरूपण किया है उसे भी धन, नागि आदि में देखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर की साधना को व्यक्तिगत साधना कह कर समाज से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

लोक-कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक सामाजिक का एक ही मार्ग है। विरक्त और गृहस्थ तक में बहुत अन्तर नहीं है। कबीर चित्त की उदारता गृहस्थ का गुण मानते हैं और विरक्ति वैरागी का। उन्हें भय है कि यदि विरक्त सग्रह में लग गया और गृहस्थ सग्रह करके अनुदार हो गया तो अपना अनिष्ट करते हुए वे समाज का भी अनिष्ट करेंगे। इसीलिए उन्होंने कहा—

“वैरागी विरक्त भला, गिरहीं चित्त उदार।

दुहुँ चूका रोता पडे, ताकू बार न पार’ ॥”

कबीर के लोक-कल्याण का मूलाधार प्रेम है जिस प्रेम पर लोक-कल्याण आधारित है उसी की चरम परिणति ईश्वर प्रेम या भक्ति है। लौकिक प्रेम ही परम रूप में अलौकिक बन जाता है। इस प्रकार कबीर के प्रेम के दोनो पक्ष स्पष्ट हैं। दोनो एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। प्रेमी कबीर प्रेमी की तलाश में निकलकर उमरे कहीं पा नहीं रहे हैं। यदि उन्हें अपने-जैसे प्रेमी मिल जाये तो कहना ही क्या? अमृत हाथ आजायेगा, कटुता दूर हो जायेगी, सब एक से हो जायेगे।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५७

२. देखिये, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७

यह प्रेम देखने में जितना आध्यात्मिक प्रताप होता है उतना ही भौतिक भी है। चाहे हम उसका आध्यात्मिक स्वर ही सुनायी पड़ रहा हो कि तु यह तथ्य है कि कबीर के व्यक्तित्व का विकास प्रेम और धृष्टा के बीच में हुआ है। अच्छाईया के प्रति उनका आग्रह है क्योंकि वे उन्हें प्रिय हैं और बुराईया के प्रति उनका त्याग भाव है क्योंकि उनसे उन्हें घृणा है। सामाजिक परिस्थितियों के संघर्ष में हम यह अनुमान भी कर सकते हैं कि सामाजिक कुत्सर्पताएँ कबीर के सामने शरभ में ही आने लगी थी। धीरे धीरे समाज की कुत्सित विडम्बनाओं के गम में ही दलितों और पीड़ितों के प्रति उनका प्रेम प्रस्फुरित हुआ। जिन बुराईया के प्रति उनकी प्रतिक्रिया हुई जिन विद्रूपताओं के प्रति उनके विद्रोह की आग धधकी उन्हीं से पीड़ितों के प्रति उनके हृदय में दया का स्रोत उमड़ा। उनका सम्बन्ध परमात्मा से जाड़ कर उन्हीं शीघ्र ही अपने से भा जोड़ लिया।

लोक मगल को दिना में कबीर की केवल धार्मिक भावना ही अप्रसर नहीं हुई अपितु नतिक दृष्टि भी विकसित हुई। यह ठीक है कि लोक मगल का साधना में कबीर की धार्मिक भावना का अपरिहाय रूप से प्रस्तुत रही ही है पर व्यावहारिक दृष्टिकोण भी उसका पूरक के रूप में सलग्न रहा है। वस्तुतः धर्म व्यवहार से परे की वस्तु नहीं है। जहाँ धर्म सहज मानव गुण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है वहाँ नीति देश काल के सम्बन्ध में मनुष्य का मांग प्रशस्त करती रही है।

नाति का समाज से अट्ट सम्बन्ध है। नतिक पतन समाज की शक्ति को घटाने का दना है। व्यक्ति रूपण का आकार बनकर समाज के मूल को उन्मूलन करते हैं। अनाचार के वातावरण में मनुष्यविकृत घुटने लगते हैं। उनकी ओर में उस वातावरण को नष्ट करने के लिए जो सतप्रयत्न हात हैं उन्हीं में लोक मगल की साधना निविष्ट रहती है।

रसूल रूप में धर्म और नीति में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी नीति-व्यवहार के अधिक निकट आती है और धर्म श्रद्धा और विश्वास के। भाव पक्ष प्रधान होने पर भी धर्म के आचरण-वक्ष को

विस्मृत नहीं किया जा सकता। जो धारण करने की क्षमता रखता है वह धर्म भाव और आचार, दोनों से संपुष्ट होता है। धर्म का सम्बन्ध प्रमुखतया व्यक्ति से और नीति का समाज से होने पर भी धर्म को समाज से और नीति को व्यक्ति से विलग नहीं किया जा सकता। धर्म दृढ़ता की अपेक्षा रखता है, अवस्था और धारणा की पृष्ठभूमि चाहता है और नीति को कौशल की विशेष आवश्यकता है। अपने-अपने ढंग से दोनों ही मार्ग शोक-कृत्यारण के साधक हैं।

कबीर समाज को नैतिक बल उपाजित करने की प्रेरणा देते हैं वयो कि जीवन में सब प्रकार की सफलता का आधार नैतिक बल ही है। कबीर का कहना है कि “शक्ति के अन्तर्गत तीना भुवनो के रत्न भरे पडे है”—

‘सीलदन्त सबसे बडा, सर्व रतन की खानि ।
तीन लोक को सपदा, रही सील मे आनि ॥’

कबीर कर्म फल को मामने लाकर पाप से वचन और पुण्य करने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि कलिकाल में परिणाम शीघ्र ही मिला करता है, इसलिए बुराई किसी को नहीं करनी चाहिये। यदि तुम बायें हाथ से अन्न बोओ और दाहिने हाथ से लोटा दो तो दोनों का फल उसी के अनुरूप होगा—

‘कली काल ततकाल है, बुरा करो जनि कोप ।
‘ग्रनदावे लोहा दाह्रैण, बवे सो लुपता होप’ ॥’

जो जैसा करता है उमको वैसा ही फल मिलता है। कर्म का न्याय परमात्मा करता है और तद्गुरूप फल देता है। अतः कुफल पाने से पहले ही चेत् जाना अच्छा है और उसका सीधा मार्ग कुकर्म से वचना है। यह मनुष्य शरीर अति दुर्लभ है। इसे प्राप्त करके घुरे कर्मों में इसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। इसकी सांभकना और सफलता शुभ कर्म करने में है।

कबीर ने श्रीर तू की क्षुद्रता से ऊपर उठने-उठाने का प्रयत्न करते हैं । वे सारे विश्व को एक आध्यात्मिक बन्धुत्व में वधा देखते हैं । जो लोग नहीं देख सकते हैं उनको दिखाने का प्रयत्न करते हैं । अनेक व्यवसाय मनुष्यता का एकता को खडित नहीं कर सकते । वर्ण-भेद मिथ्या है । इससे समाज में भेद पैदा होता है, समाज की एकता बिगड़ती है । ब्राह्मण और बूढ़ दोनों एक हैं दोनों मनुष्य हैं । उनका व्यवसाय उनकी बड़ाई-छुटाई का मापक नहीं है । इस लिये कबीर ने ब्राह्मण को फटकार कर कहा —

“जो तू बाभन बभनी जाया, धान चाट हूँ बघो नहीं आया ।
जो पं करता वरण बिचारं, तौ जनमत ही डाडि किन सारं ॥”

इसका परिणाम यह हुआ कि एक और वर्ण-भेद गिरा और दूसरी ओर हीनता की भावना गिरी । उनसे शूद्रों ने अपनी जाति को गौरव देना सीखा और अपने आचरण सुधारे । उन्हें अपने प्रति आकर्षण हुआ और जीवन में आशा चमकने लगी । उनके लिए भक्ति का द्वार उन्मुक्त हो गया और आत्म-सम्मान की दृष्टि खुल गयी ।

कबीर के लोक-कल्याण की साधना में हिंदू-मुस्लिम एकता का भी प्रमुख स्थान है । कबीर इस आन्दोलन के बड़े भारी समर्थक थे । इसके लिए उन्हें अनेक यातनाएँ भी सहनी पड़ी । सिकन्दर लोदी ने उन्हें दंड दिया, किन्तु वे अपने पथ पर अडिग रहे और आन्दोलन को दुहरी शक्ति मिली और बादशाह की क्रूरता को उनके मत्प्राप्त के सामने झुकना पड़ा । भारतीय जीवन में कबीर का यह प्रयत्न एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है । जिस मार्ग को कानून ने आज अपनाया है, कबीर की वाणी ने उसको उस समय ही अपना लिया था । इस दिशा में कबीर के दूरदर्शी प्रयत्न प्रशंसनीय हैं ।

देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि नारी के सवध में कबीर की दृष्टि उदार नहीं थी, उन्होंने उसे बड़ी सकीर्ण एवं हेय दृष्टि से देखा है । कुछ आलो-

चको का कहना है कि "सभी युगों व देशों के निवृत्तिमार्गियों का यह एक नियम रहा है कि वे स्त्री तथा धन की निंदा करते आये हैं और इस प्रकार वैराग्य की उस भावना को जाग्रित करते रहे हैं जो कबीर को भी स्वीकार है। कबीर ने स्त्रियो को नरक का कुंड बतलाया है। उन्हें स्त्री का विश्वास नहीं है, यह बात खटकती है। यह दुख की बात है कि उन्हें स्त्री में यौन भावना ही दिखाई दी है, उनके आध्यात्मिक आदर्श की ओर से आखे मूँद ली है जिसे उन्होंने उम शाश्वत प्रेमी की भार्याएँ बन कर स्वयं अपनाते का विचार किया है।" इसमें तो सन्देह नहीं है कि कबीर ने नारी को आध्यात्मिक साधना के मार्ग का काटा माना है और शायद वह यौन भावना के सम्बन्ध से। इस विषय में कबीर को किमी परंपरा या स्वर विधेय में सम्बन्ध करना अनुचित है। मेरी समझ में कबीर ने नारी की निंदा इसलिए नहीं की कि उसकी कोई परंपरा चली आ रही थी अपितु साधना के क्षेत्र में नारी के सम्बन्ध से सिद्धो ने जिन विकृतियों का प्रचलन कर दिया था। वे न केवल साधना का कलक थी अपितु समाज के ऊपर भी बुरा धक्का थी। कबीर ने जो कुछ कहा है वह साधना के सम्बन्ध से कहा है और यौन भावना के सम्बन्ध से कहा है। नर-नारी के पति-पत्नी सम्बन्ध अथवा पुत्र-माता संबन्ध की कही निंदा नहीं की है अन्यथा वे स्वयं परमात्मा से बहूरिया और दूल्हा' अथवा 'बालक और जननी' का संबन्ध स्थापित न करते। वास्तव में कबीर को स्त्रियों के व्यक्तित्व से कोई घृणा नहीं थी क्योंकि उनके अनुसार पुरुष की भाँति वे भी परमात्मा की मृष्टि हैं—

"जेतो औरति मरदा कहिये सब में रूप तुम्हारा?।"

कबीर विश्व-प्रेमी हैं। वे दूर करने की दृष्टि से दूसरों की निर्बलता पर विशेष ध्यान रखते हैं। वे दोष का विरोध दोषी को हानि पहुँचाने की दृष्टि में कदापि नहीं करते। वे बुराई के शत्रु हैं, बुरे के नहीं। बुरे के साथ बुराई करो, यह नीति उन्हें प्रिय नहीं है और न भलाई के बदले भलाई करने में ही उन्हें कोई विशेषता दृष्टिगोचर होती है, विशेषता तो वे तब समझते हैं जब बुराई का बदला भलाई से दिया जाये इसीलिए वे कहते हैं—

१ देखिए, बडधवाल—निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री, पृष्ठ १८२

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७६

जो तोकूँ काँटा बुध ताहि बोइ तू फूल ।
तोकूँ फूल के फूल है चाकूँ ह तिरशूल ॥

इसस कबीर की चेष्टाएँ स्पष्ट ह । व योगी को बुराई करना वह सिखाना चाहते क्योंकि बुराई का जवाब बुराई से दन स बुराई का नाश नहा होता प्रयुक्त वह अधिक बढ़ती है । यही विचार कर उहान कहा—

गारी आवत एक है पलटत होय अ क ।^१

बुराई करनेवाला और की शान्ति का भग करता है—अपनी शान्ति का और जिसके साथ वह बुराई करना है उसकी शान्ति को । और तो और वे अभिमान की बात तक को बुराई कहते ह और उपदेश दत ह—

एसी बाणी बोसिय मन का आपा खोइ ।
अपना तन सीतल कर औरन को सुख होइ ॥

कबीर की अ याम साधना मग से अट्ट सबध रखती ह और सग का मन क समयन या नियंत्रण म बडा याग रहता है—

कबीर तन पखी भया जहा मन तहा उडि जाइ ।
जो जसी सर्गति कर सो तसो फल खाइ ॥

कबीर क पास सग क कुछ माप दड है जो कवल उनसे ही सबध नहीं रखते अपित ससार सतरण के लिए दूसरा का भी हितकर सिद्ध हाते ह । कभी कभी लाग गुभ वेप से बहक जात ह और उनम गुभ का विदवास कर लेते ह । कबीर एस लागो को पहिचानत ह और वे चेतावनी दत हुए कहत ह—

उज्जल दखि न धीजिय बा जू मा० ध्यान ।
धोर बठि चपटसी य ल बूड ग्यान ॥

- १ सत-नाणी संग्रह पृष्ठ ४४
- २ सत-वाणी संग्रह पृष्ठ ४५
- ३ कबीर प्रथावली पृष्ठ ५७
- ४ कबीर प्रथावली पृष्ठ ४८
- ५ कबीर प्रथावली पृष्ठ ४९

सभी भीठा बोलने वाले साधु नहीं होते । बहुधा ऐसे लोग धोखेवाज होते हैं—

“जेता भीठा बोलवा, तेता साध न जाणि ।
पहली थाह दिखाई करि, ऊं डं बीसी आणि” ॥”

ऐसा ही नहीं कि कबीर समाज को केवल दूसरो के बताये हुए मार्ग पर ही चलाना चाहते हैं, वरन् उनकी अपनी अनुभूतिया हैं और अपने परीक्षण और प्रयोग हैं । पत्थर-पूजा, तीर्थ-व्रत आदि के खोखलेपन को उन्होंने भली भाँति देख लिया है । वे नहीं चाहते कि लोग धोखे में पड़े रहे, वे नहीं चाहते कि वे भ्रम-मार्ग को प्रशस्त करे इसलिए उन्हें बहना पडा—

“पाहन कू का पूजिए, जे जनम न देखै जाय ।
आधा नर आसामुपी, योही खोवं आवै” ॥”

यहा कबीर ने केवल प्रस्तर-पूजा पर ही आघात नहीं किया है, वरन् बरारी चोट दी है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर मूर्ति-पूजा के साथ मे ‘आशा’ पर भी लगी हुई कामना (आशा) को हेय बताते हुए भी सिद्धान्त के पीछे निहित भाव को स्वीकार करते हैं । आशा भावना की शुद्धता का अपहरण करके पूजा के माहात्म्य को नष्ट कर देती है । लोग पत्थर को पत्थर न मान कर देप मान बैठते हैं और अपनी-अपनी इच्छा से अनेक देवों की कल्पना करके न केवल देव-एकता को नष्ट कर देते हैं अपितु बहुदेवोपासना के सम्बन्ध से सामाजिक एकता को भी खडित करते हैं । इसी कारण कबीर ने कहा—

“जेती देखी आःमा तेता सालिगराम” १”

जिन लोगों का मानसिक स्तर इतना नीचा है कि उपामना के लिए वे आकार को अनिवार्य मानते हैं उनके लिए कबीर साकारोपासना की सलाह देते हुए कहते हैं—

“साधू प्रतधि देव हैं, नहीं पाथर सूं काम ।”

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४

३. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४

इन साधुओं के पूजने का कोई अर्थ है, कोई फल है। वे आपकी शक्ति का समाधान कर सकते हैं क्योंकि बोलते हैं, समझते हैं और अनुभव रखते हैं। इनके सामने मूर्ति-पूजा व्यर्थ ही नहीं, भ्रामक सिद्ध हो जाती है।

कबीर का साधु किमी बन या गुफा में नहीं रहता, किसी विशय प्रकार का वस्त्र धारण नहीं करता, कोई तिलक-छापा नहीं लगाय रहता, किसी मंदिर या मस्जिद में बैठता नहीं मिलता, उसको कोई वाहरी पहचान नहीं है, वह तो केवल मन, वाणी और कर्म का समय जानता है, शुद्ध और निर्मल हृदय वाला है और शांत-चित्त है। कामादि उस को छू तक नहीं पाते। उपकार और प्रेम उसका मार्ग है और मुक्ति उसका लक्ष्य है। वह मुक्ति भी किसी हाट में बिकने वाली वस्तु नहीं है अपितु आत्म-साधना का मधुर फल है जिसे वह एकान्तवासी होकर नहीं प्राप्त करता अपितु समाज में रहकर और निमग्नभाव से उसे प्रेरित करता हुआ वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

भोक-वत्याण का अधिक विनम्रता की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह स्वयं विनम्र होता है और दूसरों को भी विनम्रता की शिक्षा देता है। विनम्रता के उत्कर्ष में कबीर राम का 'भुतिया' तक बन जाते हैं। इनका यह विनय केवल राम के प्रति ही नहीं है, धरन् अपने लौकिक व्यवहार में भी वे बड़े विनयशील हैं। अतएव वे दूसरों को भी विनयी होने का निर्देश करते हैं—

“रोडा ह्वं रहो बाढ का, तजि पाखड अभिमान ।”

कबीर की विनम्रता सहनशीलता और समता में सम्पुटित है। जिस प्रकार उत्तेजना दुःख का कारण बनती है उसी प्रकार विषमता को भावना भी दुःख देती है। इसी लिए कबीर विनम्र होने के साथ सहनशील होने का आदेश देते हैं—

‘खुदन तौ धरती सहै, बाढ सहै बनराइ ।

कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सहचा न जाइ ॥”

‘हरिजन’ कबीर का आदर्श मानव है। वह विनम्र और सहनशील होने के साथ-साथ समभाव से विभूषित होना है। उसको पक्षपात कलंकित नहीं

१. कबीर, कृता राम का, मुस्लिम, मेर, नरहें ।

गल राम को जेवडी जित खेचे तित जाउ ॥

करता । व्यक्ति न केवल स्वयं आत्मशान्ति प्राप्त करता है अपितु समाज को भी उसकी प्रतिष्ठा की ओर प्रेरित करता है । इसी दृष्टि से कबीर कहते हैं—

‘सौतलता तब जाणिये, समिता रहै समाइ ।

पप छांडे निरपप रहै, सबद न दूष्या जाइ ॥’

कबीर की विनयोपेन आध्यात्मिक शक्ति उनके दैन्यसम्भूत गर्व के रटस्य का उद्घाटन बड़ी सरलता से कर देती है । कबीर अपने दुर्बल शरीर में भी एक असीम शक्ति का साक्षात्कार करते हैं जो कर्म के मूल्य का किसी प्रकार हानि नहीं करती ।

समाज के विगलन का कारण कबीर स्व की सकीर्णता मानते हैं । जिससे अनेक विपत्ताओं का प्रादुर्भाव होता है । सामाजिक एकता का खंडन पारस्परिकता के बन्धन का शैथिल्य इसी सकीर्णता से उद्भूत होता है ! अतएव वे मनुष्य को कूप-मङ्कता से निकालकर उसकी वृत्तियों को उदात्त बनाने की प्रेरणा भी देने हैं । जिसने वेद और पुराण का पुस्तके पड डाली हैं, वह कबीर की दृष्टि में पंडित नहीं हैं । इस सार में ऐसे लोग न जाने कितने आते और जाते हैं । सामाजिक दृष्टि से ही नहीं, वैयक्तिक कल्याण की दृष्टि से भी उनका कोई मूल्य नहीं है क्योंकि पांडित्य का गर्व उनकी उन उदात्त भावनाओं को, जिनसे लोक-मगल का परिपोषण होता है, दबोच देता है और ऐसे व्यक्ति समाज की प्रगति में न केवल दीवाल का काम करते हैं, प्रत्युत दूसरों को पगु बनाने का प्रयत्न करते हैं । ऐसे ‘पंडितमन्य’ लोगों की भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं—

“पोथी पढ-पढ जग मुआ, पंडित भया न कोय ।

ढाई आखर प्रेम का, पढं सो पंडित होय ॥”

कबीर यह जानते थे कि लोक-मगल की सिद्धि किसी एक व्यक्ति की साधना से नहीं हो सकती थी, व्यक्तिमात्र का आचरण सामाजिक मगल तक पहुंचा सकता है । इसके लिये वे एक दानावरण की आवश्यकता समझते थे जिसका सृजन उनकी समकालीन परिस्थितियों में अति दुर्भर था । उस समय प्रश्न केवल एकेश्वरवाद और अनेकेश्वरवाद का ही नहीं था, अपितु वेदवाद और अवेदवाद का भी था । इतना ही नहीं अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय अपनी अनेक भ्रातियों में आविष्ट होकर सामाजिक कुप्ताओं के रूप में प्रस्तुत हो रहे थे ।

इतम से किसी के भी पक्ष म कबीर की साधना की असफलता होनी । इस कारण कबीर को साधना वा एक नया मार्ग निर्मित करना पडा जिसके कण-कण मे सम्प्रदायवाद को धुनीती थी, जिसम पग-पग पर नव-जागरण वा आह्वान था, समाज को कबीर एक चेतना का वरदान दे रहे थे—उस चेतना वा जिमको कोई प्रातिशील मतवाद आज तक समाज के सामने प्रस्तुत नहीं कर सका है । अनेक वादा के समर्थक अपने-अपने लक्ष्य की मोहनी लेकर यह कहने वा दावा कर सकते ह कि एक अभ्यन समाज की प्रतिष्ठा म उनका मत एकमात्र साधन है, किन्तु उसके साधना म क्या-क्या बूटाएहै, दूसरा को उनके यत्न करने की आवश्यकता नहीं, वे स्वयं जान सकते हैं ।

कबीर मतवादी नहीं थ । वे न तो किसी मत का विरोध करना चाहते थ और न किसा का समर्थन ही क्याकि म दाना ही वाते उनके लोक-मगल की साधना म बाधक सिद्ध हो सकती थी । अतएव वे पक्ष-विपक्ष से ऊपर उठकर उस लोक का विचार करने लग जिसम न कोई ब्राह्मण है न कोई शूद्र, न राजा है न रक, न हिन्दू है न मुसलमान, न वेद है न कुरान, न मंदिर है न मस्जिद, न काशी है न काबा, न पंडित है न काजी और न पुजारी है न मुल्ला ।

लोग यह कह सकते है कि यह कबीर का वह लोक है जिसमे इस भूतल के निवासी नहीं रहने । वह कबीर का हरि-लोक हा सकता है या उनका कोई मनोलोक जिसकी 'तीन लोक स मथुरा ध्यारी' के सिवा कुछ नहीं कहा जा सकता । किन्तु यह कहना और समझना भ्रम हागा । इसकी पृष्ठभूमि को यदि मनोविज्ञान के उज्ज्वल लोचनो स देखा जाय तो उसम कबीर का वह मबल-लोक मिलेगा जिसकी कल्पना आज के कडि ही नहीं राजनीतिज्ञ भी करने लगे ह । धर्म-तिरपेक्ष राज्य कबीर की उभी साधना की एक भग्न कडी कहा जा सकता है क्योंकि उसको एक सोपान कहना इसलिए उचित नहीं कि उस साधना की प्रतिष्ठा म कबीर ने अनीकिक तत्त्व को लौकिक बनाकर ग्रहण किया था । उन्होंने अद्वैत म एक अखण्ड समाज की भावना की थी जिसम अविगत भेद-दृष्टि क लिए आलोक की कोई किरण नहीं थी ।

यह ठीक है कि भारत मे अनेक महात्मा हुए, अनेक कवि हुए और अनेक दार्शनिक हुए किन्तु किसी के प्रयत्नो मे ऐसी अदम्य एकता नहीं मिलती ।

जिन लोगों को कबीर में कोई स्थापन दीखता है या उन्हें किसी गर्वोक्ति का आभास मिलता है, वे उनके मूल में कबीर की ईमानदारी और लगन देखें। उनकी निर्भीकता और स्पष्टता देखें और उनके विवेक की गहनता देखें। यह ठीक है कि तुलसीदास ने भारतीय मानस के अधकार को दूर करने के लिये अपने मानस का आलोक दिया और यह भी है कि सूरदास ने हरि-प्रेमियों को मुग्ध करने के लिए लोक-मानस के तारों को भक्तृत्व किया, किन्तु क्या वे किसी मतवाद से उतना ही ऊँचा उठ सके जितना कि कबीर उठे थे? क्या उनके आदर्शों में कबीर का सा ही एक पूर्ण समाज निहित था? शायद इस प्रश्न का कोई निष्पक्ष उत्तर न मिले। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह कह कर कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् यदि कोई व्यक्ति वसा हो प्रौढ व्यक्तित्व लेकर गया तो वह कबीर था, कबीर के महत्त्व को अवश्य स्वीकार किया है, किन्तु यदि डॉ० साहव बुद्ध और कबीर की परिस्थितियों की तुलना करके साधनों के सम्बन्ध में निर्णय देते तो संभवतः उन्हें अपना मत बदलकर यह कहना पड़ता कि भारतीय इतिहास में कबीर एक अनुपम विभूति के रूप में अवतीर्ण हुए। जिन समय विश्वराज्य का स्वप्न साकार होगा, शायद कबीर के लोक-मगल की साधना का महत्त्व रोग उस समय स्वीकार करेंगे।

जो लोग इस युग में आकर्षण और मोहन के सिवा और कुछ नहीं देखते, उनमें तो कुछ कहने की बात ही नहीं उठती, किन्तु जिन्होंने इस युग के दम्भ पाखण्ड, छल-छद्म, वपट, मिथ्यावाद, मिथ्याचार आदि को देखा है और इनके जाल में फँसकर युग को कोमते हैं वे कबीर की वाणिया तक पहुँचे। उनमें उनको अवश्य ही कुछ महानुभूति होगी कुछ तोष मिलेगा, कुछ तृप्ति मिलेगी और शायद वे यह भी सोचने लगे कि यदि उनमें शक्ति होती तो वे भी ऐसा ही बहने मिथ्याचारों और मिथ्यावादों को कबीर न फटकारा है उनमें समाज के विनाशकारी तत्त्व स्पष्ट हैं। समता की जो भावना, मानव-एकता की जो प्रेरणा कबीर की वाणी में साकार हुई है, उसमें लोक-मगल की साधना स्पष्ट है। महात्मा गांधी के इस युग में—उस महात्मा के युग में जिनमें अहिंसा और सत्य की आधारशिला पर अपना जीवन निर्माण किया, सत्याग्रह को प्रतिष्ठित कर दुराग्रह का मूलोच्छेदन किया। अहिंसा की शक्ति से हिंसा को भगाया, वर्णभेद को उखाड़ कर समता को प्रतिष्ठित किया, भूखों को भोजन और नगों को वस्त्र दिलाने का जिन्होंने पूर्ण प्रयत्न किया—कबीर की लोक-साधना का

महत्त्व और भी बढ़ जाता है। जैसे कुछ दिन पहले तक राज्याभिषेक के अवसर पर राजा अपने किमी पूर्वज का हथियार चुनता था उसी प्रकार महात्मा गांधी के मुख और हाथ में शक्ति दखते हैं, वह विल्कुल कबीर की जैसी शक्ति है। परिस्थितियाँ इस युग में भी कुछ कम जटिल नहीं, दोनों ही लोक-मंगल के साधक रहे। अन्तर रहा तो केवल इतना कि महात्मा गांधी शिक्षित थे और कबीर ने 'भसि-कागद' ही नहीं छुआ था। किन्तु कबीर की वाणी में प्रखरता-मयी शक्ति थी और महात्मा गांधी की वाणी में मजबूत प्रभावोत्पादकता। एक मरहम लगाकर फोड़े को ठीक करता था, दूसरा चीर-फाड़ करने में सिद्धहस्त था। दोनों में कौन छोटा और बड़ा था—इसका उत्तर तो गायद फायद ही द सके, किन्तु यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि कबीर की वाणी में कभी कभी कविता की लहर भी उद्वेलित हो उठती थी, परन्तु अपनी साधना को यदि किसी महानुराग ने फलदायी देखा तो वह महात्मा गांधी थे।

लोक-काव्य की कसौटी पर कबीर-वाणी

कबीर के आध्यात्मिक सिद्धान्त योग के प्रतीको और 'भगति नारदी' आदि वाक्यों को देख कर कबीर वाणी को लोक-काव्य की कसौटी पर चढाने में हिचक होने लगती है क्योंकि लोक काव्य का सम्बन्ध किसी दार्शनिक-वाग से नहीं होता । वह तो लोक-जीवन के सामान्यतम तथ्यों की अभिव्यञ्जना से ही सन्तोष कर लेता है क्योंकि वह किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है । प्रत्येक मानव उसे अपनी निधि के रूप में अक्षुण्ण रखता है किन्तु देश-काल की छाप उन पर अवश्य लगी रहती है । जो बातें सामान्य जनता में समाहित होती हैं वही लोक काव्य की रीढ़ होती हैं क्योंकि काव्य भी तो वास्तव में समाज का ही चित्र है । कबीर की वाणी में यह गुण होने से वह लोक काव्य के ही अधिक समीप है । उसे दर्शन के अन्तर्गत रखना उसमें आये हुए लोक जीवन की उपेक्षा करना है । कबीर की सूक्ष्म अनुभूतियों में दर्शन का रंग झलकता है । यह उनके सत्संग का फल भी कहा जा सकता है किन्तु इनके साथ उनकी वे अनुभूतियाँ भी तो हैं जो उनके अन्तर से नहीं, बाहर से सम्बन्ध रखती हैं और ऐसे बाहर से जिसे प्रत्येक मानव अपना समझता है । दम-पाखण्ड के जिस युग में रक रहता था उस में राजा भी । उसमें दोना का सम्बन्ध था । जिस पर कबीर का अधिकार था उस पर हर किसी का अधिकार था । इस दृष्टि में कबीर की वह वाणी जो लोक से सीधा सम्बन्ध रखती है लोक-काव्य के अत्यन्त समाहित हो जाती है किन्तु उनकी सूक्ष्म अनुभूतियाँ भी सामान्यतम प्रतीका का आधार पाकर लोक जीवन से दूर नहीं रह जाती—

'आइ न सकौं तुभ पै, सकू न तुभ बुलाइ ।
जियरा यौही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥'

यह एक आध्यात्मिक अनुभूति है जिसमें प्रेम का विरह पक्ष प्रबल है। इस साखी को लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों अर्थ दिय जा सकते हैं। इसके अर्थ में एक ओर जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को देखा जा सकता है तो दूसरी ओर विरहगी प्रियतमा का हृदय भी दीख जाता है। अतएव यह साखी त्रिम प्रकार एक ईश्वर प्रेमी की निधि है उसी प्रकार सामान्य प्रेमी की भी।

इसके अनिर्विक्त जीवन को दर्शन से विरहित नहीं किया जा सकता और भारतीय जीवन तो दर्शन की धरा पर ही प्रवाहित हो रहा है। उसके सुख दुःख और आशा निराशा के उतार-चढ़ावों से जो गति और अवरोध आते हैं उन्हीं की अभिव्यक्ति का नाम तो दर्शन है जो चिन्तनविषयक मान्यता है। मतवादा के सम्बन्ध में अनेक दार्शनिक प्रणालियाँ दीख पड़ती हैं किन्तु जीवन के सामान्यतम तथ्यों एवं तत्त्वबोध विचारा को लेकर भी दर्शन साहित्य में अभिव्यक्त हो सकता है। उसी की प्रतिष्ठा अनेक भक्तों के ऊपर होती है और वही जीवन दर्शन है।

कबीर का जीवन-दर्शन निगूढतम हाते हुए भी सामान्यतम है। उनकी जो उक्तिया अद्वैतदर्शन की परंपरा को ही जमी हुई शिलाएँ प्रतीत होती हैं वे सामान्य मानव तक को रोचक लगती हैं। चाहे साम्प्रदायिक रीतियों से मोह हा जाने के कारण हम अपने राजमार्ग का भूल जाय किन्तु वह एक ऐसा मार्ग है जो सब बीभियों का काम साधता है, जो मनुष्य को सकीर्णता से निकाल कर उदार एवं सर्वगम्य मार्ग पर प्रतिष्ठित करता है। कबीर के सामने चाहे उपनिषदों का अद्वैतदर्शन रहा हो चाहे शंकर का मायावाद किन्तु वे उनकी भूल भुलियों में ध्रांत नहीं हुए। उनकी उक्तिया पर परंपरा का प्रभाव प्रतीत हाना हुआ भी, उनमें 'अपनापन' है जिससे असहमत हान के लिए किसी को कारण मिलना दुष्कर है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित साखी को लीजिय—

सपति माहो समाइया सो साहिब नहीं होइ ।

सकल माड में रमि रहया, साहिब कहिये सोइ ॥”

यह साखी आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं सामाजिक दृष्टि से भी कोई मतभेद पैदा नहीं कर सकती। आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें अद्वैतवाद का समर्थन दीख पड़ता है और सामाजिक दृष्टि से इसमें ईश्वर की प्रतिष्ठा करके मानव

बन्धुत्व की प्रतिष्ठा की गयी है। जहाँ मानव के अहंकारमूलक स्वामित्व पर आघात किया गया है वहाँ समता एवं बन्धुत्व की भावना के लिये धरातल भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार की 'वाणी' किसी एक व्यक्ति या वर्ग ने सबध न रखकर अपनी मार्गजनीनता को घोषित करती है। फिर इसे लोक-पाठ्य के पद से च्युत करना अनुचित ही होगा। कवीर की आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में भी लोक-जीवन की बड़ी सरस भावियाँ मिल जाती हैं। एक भाकी देखिये —

“चरपा जिनि जरं ।

कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भैया की सौं ।”

इस पद में कातने के जिस कर्म का निर्देश है वह कवीर कालीन लोक-जीवन का आश्रय था। अब भी गाँवों में गरीब औरतें कताई करके अपना और अपने परिवार का उदर-पोषण करती हैं। आज चरखे की बात भले ही राजनीति से अपना सम्बन्ध रखती दीख पड़ती हो किन्तु पच्चीस-तीस वर्ष पहले तो गाँवों की अधिकांश स्त्रियाँ कताई करती थीं। यदि उनमें से कुछ अपने घर का सूत कातती थी तो कुछ मजदूरी पर कातती थी। कताई के भी अनेक भेद होते थे बिल्कुल उन्नी प्रकार जिस प्रकार कि सूत और रई के अनेक भेद होते थे। आज तक एक जनश्रुति चली आ रही है कि दिल्ली में अकबर ने एक दरवार किया उसमें किमी ने कताई-कला का प्रदर्शन करते हुए एक रसी सूत को दो सौ गज से नपवा दिया था। इसमें चाहे कुछ अत्युक्ति रही हो किन्तु कताई का केवल व्यवसाय के रूप में ही नहीं बल्कि कला के रूप में भी मूल्य था, यह तथ्य अवश्य उद्घाटित होता है। 'हजरी का सूत' कला की ओर भेकत करता हुआ कताई का नारी से संबंध स्थापित कर देता है। 'नणद के भइया' में नारी के लिए कितनी मोहकता है, नारी के हृदय में उमंगी कितनी प्रतिष्ठा है, इस बात को नहीं भुलाया जा सकता। इसमें स्पष्ट है कि कवीर का यह पद किसी सम्प्रदाय या मतवाद के लिये नहीं बना था अपितु उसका सम्बन्ध सामान्य नारी से था। अतएव वह अवश्य ही नारी-कठ का भूषण रहा होगा। यह बात नहीं है कि

इस पद में केवल लाव-पक्ष ही प्रमुख है अध्यात्म पक्ष भी उतना हा ऊचा है—

× × ×
 'सब जग ही मरि जाइयो एक बढइया जिनि मरै ।
 सब राँडिनि की साथ, चरखा को धरै' ॥
 × × ×

यहा बढई परमात्मा है, 'चरखा शरीर है और 'हजरी का सूत' सूक्ष्म की अनुभूतिया है। कबीर की वाणी में ये दोनों पक्ष अनेक स्थलों पर प्रबल हैं फिर भी लोक काव्य में उसका अपना स्थान है। इसी प्रकार—

अब मोहि से चलि नगद के वीर अपने देता ।”

इस पद में भी गरी के लिए कम आकर्षण नहीं है। नगद का वीर अपने प्रतीक रूप में जिस प्रकार पंडितों के मन को मोहता है उसी प्रकार नारी-समाज के मन को भी।

ऐसा सोच लना भी अनुचित नहीं है कि इस प्रकार के गीता की शैली लाक प्रचलन प्राप्त कर चुकी होगी। कहते हैं कि विद्यापति-पदावली का मिथिला और उसके आस पास बहुत प्रचलन हो गया था और उनमें से बहुत से पद अब तक लोक मान्य बने हुए हैं। इसी प्रकार कबीर के पदा को भी लोकमान्यता प्राप्त है। सरंगी, सितार या तानपुरे पर गाय जाते हुए कबीर के पद अब भी जनता का मोहन कर रहे हैं।

लोक-गीता के सबंध में विद्वानों ने कुछ माध-दण्ड बना रखे हैं और वे हैं द्रुत प्रवाह, शब्द विन्यास की सरलता, विश्वव्यापक ममस्पर्शी सहज स्वाभाविक मनोरोग व्यापार का उद्वेग आलम्बन या दृश्य सम्बन्धी स्थूल अवन और माहित्यिक रूढ़िया का बहिष्कार।

कुछ विद्वानों का यह मत भी है कि लाक-गीत की पृष्ठभूमि में कोई कथानक अवश्य रहता है। मैं समझता हूँ कि कथानक उमक लिए अनिवार्य

नहीं है। अतिवार्य है भाव-तीव्रता, प्रवाह-द्रुति और अनुभूति की सार्वजनीनता, भाव-तीव्रता, अभिव्यजना की कृत्रिमता और शिथिलता को नष्ट करके उसे स्वाभाविक और घुस्त बनाती है। कबीर के गीतो में इन गुणों के अतिरिक्त आत्मपरकता का गुण विशेष है। यह ठीक है कि गीतो के लिए आत्मपरकता चाहिये, किंतु लोक-गीतो में आत्मपरकता के प्राधान्य की आवश्यकता नहीं है। विषयी की साधना में विषय का भी महत्त्व है। विषय या वस्तु का सहारा लिए बिना विषयी आकाश का पक्षी बन कर ही सर्वत्र नहीं उड़ सकता। उस को जो प्रश्रय, जो विश्राम चाहिये वह वस्तु में मिलता है। कबीर के गीतो में आत्मपरकता तो है, किंतु अनेक स्थलों पर उनका वस्तु-सम्पर्क भी प्रशस्त है—

“कबीरा प्रेम को कूल डरं, हमारं राम बिना न सरं।

बाधि लै धोरा सोचि लै ब्यारी ब्यु तू पेड भरं॥”

×

×

×

इस पद में उक्त दोनों गुणों का समावेश है। यह गुण कबीर के गीतों में ही नहीं है, साखिया में भी है। हम उनकी साखियों को भी लोक-काव्य से दूर नहीं रख सकते। यदि लोक-काव्य की एक परख यह भी है कि उसे लोक-प्रेम या लोक-रुचि मिले तो कबीर की वाणी लोक-काव्य भिन्न होती है। जिन चीजों को आज हम हठयोग से सम्बन्धित कह कर जनसाधारण से दूर की मानते हैं वे कबीर के समय में बहुत पास की माली जाती थी क्योंकि योग का सम्बन्ध सिद्धि और गुण गोरखनाथ से जोड़कर सामान्य को विस्मयात्मक आदर देते थे। बाबा गोरखनाथ के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ और गीत बन गये थे जो बड़े उल्लाम के साथ जनता में गाये जाते थे। उन जनश्रुतियों और गीतों का मूल्य कबीर की वाणी में किसी प्रकार घटा नहीं, बल्कि बड़ा ही दीख पड़ता है।

जो काव्य-लोक के समीप बिना किसी प्रयास या प्रयत्न के ही पहुँचने की क्षमता रखता है और जो लोक-रुचि को तीव्रता से पकड़ लेता है, वह लोक-काव्य नहीं तो क्या है। जिस काव्य में जनता का हर व्यक्ति, समाज का प्रत्येक

सदस्य, छोटा हो चाहे बड़ा, अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है वही वस्तु लोक-काव्य है क्योंकि उसी में जनरुचि को शीघ्रता से पकड़ने की शक्ति होती है। जिस प्रकार लोक-भाषक वही है जो लोक-प्रिय है, जिसका प्रभाव लोक पर पडे बिना नहीं रहता उसी प्रकार जो लोक को खींच कर अपने भावों के साथ उठाने की सामर्थ्य रखता है वह लोक-काव्य है। इस कमाटी पर कबीर की वाणी अधूरी नहीं उतरती। व्यापार, व्यवसाय, व्यवहार, सस्कार, धर्म आदि ऐसा कोई भी तो सामाजिक पहलू नहीं है जिसको कबीर ने न छुआ हो।

वे खेत मीचने के तरीके जानते हैं। अनेक व्यापारों से परिचित हैं। तुरई की कीमन जानते हैं, हिडोले के खभा और डोरियों से उनका परिचय है, मधु-सचय का सारा रहस्य जानते हैं। वे बनिये की चतुराई और वस्तुओं का मूल्य जानते हैं। किमान और पटवारी से लेकर बन्दोबस्त के अहलकारों और हाकिमों के कारनामों को जानते हैं। वे विधवा की दशा से परिचित हैं, और सबसे अधिक जानते हैं वे अपने व्यवसाय को। बत्ताई और बुनाई का जितना सूक्ष्म चित्रण कबीर ने अपनी रचनाओं में किया है वह न केवल उनके सम्पर्क की गहनता प्रकट करता है अपितु उनकी अभिव्यक्ति की सफलता भी। कहने का तात्पर्य यह है कि वे रक से राजा तक, चीटी से कुजर तक, राई से पर्वत तक और घोर पापी से परम पुण्यात्मा तक, सबको जानते हैं। सबके चित्र उनकी आंखों में हैं। वे अच्छे चित्रकार हैं, फिर भी विचित्र। वे केवल इन चित्रों को दिखाना नहीं चाहते। उनका मूल उद्देश्य समाज को ममता-मोह आदि से सबंधित अनाचार एवं घट्याचार के पक से निकालकर एक ही आध्यात्मिक स्रोत की ऊँचाई पर ला बैठाना था। इसी से वे कह उठते हैं—

'तन खोजी नर ना करो बड़ाई,
जुगति बिना भगति किनि पाई ।
एक फहावत मुलां काजी,
राम बिना सब फोक्टबाजी ।
नबग्रिह बांभण भगता रासी,
तिनहू न काटी जम की पासी ।
कहै कबीर यहू तन काचा,
सबद निरजन राम नाम साचा ॥”

यद्यपि लोक-काव्य सामाजिक उल्लाम को प्रोत्साहित करता है, सामाजिक जीवन को सरक्षित करता है किन्तु उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत उद्बोधन से भी रह सकता है—

“राम न जपहु कहा भयो अन्धा,
राम बिना जन्म मेलै फया ।
सुत दारा का किया पसारा, अन्त की बेर भये चटपारा ।
भाया ऊपरि काया भाडी, साथ न चलै षोषरी हांडी ।
जपो राम ज्यू अन्ति उबारै, ठाडी बांह कबीर पुकारै” ।”

कबीर की वैराग्यवृत्तियों विशेषतः व्यक्तिगत उद्बोधन से ही सम्बन्धित हैं । फिर भी उनमें सामाजिक प्रेरणा की उपेक्षा नहीं की जा सकती । कहा तो यह भी जाता है कि वैराग्य-भावना मध्य-युग की एक बड़ी भारी प्रवृत्ति थी जो अधिकांशतः सत्य भी है । मूर और तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त भी वैराग्य को भक्ति का साधन मानते रहे । कबीर की विरक्ति-भावना में लोकासक्ति के निवारण करने का लक्ष्य तो निहित है ही, साथ ही उसमें सामाजिक समता और एकता की भावना भी निहित है । जहाँ कहीं कबीर को विपमता का आग्रह दीख पड़ता है वही वे वैराग्य का दुधारा लेकर टूट पड़ते हैं । उनका प्रहार एक ओर सामाजिक वैषम्य पर होता है और दूसरी ओर ईश्वरीय एकता के बाधक तत्वों पर—

“तार्यं सविये नाराइणा,
प्रभू मेरो दीन दयाल दाय करणा ।
जो तुम्ह पडित आगम जाणौ, बिद्या व्याकरणा ।
तन्त भन्त सब ओषदि जाणौ, अति तऊ मरणा ।
राज पाट स्थधासण त्रासण, बहु सुन्दरि रमणा ।
चन्दन चीर कपूर विराजत, अति तऊ मरणा ।
जोगी जती तपी सन्यासी, बहु तीरथ भरमणा ।
सु धित मु डित मौनि जटाधर, अति तऊ मरणा ।

सोचि विचारि सबै जग देखा, कहू न ऊबरणा ।
 यहै कबीर सरणार्ई आपौ, भेटि जामन मरणा' ॥''

हाँ, एक बात अवश्य है जो कबीर की वाणी को लोक-काव्य के पद पर आमीन होने से रोकती है और वह है समाज की कटुतम आलोचना, ऐसी आलोचना जो वर्ग और सम्प्रदायों पर सीधा प्रहार करती है। उनके सम्बोधन आलोचना की कटुता को और भी प्रखर कर देते हैं। इस प्रकार लोक-रुचि और काव्य के बीच में आलोचना के आ जाने से कबीर-वाणी का लोक-काव्यत्व निबल पड़ जाता है।

कबीर के समय में ही उनकी वाणी की मान्यता गीतों के समान थी। इसका प्रमाण उनके अपने शब्द हैं—

“लोग जानै इहु गीत है, इहु तौ ब्रह्म विचार ।
 ज्यो कासी उपदेस होई, मानस मरती बार' ॥”

कबीर यह जानते हैं कि ब्राह्मणिरूपण के सम्बन्ध से गीत की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, उसमें जीवन-तत्त्व भी होना चाहिये, सरसता का पुट भी चाहिये। फिर भी उनकी वाणी को लोग गीत समझते थे, उसका गीतवत् आदर होता था। इससे स्पष्ट है कि उसमें सामान्य जीवन-तत्त्व निहित है। उसमें कोई ऐसी बात अवश्य है जो उसे गीत-कोटि में रख देती है। चाहे कबीर विनयवश अपनी वाणी को गीत भले ही न कहते हो किन्तु उसकी मान्यता गीतों में थी, इस बात का उन्हें ज्ञान था। कबीर की उक्त साखी कबीर की वाणी को लोक-काव्य की कोटि में रखने का प्रयत्न करती है।

जो हो, भाषा की सरलता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता, जीवन सम्पर्क, प्रवाह-द्रुति, प्रभाव-तीव्रता आदि के आधार पर कबीर-वाणी को लोक-काव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं। उसका सम्बन्ध जिस प्रकार मनुष्य के अन्तर्लोक से है उसी प्रकार बहिर्लोक से भी है। दोनों दिशाओं में जीवन से उसका सीधा सम्बन्ध

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४८

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७३

है। जिस प्रकार चिन्तन की ऊँचाई और अनुभूति की गहराई से कबीर-बाणी का सम्पर्क है उसी प्रकार जीवन के विविध पक्षा से भी कबीर का परिचय है। इन दोनों में जो पैदाद दिये हैं वे कबीर के कौशल के प्रमाण हैं। एक ही माथ दो दिशाओं में घुमना और दो मार्गों से एक ही लक्ष्य पर पहुँचा देना कबीर की अमोघ प्रतिभा का फल है। जिस मार्ग का अनुसरण अच्छे अच्छे कवि नहीं कर पाते, जिन साधनों का सफल उपयोग विरले ही भारतीय नन्दन कर पाते हैं उनका उपयोग ही नहीं करके जन जीवन से सहज सम्पर्क भी कबीर के हाथों में इतना प्रौढ़ और प्रभावोत्पादक बन गया है कि न मानने वाले भी उनको कविया की सरणि में रखते हैं। लोक-काव्य की कसौटी पर कबीर की बाणी को उतारने के लिए यह गुण पर्याप्त है।

हिन्दी कविता की प्रतीक-परम्परा में कवीर का योग

छायावाद के कुछ समीक्षकों ने इस भ्रम को प्रशय दिया है कि प्रतीक-शैली पाश्चात्य-प्रेरणा मात्र है। उनके मत में इतना तो मलय है कि साहित्य ने भारतीय भाषाओं के साहित्यिक रूप-विधानों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है किन्तु हमारे प्राधुनिक साहित्य को प्राचीन भारतीय परम्परा से विच्छिन्न करके रखना सदैव समीचीन नहीं है। न केवल भारतीय धर्म और काव्य की प्रतीक-पद्धति की प्राचीनता ही असदिग्ध है अपितु किसी भी देश के साहित्य और धर्म का ज्ञान वहाँ की अभिव्यक्ति परम्परा में न्यूनाधिक मात्रा में प्रतीकों के प्रयोग का परिचय अवश्य देता है।

बहने की आवश्यकता नहीं कि मानव जाति के अस्तित्व के लिए प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है। मानव जीवन का सारा मंत्र ही अपनी गति के लिए उस पर आश्रित रहता है। धर्म का कर्म-काण्ड-सबधी अर्थात् भी विशुद्ध प्रतीक-विधियाँ के सिवा और कुछ नहीं है।

जब से मानव-भावों को अभिव्यक्त करना आवश्यक प्राप्त हुई तभी से प्रतीकों के प्रचलन का इतिहास प्रारम्भ हो गया। मानव के सामने जो-जो वस्तुएँ आयीं उनसे घपना सबंध रखने के लिए उसने नाम प्रदान किये, जो वास्तव में उनके सकेतमात्र थे। क्रमशः उनको एक-एक-समुदाय की स्वीकृति प्राप्त होती गयी। उनके साथ ही क्रियाओं की सृष्टि भी होती गई। सम्भवतः पहले नामों से ही क्रिया का भी काम ले लिया गया हो किन्तु उनके साथ ही क्रिया मनुष्य के दारौरीरिक सक्तों के द्वारा व्यवहृत होती रही होगी। धीरे-धीरे भाषाओं का विकास होता गया। सम्भ्रता और संस्कृति का इतिहास यह बताने की भी चेष्टा कर सकता

है कि पहले मनुष्य थोड़े शब्दों से अपना काम चलाना होगा। जैसे-जैसे उसके सबधों और आवश्यकताओं का विकास होता गया उसकी भाषा की शब्दावली बढ़ती गयी। इस विकास के गर्भ में भिन्न-भिन्न जन-समूहों ने इस धरा पर भिन्न-भिन्न प्रतीकों की योजना प्रस्तुत की। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का अध्ययन आधुनिक ग्रन्थों के मूल में निहित एकता का परिचय देकर भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रतीकों का परिचय भी देता है।

प्रतीक वस्तुतः संकेतों का काम करते हैं। मानव के अस्तित्व के लिए प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है, यह बात उक्त विवेचन से प्रकट हो सकती है। डा० बडधवाल ने ठीक ही कहा है, “मानव जीवन का सारा मंत्र ही अपनी गति के लिए प्रतीकों पर आश्रित रहता है। धर्म का कर्मकांड तबधी अथ भी प्रतीक विधियों के सिवा और कुछ नहीं है। भाषा भी वस्तुतः एक प्रतीकात्मक उपाय मात्र है।” प्रतीक तत्त्व जीवन की पुनर्गन्धर्वजन्तों को नियंत्रण एवं सतत बनाकर उसे भावप्रवणता प्रदान करते हैं। प्रतीकात्मक प्रयोग सवधित अर्थों का प्रतीकों के आशिक अथवा पूर्ण गुणों में विभूषित कर देते हैं जिसमें नियंत्रण प्रभावोत्पत्तियों की तीव्रता के क्षेत्र में श्रेष्ठ ज्ञान, भाव और अभिप्राय की सीमा तक पहुँचा जा सकता है किन्तु प्रतीकों की सबसे अधिक आवश्यकता आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों के क्षेत्र में प्रतीत होती है जहाँ कि बहुत सूक्ष्म सत्यों को भी सरल एवं भावपूर्ण ढंग में व्यक्त करना होता है अन्यथा वे हर किसी को बोधगम्य नहीं होते। “जीवन के अन्तस्तल तक प्रवेश पाय हुए तथा सूक्ष्म दृष्टि वाले आ-मद्रष्टाओं की प्रतिभा द्वारा अनुभूत सत्य मानव जाति के उपयोग में तभी आते हैं जब उन्हें गहरे रंगों में रंजित एवं पूर्ण सौन्दर्ययुक्त प्रतीकों के बने रूपों का आशय मिल जाता है, परन्तु इस सांकेतिक भाषा को समझने के पहले कुछ न कुछ सीखने की आवश्यकता पड़ती है।” अन्यथा प्रतीकों का वास्तविक मर्म समझने में भूल हो जाता करती है। प्रतीकवाद यथायथा म परिणत होकर सदोष बन जाता है। कुछ वैष्णव सम्प्रदाय तक इस दोष से कलंकित हो गये हैं।

१ बडधवाल—हिन्दी काव्य में निरुंणधारा (अनुवाद-परशुराम चतुर्वेदी) पृष्ठ ३७७

२ बडधवाल—हिन्दी काव्य में निरुंणधारा (अनुवाद-परशुराम चतुर्वेदी) पृष्ठ ३७७

प्रतीका का इतिहास मानव अनुभूति और अभिव्यक्ति का इतिहास है। अनुभूति के अभिव्यजना पथ पर आते ही प्रतीको का प्रचलन हो गया होगा, किन्तु कला के इतिहास में प्रतीक पद्धति का विकास सौन्दर्य भावना से संबंधित है। मोहन-जो-दड़ो के भग्नावशेष सौन्दर्य भावना के विकास और प्रतीक-प्रयोग के प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण हैं।

काव्य भावा की सहज अभिव्यक्ति है। अनुभूति से प्रेरित कल्पनाएँ प्रतीको को जन्म देती हैं। अनुभूतियों के अभिव्यक्ति-पथ में उद्गारों के सकोच वक्रता अथवा असमर्थता की समुपस्थिति होने पर उसे प्रतीका का उस समय आश्रय लेना पड़ता है जबकि उद्गार अधमनीय हा उठते हैं।

जिस प्रकार जीवन की विभिन्न क्रियाओं के लिए अनेक संकेतों का उपयोग होता है उसी प्रकार काव्य में भावा और विचारा की सम्यक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक शब्दा का प्रयोग होता है। काव्य में प्रतीक अपना नियत स्थान रखते हैं। 'कवि समय' उनसे अधिक सम्बन्धित है। प्रतीक सामान्य भाषा में बहुत कम प्रयुक्त होते हैं अथवा होते ही नहीं। जब य सामान्य भाषा का अनिवार्य अंग हो जाते हैं तो वे प्रचलन में आ जान से प्रतीकात्मक गौरव का खा बँटते हैं। नाचों और सतों की भाषा में 'अवधूत' शब्द यागी के लिए आता था किन्तु आज वही शब्द 'ओधूत' होकर 'ऊटपटन' या 'मूख का वाचक होकर प्रचलित हो गया है और उसने अपना अर्थ खो दिया है।

भावनावश मानव की अनादिता स्वीकार कर लेने पर तो प्रतीको का इतिहास भी अनादि बन जाता है और यदि विकासवाद की कसौटी पर मानव की परीक्षा करें तो प्रतीक भी मानव सभ्यता के सहचर भिन्न होत हैं।

हा, साहित्यिक प्रतीका का उपलब्ध प्राचीनतम रूप वेदों में मिलता है। वैदिक देव देवियाँ प्रतीकत्व से सशुद्ध हैं। इनके आकार-प्रकार में धार्मिक भावना और कल्पना का मधुर मिलन है। जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों ने आचार-क्षेत्र में प्रतीक-पद्धति को अपनाया है वहाँ उपनिषदों ने अध्यात्म-क्षेत्र में प्रतीका से काम लिया है। वहाँ अक्षर या शब्द तक न प्रतीकता धारण की है। ॐ ऐसा ही एक प्रसिद्ध अक्षर है जिसकी प्रतीकता उपनिषद्वादी में इस प्रकार स्वीकार की गयी है—

एतद्देवाक्षर ब्रह्म एतद्देवाक्षर परम ।
एतद्देवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

या

३० ब्रह्म या परमात्मा का प्रतीक है। उसको अक्षर ब्रह्म भी कह सकते हैं। यह निराकार एव निगुण के ज्ञान में आलम्बन का काम करता है। इसीलिए इसके सम्बन्ध में कहा गया है —

एतदालम्बन श्रेष्ठमेतदालम्बन परम ।
एतदालम्बन ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

बौद्ध-साहित्य और कला के अध्ययन से प्रतीको के विकास पर रोचक प्रकाश पड़ता है। आरम्भ में भगवान् बुद्ध के उपदेशों को प्रकृत करण के लिए भारतीय शिल्प विद्या में जो प्रतीक अपनाये गये उनमें दो प्रमुख थे—गुम्बद के रूप में उलटा कमल पुष्प और स्तूप। एक में भौतिक उपदेश सुरक्षित है और दूसरा नारंगभ उपदेशों का प्रतीक है। इन्हीं में शुग काल के पश्चात् बुद्ध प्रतिमा निर्माण की प्रेरणा मिली और प्रतीकोपासना का प्रचलन हुआ। बौद्ध साहित्य में भी प्रतीको की समृद्ध परिपाटी का विक्रम हुआ। जातक कथाओं की प्रतीक कर्मकता प्रथित और स्पष्ट है।

पुराणा में प्रतीको के आश्रय में अनेक कथाओं का शुष्कन किया गया है। पठान्त वाली गजानन, दशानन, त्रिशिरा आदि अनेक नामों में प्रतीकोद्राम है। इन नामों के साथ जो कथाएँ सम्बन्धित हुई हैं उनमें धार्मिकता श्रद्धा, कल्पना आदि अनेक उच्च भावों को समुचित किया गया है।

सिद्धा और नाथों की रहस्यमयी कथिक साधनाओं ने अनेक प्रतीको को जन्म दिया है। सिद्धा की सध्या भाषा 'हिन्दी-कूटो' की जननी कही जा सकती है। उसमें प्रतीको न अर्थ की निमृष्ट अभिव्यञ्जना में कितना योग दिया है यह बात सिद्ध-साहित्य के आलोचकों में छिपी नहीं है। नाथों न प्रतीको की परंपरा के योग के क्षेत्र में केवल पिष्टपेषण करते हुए कला के क्षेत्र में अवश्य विकास

१ कठोपनिषद् १ २ १६

२ कठोपनिषद् १ २ १७

किया । उनके कूट पदों और उलटबासिया में परवर्ती शैली का प्रासूप तैयार हुआ ।

योग साधनाओं में नाडियों ने नाम प्राप्त किया । इडा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्व विकसित हुआ । उन्होंने प्राण-वाहिनी होने के कारण जीवन-वाहिनी गंगा, यमुना एवं सरस्वती का प्रतीकत्व धारण किया और अनेक श्लोक ऐसे प्रतीका की शक्ति लेकर बन गये —

‘गगायमुनयोर्मध्ये बह्व्येवा सरस्वती ।
तासान्तु सगमे स्नात्वा धन्यो याति परागतिम्’ ॥^१

गोरखवाणी में भी इस प्रकार के प्रतीका का प्राचुर्य है । गंगा-यमुना के सगम को गोरखनाथ के एक पद में देखिये जहाँ पर स्नान करने की बात परंपरा-मुक्त है —

गंगा जमुना कूले पंसि करिले असनानं ।
चांपीला मूले अबधू धरीला ध्यान १ ॥

अर्थात् योगी को गंगा यमुना के कूल पर (इडा-पिंगला के मिलन में, सुषुम्ना का माग खुलन की स्थिति में) स्नान से शुद्ध हो जाना चाहिये । मूलाधार को दबाकर (सकोषन कर) ध्यान धरो ।

काव्य में जिसको ध्वनि नाम से समझा जाता है उसका भी थोड़ा बहुत सम्बन्ध प्रतीका से रहना है । काव्य शास्त्र के ध्वनि-सम्प्रदाय वाले तो ध्वनि को ही काव्य का प्राण मानते हैं । कभी कभी तो ध्वनि का समग्र भार प्रतीको पर रहता है । ध्वनि में व्यंग्य रहता है और वह शब्द विशेष में अन्य शब्दों की संगति से आता है । वह वाच्यार्थ से भिन्न होता है । अभिप्राय वाच्यार्थ से पृथक् रहता हुआ भी स्पष्टतः व्यक्त हो जाता है किन्तु शाब्दिक संकेत से । रस के सम्बन्ध में भी यही बात है कि वह व्यंग्यित हुआ करता है । इसी प्रकार अनिवर्चनीय आध्यात्मिक अनुभव को भी गूँग के गुड से तुलना दी गयी है ।

१ शिव-संहिता

२ गोरख-वाणी

गंगा मनुष्य मकेतमात्र कर सकता है। इसी प्रकार कवि अपने अनुभूति-रस को केवल सकेतो से व्यक्त कर सकता है। उनमें से कुछ मकेत तो अलंकार आदि के सम्बन्ध से भाषा का ही अंग बन जाते हैं किन्तु कुछ मकेत सामान्य शब्दों-जैसे होते हुए भी अभिप्राय देकर अभिव्यक्ति को एक नियत लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं।

यह ठीक है कि प्रतीक भाषा में अपना अभिप्राय लेकर आते हैं। और इसी अभिप्राय की सफल अभिव्यक्ति में उनकी प्रतिष्ठा है किन्तु उनके क्षेत्रीय प्रयोग उन्हें सरसता और नीरसता प्रदान करते हैं। इसी कारण योग-क्षेत्र के प्रतीक शुष्क और नीरस एवं शक्ति और प्रेम क्षेत्र के बड़े सरस और मोहक होते हैं। भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतीकों के मान के साथ उनकी सरसता भी अपना मूल्य रखती है। आत्मा और परमात्मा के मिलन से उद्भूत आनन्द की तुलना दार्शनिका ने स्त्री पुरुष के मिलन-जन्म आनन्द से करके भक्ता के लिए प्रतीक-मार्ग को खोल दिया। कृष्ण और गोपिया की मिलन-गीता में भक्तों ने आत्मा परमात्मा के मिलन को देखा। अनेक लीलाओं को प्रस्तुत करते में भक्तों ने जिन भाषा और शैली का प्रयोग किया उसमें प्रतीकों का मूल्य अविस्मरणीय है। क्या राधा के विकास का इतिहास प्रतीक की सरसता के विकास का इतिहास नहीं है? जयदेव की धीयूष-वाणी इस विकास का प्रमाण है। ब्रह्मवैवर्तपुण्य आदि रचनाएँ भी इसी साधना का साध्य देती हैं। मिथला और ब्रज से हिन्दी-धारा पर जो रस धारा प्रवाहित हुई उसमें प्रतीकों की सरसता स्पष्ट है। इस सरस प्रतीकता से अलग भक्त वाणी का कोई मूल्य नहीं रह जाता। कला का वैभव, कल्पना का गौरव और धर्म का आग्रह सरस प्रतीकों के माध्यम से ही निर्वाहित हुआ है।

कबीर के हाथों से प्रतीक परंपरा का सुन्दर शृंगार हुआ। यह ठीक है कि कबीर का उद्देश्य कविता करना नहीं था, परन्तु वे स्वभाव से कवि तो थे ही। वाणी उनकी दामी थी किन्तु उसको कबीर के तिलिप्त और निर्भीक व्यक्तित्व का बल प्राप्त था। अतः उनकी कृतिषा में वह करामात मिलती है जिसे देख कर बड़े बड़े आलोचकों को भी दग रह जाना पड़ता है।

प्रतीकों के प्रयोग में कबीर की सचेष्टता उनकी अभिव्यक्ति से स्पष्ट है। न केवल मौखिक प्रतीकों में ही कबीर का अभिव्यक्ति कीशस दीख पड़ता

है अपितु उनके सामाजिक और पारिवारिक प्रतीक तो और भी समर्थ और मनोहर हैं। उनके 'कूट' जहा भागवत, विद्यापति-पदावली और गोरखबानी का स्मरण दिनाते हैं वहा उनकी उलटबासिया पहेलियों की मौखिक परंपरा अथवा किसी अज्ञात लिखित परंपरा की कड़ी के रूप में आविर्भूत होनी है।

कबीर के यौगिक प्रतीक परम्परा-युक्त हैं। वे सिद्धों और नाथों की टक्साव क प्रचलित सिक्के हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रतीक अतिप्रचलित होकर काल-जम से अपना प्रतीकत्व खो देते हैं, फिर भी किसी सम्प्रदाय के स्वर में वे अपनी मौलिक शक्ति सुरक्षित रखते हैं। सिद्धों के यौगिक प्रतीक कबीर के समय तक भी साम्प्रदायिक ही बने रहे। सामान्य भाषा में वे प्रचलित रूप में स्वीकार न किये गये इसलिए सामान्य अर्थ के स्थान पर वे विशेष का चोत्तन करते हैं।

कबीर के यौगिक प्रतीकों का वर्गीकरण साकेतिक और पारिभाषिक प्रतीकों के रूप में किया जा सकता है। गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, असोपाट, प्रयाग आदि शब्द साकेतिक प्रतीक हैं किन्तु सहज, अजपा, शून्य, हरि, निरजन, नाद, बिंदु आदि पारिभाषिक प्रतीक हैं। सुरति-निरति पारिभाषिक प्रतीकों के अच्छे उदाहरण हैं। कबीर ने दोनों प्रकार से प्रतीकों का सफलता से प्रयोग किया है। साकेतिक प्रतीकों का एक उदाहरण देख कर उनके प्रयोग का अनुमान किया जा सकता है —

“सूर समाणा चन्द में ब्रह्म दिया घर एक ।
मन का च्यता तब भया कल्ल पुरवला लेख ॥”

यहा 'सूर' और 'चन्द' क्रमशः पिगला और इडा के लिए प्रयुक्त हुए हैं और दोनों का एक घर सुषुम्ना में होता है। यह योग की अवस्था विशेष है। जिसको आलोचकों ने कबीर का योगात्मक रहस्यवाद कहा है। वह ऐसे ही साकेतिक प्रतीकों से बना है। साकेतिक प्रतीकों का तो कबीर-वाणी में प्राधुर्य है। योग के सम्बन्ध से ही ऐसे प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ अपितु अन्य सम्बन्धों से भी हुआ है, जैसे —

“कबीर धूलि सकेल करि, पुडो ज धाधो एह ।

दिवस चारि का पेवणा, अति पेह की पेह ॥”

यहाँ ‘पुडी’ शब्द साकेतिक प्रतीक है जो शरीर की ओर संकेत कर रहा है । एक दूसरा उदाहरण देखिये,—

“कबीर देवल ढहि पड्या, ईट भई संवार ।

करि चिजारा सों प्रीतिबी, ज्युं ढहै न दूजी वार ॥”

इस सान्नी में प्रतीको का बाह्य द्रष्टव्य है । ‘देवल’ शरीर का, ‘ईट’ हड्डियों का, ‘चिजारा’ परमात्मा का और ‘ढहता’ मरने का प्रतीक है । इन सामान्य शब्दों में ईश्वर-प्रेम का कितना गहरा रहस्य निहित है, इनके भावार्थ से स्पष्ट है । साकेतिक प्रतीको में मौलिक और परंपरायुक्त, दोनों प्रकार के प्रतीक मिलते हैं । उसी प्रकार पारिभाषिक-प्रतीकों में भी ये दोनों प्रकार प्राप्य हैं । पारिभाषिक प्रतीकों का एक उदाहरण देखिये —

“अजपा जपल सुनि अमि अतरि, यह तत जानै सोई ।”

प्रववा

“भुरति सभाणी निरति मे निरति रही निरधार ।

सुरति निरति जब परचा भया, भव खूदे स्वभ दुवार ॥”

प्रनगवष यहा यह कह देना अमगन न होगा कि जहा नाथो के लिए यौगिक क्रियाएँ ही माध्य हो गयी हैं वहा कबीर के लिए वे साधन-मात्र हैं । कबीर का माध्य तो अनन्य प्रेम है जिससे भिन्न परमात्मा भी नहीं है । कबीर ने उस प्रेम के लिए ‘रस’, ‘रसायण’, ‘हरिरस’, ‘रामरम’ आदि प्रतीको का व्यवहार किया है —

“हरिरस पीया जाणिये, कबहुं न जाइ खुमार ।

भैमंता धूमत करे, तन की नाहीं सार ॥”

ऐसे स्थलों पर कबीर की मस्ती निसर्ग-काव्य का मधुर रस प्रवाहित कर पाठक की समग्र चेतना को अभिविक्त कर देती है ।

सिद्धो श्रीर नाथा की परंपरा से ग्राय हुए सख्यामूलक प्रतीक भी कबीर में मिल जाते हैं—

चौंसठि दीबां जोड़ कर, चौदह चदा मांहि ।

तिहि घरि किसका चानिणा, जिहि घरि गोबिंद नांहि ॥”

यहा ‘चौंसठ’ और ‘चौदह’ सख्यावाचक प्रतीक हैं जो त्रमश कलाओं और विद्याया के लिए व्यवहृत हुए हैं ।

कबीर-वाणी में प्रतीको का सौन्दर्य यदि कही देखना हो तो उनके रूपको में देखना चाहिये जिनमें काव्य मासुर्य और प्रतीकोत्कर्ष, दोनों एक साथ अभिव्यक्त हुए हैं यथा—

“दुलहनीं गावहु मगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ।

× ×

कहं कबीर म ब्याहि चले हैं, पुरिय एक अदिनासी ॥”

आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने जिन प्रतीको को चुना है उनमें सरल व्यावहारिक अभिव्यजना के साथ कवि की मौलिकता भी निहित है । दैनिक जीवन से उपचित होने के कारण उन प्रतीको में जो आकर्षण और मोहन हैं वह सिद्धा और नाथे की वानियों में अप्राप्य है ।

जब आध्यात्मिक अनुभवा के दिव्य आल्हाद की अभिव्यक्ति में भाषा की सामान्य शक्तियां जबाब दे देती हैं तो कबीर कदाचित् विवश होकर उन लौकिक व्यवहारों के मोक्ष्यम को अपनाते हैं जहां से उनकी अनुभूति का निकटतम दर्शन हा सके । उनमें प्रेक्षणीयता अपनी पूरी शक्ति से व्यक्त होती है । जा प्रेम दाम्पत्य संबन्ध की तीव्रता में लौकिक रूप धारण करता है वही उस अलौकिक शाश्वत आकाशा में परिवर्तित हो जाता है जो उसका परस्पर शक्ति से शान्त एवं निश्चल सम्बन्ध स्थापित करती है । इस प्रेम में दुलहिन और दूल्हा ही विलक्षण नहीं अपितु उनका सम्बन्ध सहज होते हुए भी विलक्षण है । उनका विवाह को देखने के लिए तैंगीस करोड़ देवता और अठानी हजार मुनि उपस्थित हुए हैं—

“सुर तेतीसू कौतिग प्राधे, मुनिवर सहस्र श्रठासी ।

कहै कबीर हम ब्याहि चले है, पुरिय एक अविनासी ॥”

लेकिन केवल दाम्पत्य प्रतीक आत्मा परमात्मा के सम्बन्धा को प्रकट करने में असमर्थ है, अतः कबीर कभी स्वामी मेवक मन्त्रन्व को प्रकट करने के लिए भी प्रतीको का प्रयोग करने हैं—

“मोहि बेंचि गुताई

तन मन धन मेरा रामजी के ताई ॥”

और कभी उसे जननी के रूप में भी देखने लगते हैं—

“हरि जननी मैं बालिक तेरा,

काहे न श्रीगुण यकसहु मेरा ।

सुत अपराध करै दिन केते, जननी कं चित रहै न तेते ।

कर गहि केस करै जो घाता, तउ न हेत उतारै माता ॥

कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखो महतारी ॥”

कबीर के बहुत से आध्यात्मिक प्रतीक भोजन जीवन का बड़ा निकट और सरस परिचय देते हैं। आत्मज्ञानी या ईश्वर-प्रेमी के विभोर होने के लिए एक क्षेत्र है और लोक रत व्यक्ति के लिए दूसरा क्षेत्र। यहाँ कभी-कभी दोनों की तुष्टि हो जाती है। यद्यपि इस प्रकार का अवसर कबीर द्वारा प्रयुक्त अलंकारों द्वारा विशेषतः रूपका और अन्वयिक्रियों द्वारा प्रदान किया जाता है किन्तु वस्तुतः साध लेन होता प्रतीको का है। ‘भीनी भीनी बीनी चुनरिया’ जैसे पदों की प्रतीक-योजना में काव्य का सरस प्रवाह दर्शनोप है। भक्त रूपी प्रिया के लिए परमात्मा रूपी प्रेमी ने जो चुनरी सँवार कर दी हैं वह कितनी रसीली और सजीली है, देखिये तो सही—

‘चुनरिया हमारी पिया ने सँवारी,

कोई पहिरं पिय की प्यारी ।

आठ हाथ की बनी चुनरिया,

पच रग पटिया पारी ।

बाँद गुरुज नामें श्राँवल लाने,

जगमग जोति उजारी ।

बिनु ताने यह बनी चुनरिया,
दास कबीर बलिहारी' ॥”

यह चुनरिया हमारे कितने निवट की है किन्तु प्रतीको के ज्ञान के इसका आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यहा प्रतीक कितने सरल व्यावहारिक हैं उनसे पाठक या श्रोता का सम्बन्ध सहज ही हो जाता है। 'चुनरी' से प्रत्येक मानव का सम्बन्ध है किन्तु प्रतीक रूप में इसने कैसे दो दे डाले है, यही इसकी साकेतिकता है।

या तो कबीर के बहुत से उपमान प्रतीक शक्ति से युक्त हैं और आलोचक उपमानों में भी प्रतीकता देखने की चेष्टा करते हैं किन्तु वास्तव में उनको प्रतीक नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि उपमान उपमेय के साधर्म्य आदि गुणों के कारण किसी सीमा तक प्रतीक शक्ति धारण करते हैं किन्तु उपमेयतिशयोक्ति जैसे कुछ अलंकारों में ही, क्योंकि वहाँ उपमेय का निहित हो जाने से, उपमान और प्रतीक का अन्तर मिट जाने से, उपमान ही प्रतीक पद पर आसीन हो जाता है। कबीर के कूटा में ही नहीं, उलटबासियों तथा ऐसे प्रतीकों का प्राचुर्य है —

“तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूला फल लागा ।
साक्षात् पत्र कछु नहीं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा” ॥”

अथवा

‘नेरै चढे मु अघधर डूबे निराधार भये पा ।
अघट चले मु नगरि पहुँते बाट चले ते लूटे ॥
एक जेबडो सब लपटाने, के बाधे के छूटे ॥”

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर की प्रतीक योजना में बहुत तो परंपरागत मार्ग हैं किन्तु कुछ प्रतीक उन्होंने अपने दिये हैं जो 'कवि' की प्रेरणा न होकर मौलिक उद्भावना का परिणाम हैं। यह कहा जा सकता है कि कबीर के योगिक प्रतीकों के लिए एक बना हुआ माग था। उन

१ कबीर ग्रन्थावली

२. कबीर ग्रन्थावली

देखने की, घ्राण भोगने की साजसाज लेकर जाते हैं। उसी प्रकार जग-जीव माया को भोगते हैं, किन्तु इस भोग से किसी की तृप्ति नहीं होती। प्रत्येक भोगी अतृप्त ही जाता हुआ दीखता है—

“कबीर माया पापणी, लालं लया लोग ।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥”

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या माया-जन्य भ्रम (अज्ञान) का अत्यन्ताभाव है? अन्धकार में प्रकाश का अत्यन्ताभाव होने पर क्या प्रकाश की सत्ता भानी जा सकती है? क्या भस्मावृत अग्निवशुका में अग्नि का अत्यन्ताभाव मानना उचित है? फिर यह भी एक प्रश्न है कि ज्ञान और अज्ञान में सत्य कौन है? यदि अज्ञान सत्य है तो ब्रह्म को ‘सच्चिदानन्द’ कहने का कोई अभिप्राय नहीं दीख पड़ता। यदि अज्ञान ‘असत्’ है तो उससे ज्ञान का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है। इसमें कपिल मुनि का यह वचन, कि असद्वस्तु से सद्वस्तु का उद्भव नहीं माना जा सकता, प्रमाण है। अन्धकार से प्रकाश का प्रादुर्भाव कभी नहीं हो सकता। यह ठीक है कि किसी स्थल के प्रकाश से ओम्हल हो जाने से वहाँ अंधेरा हो जाता है, किन्तु अन्धकार के आवरण से प्रकाश नहीं हो सकता। यह तो प्रायः देखने में आता है कि दुर्दिन में दृष्टि-पथ पर मेघावरण के कारण किसी-किसी स्थान पर दिन में भी अन्धकार हो जाता है, परन्तु किसी अंधेरी निशा में मेघों के छा जाने से प्रकाश नहीं हो जाता। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि सत् का विनाश नहीं हो सकता और असत् का भाव नहीं हो सकता। इस विषय में गीता का वाक्य प्रमाण है—

“नास्ततो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।”

शास्त्र प्रमाण है कि ज्ञान सत् है और अज्ञान असत्, अतएव ज्ञान का कभी विनाश नहीं हो सकता और अज्ञान की कभी सत्ता नहीं हो सकती।

ज्ञान के ऊपर माया का आवरण आ जाने से ही अज्ञान का चमत्कार दिखाई पड़ता है। माया सूक्ष्म शरीर तक के साथ लगी रहती है और इसी के विकारों के कारण पुनर्जन्म लेना पड़ता है। माया के कारण ही मन चञ्चल और विकृत होता है। जब तक मन में विकार रहते हैं, तब तक मसार से पीछा नहीं छूटता। जब मन निर्मल हो जाता है, तब उसका निर्मल आत्मा में विलय होजाता

है। माया के प्रभाव से स्वल्प विस्मरण की दशा ही बन्धन की दशा है। जब ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का भ्रंश दूर हो जाता है तो माया का बन्धन भी टूट जाता है। यही मुक्ति की दशा है।

कबीर की माया तत्त्वतः शङ्कर की माया से अभिन्न है। उसे कबीर ने ब्रह्म-माया भी कहा है और अपनी भी। काम, क्रोध, मोह आदि माया के अनेक अङ्ग हैं। सत्त्व, रज और तम माया के तीन गुण हैं और पञ्चतत्त्व माया के ही अवयव हैं। रूप, बस, छद्म, पाप, पुण्य आदि म माया की ही परम्परा है। बड़े-बड़े तपस्विना मुनिया और ऋषियां भी इसका संचार हैं। इस माया ने नारद जैम मुनि तक को निगल लिया था। यह ब्रह्मा के घर में ब्रह्माणी और शिव के घर में पारती हाकर बँठी है। जा माया से लगाव रखते हैं उनको यह तग करती है और जा इसको लातो से कूट-पीट कर रखते हैं, उनकी यह दासी बनी रहती है।

कबीर की उक्तियो से यह प्रकट हो जाता है कि जो माया अज्ञान की दशा में जीव का पीछा नहीं छोड़ती, वही ज्ञान के प्रकाश में प्रभावहीन हो जाती है। माया के दा काम देख पटते हैं—एक तो यह कि वह अपने प्रभाव से, अपने पदों से आत्मा के स्वरूप को छिपाती है और दूसरे अपने नाना रूपों के प्रकार से भ्रान्त जीव को मोहित करके धुमाती है। अनेकता भ्रम से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान एवं विवेक के लोचनों में अनेकता जैसी कोई वस्तु ही नहीं है—

‘कथता बकता सुरता सोई ।

आप बिचारै सो ग्यानी होई ॥’

कबीर एकरूप सत्य को निर्विकार मानते हैं। मेष के कारण रवि का दृष्टि से ओझल हो जाना रवि की विकृति नहीं है। जिस दृष्टि से यह जगत् दिखाई पड़ता है वह भी माया है और यह जगत् भी। सच तो यह है कि माया ही माया में उलझती है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

“भूठे भूठे रह्यो उरभाई ।”

इस मिथ्या की प्रतीति को कबीर मन का भ्रम मानते हैं जो मन के निर्मल होने पर दूर हो जाता है। उसी निर्मल मन में आत्मा की अनुभूति होती

हैं। मैं तै और तै में का भेद दूर होकर शुद्ध ज्ञान दृष्टि से ही आत्मा का रूप सचित्र दिखाई पड़ता है।

इस प्रतीयमान द्वैत से अद्वैत सत्य किसी प्रकार बाधित नहीं होता। अनेक वज्र की अनक गाया म रहने पर भी दूध एक ही रहता है। उसी प्रकार इस दृश्यमान ज्ञानरूप म एक ही सत्य एक ही आत्मा का प्रकाश है। जिस प्रकार अनक वेश एक नट को अनक रूपा म प्रस्तुत कर देते हैं उसी प्रकार एक ही आत्मा को अनेक पञ्चतत्त्व के पुत्र अनेकश प्रकट करते हैं —

भेद अनक एकधू कैसा नाना रूप धरे नट जैसा ।

सब शरीरो मे समाया हुआ आत्म तत्त्व केवल कहने-मुनन के लिये अनेक-जमा प्रकट होता है वास्तव मे ऐसा है नहीं। जैसे अनक घडो मे पडने वाले मूय के प्रतिबिम्ब की अनकता घडो के फूटने पर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार शरीरो के निपात के पश्चात आत्मा का आरोपित विच्छेद नष्ट हो जाता है। इसमे स्पष्ट है कि सीमाएँ शरीर की हैं आत्मा की नहीं। शरीर के नष्ट होने पर वे सीमाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। इसी को लोग मरना कते हैं। इस जीने-मरने म आत्मा की एवता बिल्कुल भी प्रभग्विन नहीं होती।

कबोर जीवन मरण को भ्रम जय मानते हैं। माया न पञ्चतत्त्वो को उत्पन्न करके उनके सयोग से भ्रम का पुतला तैयार कर दिया है। जब तक उन तत्त्वो का सयोग रहता है तब तक वह पुतला दिखाई देता है किन्तु जब वे तत्त्व विसृक्त हो जाते हैं ता अपन अपने रूप मे मिल कर पुनने के रूप को समाप्त कर देते हैं। यह रूप समाप्त हो जाता है किन्तु उसम व्याप्त सत्य कभी समाप्त नहीं होता —

माटो माटो रही तानाइ एवन पवन तिया सैंग ताइ ।

कहै कबोर सुनि पडित गुनी रूप भुवा सब देखै दुनी ॥

इस जीवन मरण की प्रतीति उसी समय तक होती है जब तक मन रहता है। मन ही शरीर की प्रतीति का कारण है और यह मन जब सहजरूप हो जाता है तो उसी मे ब्रह्म की प्रतीति होती है —

तन नाहीं कब जय मन नाहि ।

मन परतीति ब्रह्म मन नाहि ॥

प्रब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस रूपात्मक जगत् का कर्ता कौन है ? क्या इसको ब्रह्म ने बनाया है या माया ने ? कबीर दोनों को इसका कर्ता मानते हैं । जब वे भावावेश में होते हैं और भक्ति के स्वर में बोलते हैं तो इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्म की रचना मानते हैं —

“जिनि ब्रह्माण्ड रच्यो बहू रचना, दाब बरन ससि सूर।
पाइक पच पुहमि जाके प्रगटे, सो क्यो कहिये दूरा ॥”

×

×

×

कभी-कभी वे इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्म का वेश कहते हैं । उस समय भी वह ब्रह्म की ही रचना ठहरता है —

‘भाटी एक भेय धरि नाना , सब में एक ही ब्रह्म समाना ।’

कुछ और स्पष्ट रूप से कबीर कहते हैं कि सर्वत्र ब्रह्म ही की सत्ता है । अनेक रूपा को बही धारण करता है । माया-मोहित लोग विषयो म भूलकर अहङ्कार करने लगते हैं —

‘सब घटि अन्तरि तूहीं व्यापक, धरै सरूप सोई ।
माया मोहे अर्थ देखि वरि, काहे कू गरवाना ॥’

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—एक तो यह है कि सब रूपों को ब्रह्म धारण करता है और दूसरी बात यह कि उसकी माया मोहित करती है । धारण करने का तात्पर्य यह है कि रूप ब्रह्म से भिन्न होता हुआ भी ब्रह्म ही म प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि भ्रम-सर्प रज्जु से भिन्न होना हुआ भी रज्जु म ही प्रतीत होता है । सर्पत्व का आरोप रज्जु में है, उसी प्रकार जगत् का आरोप ब्रह्म म है । इस रूपात्मक जगत् की प्रतीति माया-मोहित जीव को ही होती है, माया मुग्ध को नहीं । इससे स्पष्ट है कि जगत् के जिस कर्तृत्व का आरोप ब्रह्म में किया जाता है वह वास्तव म माया का है । माया का सम्बन्ध भी कबीर ब्रह्म से ही मानते हैं । जो माया में लिप्त हैं उनको माया के ही रूप दिखाई पड़ते हैं, ब्रह्म नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु जो माया से मुक्त हैं उन्हें आत्मस्वरूप या ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है, माया नहीं दिखाई पड़ती । माया अपने निवृत्तवर्तियों को मोहित करके उसकी दृष्टि से सत्य को छिपाती है । सत्य के छिपने

से ही नानारूपात्मक जगत् की प्रतीति होती है। माया की करामात में कबीर परिचित हैं। इसी से वे चेतावनी देते हैं —

“कबीर माया जिन मिले, सौ बरियाँ दे बाह ।
नारद से मुनिवर मिले, कितौ भरोसौ त्याह ॥”

ज्ञान-दिवाकार के प्रकाश से जब भ्रम-निद्या का निवारण हो जाता है और माया से मुक्ति मिल जाती है तब ब्रह्म की परमज्योति का दर्शन होता है और जीवन-मरण से मुक्ति मिल जाती है —

“भाषा भ्रम दसों दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा ।
मृतक उठ्या घनक कर लीपै, काल ग्रहेडी भाषा ॥”

इस स्वप्निल ससार को सत्यवत् प्रदर्शित कर देना माया का ही काम है। अनेक रूपों को माया ही बनाती है और माया ही बिगाडती है, अतएव जगत्-कर्तृत्व माया में निहित है, ब्रह्म में नहीं—

“माया मोहि मोहि हित कीन्है, ताथे भेरी ग्यान ध्यान हरि लीन्है ।
ससार ऐसा मुपिन जैसा, जीवन मुपिन समान ।
साच करि नरि गाठि बाँध्यो, छाडि परम निधान ।
× × ×
भाने घड़े सवारै सोई, यह गोब्यन्द की भाषा ॥”

इस प्रकार कबीर अनेकता को मिथ्या सिद्ध करके एकता का प्रतिपादन करते हैं। यह है उनकी आध्यात्मिक एकता, जिसमें कमी-बभी लोगो को भ्रम भी हो जाता है। इसका अध्ययन करने समय यह न भूल जाना चाहिए कि कबीर का लक्ष्य हृदयलोक से निकल कर ज्ञानलोक में ले जाना है। वे भावना को आकार बनाकर ज्ञान शिखर पर आरोहण करते हैं। इसकी पुष्टि कबीर के इस वाक्य से हो जाती है—

“तारण तरण जब सग कहिये,
तब लग तत्त न जाना ।
एक राम देख्यो सबहिन में,
कहै कबीर मन माना ॥”

भावना-लोक म कभी कभी 'द्वैत' की भलक दिसाई पडती है किन्तु वास्तव मे ऐसी बात है नहीं । शब्दा के कारण जो 'द्वैत' भावना मे प्रविष्ट-सा लगता है वह लौकिक अभिव्यक्ति वा शोष है । सच तो यह है कि कबीर का भाव एकता का प्रतिपादक है । भाव के बिना अन्तर्वर्ती नी दूर है । भाव-साधना ही 'दूर' को निकट लाती है और वही एकता प्रतिष्ठित करती है । इसी भावना म होकर कबीर उस अनुभव-पद पर पहुँचते हैं जहाँ से वे कह उठते हैं —

"हमहीं आप कबीर कहावा , हमही अपना आप लखावा ।"

जब कबीर इष्ट या आत्मा (परमात्मा) को अन्तर म देखने की बात करते हैं तब उससे घ्वनित होता है कि वे वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने का सन्देश देते हैं । उनकी उलटी गङ्गा ब्रह्मने का यही तात्पर्य है । अन्तर्वृत्ति की दशा म ही ध्यान-योग सम्भव होता है । ध्यान की गम्भीर दशा म ही ध्याता, ध्यान और ध्येय एक हो जाते है । यह ध्यान-योग ब्रह्म को अन्तर में ही लाकर छिपा देता हो, ऐसी बात भी नहीं है । जिस परमात्मा का वे अन्तर्दर्शन कर सकते हैं उसका बाह्य दर्शन भी कर सकते हैं । लाज-की जिस लाली से सब कुछ लाल हो रहा है, उससे भला उनका अन्तर क्यों न लाल हो ? यह है कबीर का आत्म-दर्शन (एक्य-दर्शन), भीतर और बाहर का एकता, जिसका प्रमाण उनकी यह साक्षी है —

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल ।

लाली देखन-ही-गई, भे भो ह्वे गई लाल ॥"

हाँ, तो कबीर द्वारा प्रतिपादित एकता का दूसरा साधन योग है । यह एकता शरीर के अन्तर की एकता है, मन की एकता है । मन कोई एक चीज नहीं है । अनेक विखरी हुई वृत्तियों का रूप ही मन है । वृत्तियों के एकीकरण से ही मन की एकाग्रता सिद्ध होती है और एकाग्र मन ही एकाकार होता है । वही निर्वृत्तिक कहनाता है । मन की एकाग्रता आनन्ददायिनी होती है और उसकी चंचलता दुःखदायिनी होती है —

'जे मन लागे एक सू तो निरबाल्या जाइ ।

सूरा दुइ मुखि बाजणा, न्याइ तमाचे खाइ ॥"

शरीर रूपी मन्दिर की मनरूपी ध्वजा है जो विषय पवन के भाको स फहराती है। इस ध्वजा की विचित्रता यह है कि इसके चलाप्रमान होने स देवालय भी चल उठता है। इस प्रकार मन देह के ध्वस का कारण बनता है —

“राया देवल मन धजा, विषै तहरि फहराइ।

मन चाटयाँ देवल चलै, ताका सर्वस जाइ ॥”

यह चंचल मन मदगल गज से भी अधिक प्रबल है। इसका बल में करना सरल नहीं है। ‘दिले दीवाना बडी मुश्किल से काबू में आता है’। सुख दुख, एक अनेक आदि के मूत स यही मन खटा है। जो चंचा होकर बन्धन का कारण बनता है वही मन निश्चल होकर मुक्ति का कारण बनता है। इसी दृष्टि से भीताकार ने—‘मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो’ कहा है और इसी भाव को लेकर कबीर कहते हैं —

“मन गोरख मन गोविंदी, मन ही औघड होइ।

जे मन राखै जनन करि, ती आपे बरता सोइ ॥”

यदि विचार की आँखो से देखा जाय तो यह मनस्त प्रपञ्च ही मन का है। जहाँ मन नहीं है वहाँ अहङ्कार बहा रह सकता है और जहाँ अहङ्कार नहीं है वहाँ भेद दृष्टि बहा रह सकती है? मघ तो यह है कि माया का आधाम ही यह मन है। कामादि भी मन के ही अकुर हैं।

कबीर ने इस ध्वसक मन की शिव बनाने का मार्ग योग और भक्ति में देखा है। यद्यपि कबीर जप, तप, योग आदि के बाह्यचारो को अङ्गीकार नहीं करते, परन्तु उसके कुछ अङ्गो को वे तत्त्वत स्वीकार करने हैं। उन्होन प्राणायाम पर विशेष बल न देते हुए भी सुषुम्ना के मार्ग की बडी प्रशंसा की है जिसमे प्राणायाम का महत्त्व प्रतिपादित होजाता है। ‘मन पवन जब परचा भया, ज्यु नाभे राखी रस मडया’ आदि शब्दो मे कबीर मन के निग्रह के लिये ‘पवन’ की बात करते हैं। यही प्राणायाम की बात है। ‘चन्द मूर दोइ भाठी कौन्ही, सुपमनि चिगवा लागी रे’ कहकर कबीर प्राणायाम के साथ सुषुम्ना के मार्ग को खोलने आदि की ओर सङ्केत करते हैं। सुषुम्ना के पथ से ही मन दरीवे मे बैठ कर स्थिर होता है और उसी पथ से सहजावस्था प्राप्त होती है। सार सत्य भाष जाना है और आनन्द-रम का उदय होता है —

“सुपुमन नारी सहज समानी ।”

अथवा

“मनवा जाइ दशोर्ब बैठा, मगन भया रसि लागा ।
बहै कबीर जिय ससा नाही, सचद प्रनाहद बागा ॥”

अनेक प्रतीकों द्वारा कबीर ने सुपुमना के मार्ग की प्रशंसा की है। इसी मार्ग की बसोलत शिव-शक्ति का संयोग होता है। इसी मार्ग से पहुँचा हुआ मन कैलाश पर विराजमान शिव के दर्शन करता है। अमृत के देश, ‘श्रीधा कृष्णा’ का यही पथ है। इसी पथ से पनिहारिन अपना घडा भरने जाती है। उल्टी गङ्गा के प्रवाह में भी सुपुमना का मार्ग सहायक होता है। इस मार्ग के खुलने के साथ ही सर्पिणी जगती है और इसी से व्योम में चढ़कर वह शक्ति रूप से शिव से मिलती है —

“नारी जिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ।

× × ×

सहजि सुषमना कूल भरावै, दह दिसि चाडी पावै ॥

× × ×

ससिहर मुर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी ।

मन सतिवाता पीवै राम रस, दूजा फल न सुहाई ।

उलटी गङ्गा नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई ॥

× × ×

प्रेम पिधाले पीवन लागे, सोवत नागिन जागी ।”

कबीर सबसे अधिक बल ध्यान और समाधि पर देते हैं। ध्यान मन को एकाग्रता चाहता है। ध्यान के पथ से ही समाधि-नशा प्राप्त होती है। इसी को वे ‘सहज’ या ‘शून्य’ दशा भी कहते हैं। इस दशा में जो आनन्द प्राप्त होता है उसे कबीर ‘सहज नीर’ कहते हैं। इसकी व मन के मटके में भरते हैं।—

“शुी की लेज पवन का डोंकू, मन मटका ज बनाया ।

सत की पाटि सुरति का खाठा, सहजि नीर मुक्ताया ॥”

ध्यान और समाधि की दशा को कबीर ने क्रमशः ‘सुरति’ और ‘निरति’ नाम दिया है। आत्म-ध्यान ही का दूसरा नाम ‘सुरति’ है। ‘सुरति’ मन की

सूक्ष्म दशा है। यह आत्म-दर्शन का मार्ग है। काल का निवारण 'आत्म दर्शन' से ही सम्भव है। इसीलिए कबीर का कहना है —

“कबीर सुधिम सुरति का, जीव न जाणं जाल ,
कहं कबीरा बूरि करि, आतम अदिष्टि काल ।”

सुरति की चरम परिणति निरति में होती है। इसी को योग की शास्त्रीय भाषा में समाधि में ध्यान को परिणीत कह सकते हैं। कबीर की 'निरति' समाधि की निराधार अवस्था है। यही परम योग की दशा है और यही 'शून्य' दशा है। परम शून्य में विराजमान परम शिव का यही आवास है —

“सुरति समाधीं निरति में, निरति रही निर धार ।
सुरति निरति परचा भया, तब छूले स्पनु दुवार ॥”

'शून्य' की दशा व्यापक 'ऐक्य' की दशा है, निरञ्जनत्व की दशा है। शून्य और निरजन के एकीभाव को कबीर ने इस प्रश्न के द्वारा स्पष्ट कर दिया है —

“कहं कबीर जहाँ बसहु निरजन, तहाँ कछु आहि कि सुन्यं ?”

यहाँ 'सुरति'—'निरति' शब्दों का थोड़ा विवेचन कर लेना इसलिए आवश्यक समझा जा रहा है कि विद्वानों ने अनेक व्याख्याएँ देकर इनको घपले में डाल दिया है। विवेक की दृष्टि में सब अर्थ सीधे या फेर से एक ही लक्ष्य पर पहुँचा देने हैं। प्रायः विद्वानों ने 'सुरति' का अर्थ 'स्मृति' किया है। उनका मत है कि 'सुरति' स्मृति का अपभ्रंश है, अतएव वे स्वरूप स्मरण को ही 'सुरति' कहते हैं। डॉ० बड़ध्वारा ने 'सुरति' का एक अर्थ 'आशा' भी बतलाया है जो उचित नहीं दीख पड़ता। कुछ लोग 'सुरति' की व्युत्पत्ति स्वरति में मानकर उनका अर्थ 'आत्मरति,' 'आत्मप्रेम' या 'आत्मामक्ति' करते हैं। इन लेख के लेखक को 'स्मृति' और 'आत्मरति' दोनों अर्थ मान्य हैं जो थोड़े-से हेर-फेर से एक ही भाव के द्योतक हैं। इन दोनों अर्थों में से 'सुरति' का एक सामान्य अर्थ निकलता है और वह है 'स्वल्प-ध्यान'। आत्मरति या स्वल्प ध्यान के आगे की अवस्था 'निरति' है। 'निरति' में कोई आसक्ति या ध्यान नहीं रहता। सुरति मन के बंधे रहने की दशा है और निरति मन के विनय की।

कुछ लोग 'सुरति' की व्युत्पत्ति 'श्रुति' (Hearing) से करते हैं। इस सम्बन्ध में कबीर के एक पद की ये दो पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

“(क) कथता बकता सुरता सोई, आप विचारें सो ग्यानी होई ।

× × ×

(ख) मुई सुरति बाद अहङ्कार, वह न मुवा जो बोलणहार ॥”

(क) पंक्ति में 'सुरता' का अर्थ स्पष्टतः 'श्रोता' (सुननेवाला) है। (ख) पंक्ति में 'सुरति' शब्द प्राया है जिसका अर्थ 'श्रवण' (Hearing) है। 'सुरता' और 'सुरति' शब्दों के रूप और अर्थ से 'सुरति' शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रुति' से मान लेने में कोई अटकन नहीं दीख पड़ती। योग में 'श्रुति' (Hearing) का विशेष स्थान है। मन का शब्द से गहन सम्बन्ध है। शब्द मन को खींचकर स्थिर करता है। मन-कुरग के लिए शब्द वीणा का काम करता है। शब्द के सूक्ष्म और स्थूल, दो रूप हैं। शब्द की स्थिति शरीर के भीतर भी है और बाहर भी। योगी लोग शरीर के भीतर होने वाले शब्द को सुनने का अभ्यास करते हैं। बढ़ते हुए अभ्यास के साथ वे सूक्ष्मतर शब्द में मन को लगाते चले जाते हैं। शब्द की सूक्ष्मता के साथ-साथ मन भी सूक्ष्म होता जाता है। शब्द अपनी सूक्ष्मतर अवस्था में मन के साथ विलय को प्राप्त हो जाता है। यह दशा 'निरति' अवस्था है। जहाँ तक 'श्रुति' और 'मन' रहते हैं, कबीर के शब्दों में उस दशा को 'सुरति' वह मकते हैं। इस अन्तर्वर्ती नाद को योग की भाषा में 'अनाद' नाद कहते हैं जिसे कबीर 'अनहद नाद' या 'अनहद वागे' कहते हैं। 'अनहद नाद' अपने सूक्ष्मतर रूप में तत्त्वीय मन को भी ले डूबता है। यह सहजावस्था है। इसमें मन और नाद का, 'श्रोता' और शब्द' का अन्तर मिट कर 'ऐक्य' की प्रतिष्ठा होती है।

मन को बाधने का एक और मार्ग भक्ति है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भक्ति भी एकता की प्रतिष्ठा करती है। 'जाति-पाति माने नहि कोई, हरि काँ भजै सो हरि का होई' आदि वाक्य किसी न किसी रूप में एकता के प्रतिपादक ही सिद्ध होते हैं। कहा जाता है कि भक्ति में द्वैत की भावना रहती है, किन्तु अपने गहनतर रूप में वह साधक (भक्त) का साध्य (परमात्मा) में मिलानी है। भक्त के लिये उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं रहता और भाव-

विभोर भक्त के मुख से ही 'जित देलौ तित कृष्णमयी री' आदि शब्द फूट पड़ने हैं। इसलिए कबीर ने ठीक ही कहा है —

'आपा भेटचा हरि मिलै, हरि भेटचा सब जाइ ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्या न को पत्याइ ॥'

कपट और अभिमान द्वैत की ऊँची ध्वजा है और इनका परित्याग भक्ति की पहली शर्त है। सबको समान दृष्टि से देखने और अपने परामे के भेद को मिटा देने पर ही भगवान् से भेट होती है —

"आपा पर सम चीन्हिये, दीसै सरब समान ।
इहि पद नरहरि भेटिये, तू छाडि कपट अभिमान रे ॥'

भक्ति अनेकता को मिटाती है। जहाँ एकता नहीं है वहाँ भवश्य ही अन्तर होगा, 'तेरा-मेरा' होगा। यह 'तेरा-मेरा' अपने और जगत् के बीच में तथा अपने और परमेश्वर के बीच में होगा। 'मैं सबनि मे औरनि में हूँ सब' कहकर कबीर ने न केवल अपने और जगत् के बीच के भेद को ही मिटा दिया, वरन् अपनी और ईश्वर की एकता भी सिद्ध कर ली। कबीर की मान्यता है कि किसी आशा को लेकर भक्त भगवान् से नहीं मिल सकता। 'मिलने' से कबीर का तात्पर्य एक होना है। आशा इस एकता को बाधित करती है —

"जब लग हे बंकुण्ड की आशा ।
तब लग नाहि हरि चरन निवासा ॥'

इच्छा को कबीर द्वैतमूलक मानने हैं और आत्मा के सिवा कोई दूसरी वस्तु उन्हें स्थिर नहीं दिखाई देती, अतएव जगत् की किसी भी वस्तु की इच्छा व्यर्थ है —

"का मामुं कछु थिर न रह्याई , देखत नैन चल्या जग जाई ।"

जब तुलसीदास जैसे सगुणोपासक ने—

"सिवाराममय सब जग जानी , करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ।"

अथवा

"जगमहि देखहि निज प्रभुहि, कासन करहि विरोध ।"

आदि वाक्यों से विरोध का उन्मूलन करके एकता के भाव की प्रतिष्ठा की है तो कबीर जैसे निर्गुणोपासक के लिए यह कार्य क्या कठिन था ? तथ्य

ता यह है कि कबीर ने आत्मोपासना द्वारा भक्ति को सचमुच भक्ति योग बना दिया है। उनकी भक्ति में साधक और साध्य उपासक और उपास्य का अंतर नहीं है। दाना निरंतर और अभिनव एक हैं। कबीर परमात्मा के उपासक हैं इसलिए अपने भी हैं क्योंकि उनका आत्मा और परमात्मा में अभेद है एकता है। कबीर की एकता के इस प्रतिपादन में उनकी भक्ति धारा को भी अद्वैत वाहिनी बना दिया है।

धार्मिक और सामाजिक क्षत्रा में भा कबीर के एकत्ववाद ने अपना मण्डा फहराया था। धर्म के भेद से राम और रहीम में भी अन्तर माना जाता था अतएव धर्म हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच भेद का कारण बन गया था। कबीर ने कहा कि हिन्दू और मुसलमान दाना एक ही पिता की सतान हैं एक ही कर्ता हैं उनका सजन किया है। राम रहीम केशव करीम आदि नाम एक ही सय कहें —

हिन्दू तुरक का करता एक ता गति लखी न जाई ।

× × ×

हमार राम रहीम करीम केसो अलह राम सति सोई ॥

हरि मीतन और अजा मंदिर और मसजिद तथा पूब और पश्चिम का भेद एक शक्ति एक समय को दो में नहीं बांट सकता। इसी प्रकार अनेक नाम या धर्माचार उस सबव्यापक सय को मंदिर या मसजिद में सीमित नहीं कर सकेंगे। जो यह कहते हैं कि खुदा मसजिद में है या राम मंदिर में है उनका भ्रम कबीर एक प्रश्न में ध्वस्त कर देता है —

तुरक मसोति देहु हिन्दू बहू ठा राम खुदाई ।

जहाँ मसोति देहुरा नाही तहाँ काको ठकुराई ॥

वेप भया मौलिक एकता को कैसे नष्ट कर सकती है ? धर्म के जो चिह्न हम लोगो ने मान लिए हैं वे कृत्रिम हैं हमार बनाये हुए हैं। जनेऊ और सुजत मनुष्य की मौलिक एकता का विभक्त नहीं कर सकत। इसीलिये कबीर चेतवनी देत हैं —

कृतम सुनित्य और जनऊ हिन्दू तुरक न जान भऊ ।

कबीर को कोई वैष मान्य नहीं है, क्योंकि उसे वे भ्रमजात् मानते हैं ।

अलक्ष्य आत्मा इस बेशाचार से मिल्न है —

“कबीर यहू तो एक हँ, पढदा दीया भेष ।
भरम करम सब दूर करि, सबही माहि अलेख ॥”

एकता को नष्ट करने वाली चीज मिथ्याचरण, छल या कपट है । वे कहते हैं कि स्वामी के प्रति सत्याचरण का ही निर्वाह हो सकता है, क्योंकि उसके साथ मिथ्याचरण टिक नहीं सकता है । दुनिया वालों के साथ आपका आचरण सरल एवं निष्कपट होने से ही आप स्वामी के प्रति भी निष्कपट रह सकते हैं । केशो के कारण मनुष्य की मरलता और सत्यता में बाधा नहीं आनी चाहिए क्योंकि केशो के बढ़ाने या मुड़ाने से सत्य का कोई सम्बन्ध नहीं है —

“साईं सेती साच अलि, औरा सू मुध भाइ ।
भावं लम्बे केश करि, भावं घुरडि मुडाइ ॥”

पचवक्ता नमाज और देवालय में मूर्ति पूजा, दोनों का कबीर की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है । हरि की पूजा हृदय में होनी चाहिए मन्दिर में नहीं । भला ब्रह्मदेव का मन्दिर हृदय में अच्छा कौनसा हो सकता है ? जो इस रहस्य को नहीं समझता है वह भूला हुआ है । प्राशोन्मुख अविचेकी मनुष्य ही पत्थर पूजता है और झूठे मनुष्य का ही पचवक्ता नमाज पढ़ने की आवश्यकता होती है । जो आदमी एक ओर नमाज पढ़ता है और दूसरी ओर जीव-हिंसा करता है, वह भ्रान्त नहीं तो क्या है ? नमाज के वक्त खुदा की जिम् रोशनी की बात कही जाती है, जो सब में समझी हुई बतार्थ जाती है, वह जीव-हिंसा के समय कहा चली जाती है ? तब वह एक दो में कैसे विभक्त हो जाता है ? दो विरोधी बातें कहने वाला आदमी कबीर की दृष्टि में भूठा है, अतएव वे कहते हैं —

“कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ ।
चडि मसोति एकै कहे, दरि बयू साचा होइ ॥”

जिस प्रकार समाज में हिन्दू-मुसलमान, राम रहीम और मन्दिर-मस्जिद का भेद फैला हुआ था, वैसे ही ऊँच-नीच और पण्डित-जोषी का भेद भी फैला हुआ था । पण्डित अपने को 'जोषी' से ऊँचा समझता था और जोषी पण्डित से अपने को भिन्न । कबीर के समय में जोशियों का एक वर्ग था, एक सम्प्रदाय था

जिसमें अर्बुण लोग ही प्रायः सम्मिलित होते थे और ब्राह्मण लोग उनको घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस भेद को देखकर कबीर को वेदना होती थी। वे कहते थे कि लोग कितने नास्तमभ हैं जो पण्डित और जोगी में व्यापक एक ही ब्रह्म या आत्मा को नहीं देखते और भ्रम से भेद देयते हैं। क्या कही एक ही तत्त्व में भी भेद हो सकता है ? इसीलिए उन्हें कहना पड़ा —

“व्यापक ब्रह्म सबनि में एकै को पण्डित को जोगी ?”

उन्होंने देखा कि जिस प्रकार वेश-भूषा और सम्प्रदाय मानवीय मौलिक एकता को नहीं बिगाड़ सकते उसी प्रकार 'राम और रहीम' या 'माला' और 'तसबीह' के नाम का अन्तर भी मानवता के ऐक्य को विकृत नहीं कर सकता। वेद और कुरान में यह साम्य नहीं है जो मानवीय उत्पत्ति की एकता को ध्वस्त कर दे। नारी भी अपने मौलिक रूप में पुरुष से भिन्न नहीं है। ब्राह्मण और शूद्र में किस बात का भेद है ? क्या इनमें तात्त्विक एकता नहीं है ? क्या इनके चर्म और मांस में कोई अन्तर है ? यदि अन्तर नहीं है तो भेद क्यों ? इसी कारण उन्होंने क्षोभ से कहा —

“ऐसा भेद विगूचन भारी ।

बेद कतेब दीन अरु दुनिया, कौन पुरिय कौन मारी ॥

एक बूद एक मल मूतर, एक चाम एक गूदा ।

एक जोति ये सब उत्तपसा, कौन ब्राह्मन कौन सूदा ॥”

इसके अतिरिक्त हिन्दू-समाज में प्रतिष्ठित अवतारवाद की भावना और मूर्तिपूजा भी धार्मिक क्षेत्र में गहरी खाई खोदती जा रही थी। इस्लाम में 'बुतपरस्ती' के लिए कोई गुजाइश नहीं है और न वह 'अनेकदेववाद' को ही स्वीकार करता है। कबीर इन दोनों चीजों को सामाजिक एकता का ध्वंसक मानते थे। उन्होंने कहा कि सत्य व्यापक और स्वतन्त्र है। उसको परिमितियों से आवद्ध नहीं किया जा सकता। वह कैसा है ? यह कौन कह सकता है ? वह जैसा है वैसा है। वह अज और अविगत, अनादि और अनन्त है। वह लोक और वेद से ही भिन्न नहीं, ससार से भी भिन्न है। वह शांत और ताप के परिणाम से मुक्त एक देश और काल की सीमाओं में परे है। कोई रूप और भेद उसमें नहीं ठहरेगा। अवतार मानकर लोग उसे नन्द-नन्दन कह देते हैं। वे अपने को

श्रीर दूमरो को घोखा मात्र देते हैं। जिसका नन्द-नन्दन था वह नन्द कौन श्रीर विमका था ? जब बरणी श्रीर आकास दोनों नहीं थे तब यह नन्द कहा था ?

“लोका तुम्ह ज कहत ही नद कौ नदन, नद कहौ धू काकौ रे ?

धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यह नद कहा थौ रे ?’

इससे स्पष्ट है कि कबीर ‘अवतारवाद’ का खण्डन करके सामाजिक एकता की रक्षा करने में दत्त-चित्त थे।

इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित नहीं कि कबीर ने ‘एकता’ के सम्बन्ध में समाज, भावना और चिन्ता के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व क्रान्ति को जन्म दिया। उन्हें आश्चर्य हुआ कि ‘राम’ और ‘रहीम’ का नाम-भेद हिन्दू और मुसलमान का भेद पैदा करके दोनों में विरोध का विकास करता है। अतएव उन्होंने दोनों को बड़े आश्चर्य और क्षोभ से ललकार कर सचेत किया कि राम-रहीम, ईश्वर-अल्लाह एक ही परमात्मा के नाम हैं। अनेक नामों के अन्तर्गत एक ही तत्त्व के उपासक विरोधी नहीं हो सकते। दोनों में समानता का भाव केवल मात्र उनकी मूल्यता है। अनेक धर्मों को विरोध का कारण नहीं बनाना चाहिए। धार्मिक बेश-भूषा कृत्रिम है, व्यर्थ है, अतएव हिन्दू-मुसलमान आदि का बेश-भूषा सम्बन्धी भेद भी वास्तविक नहीं है। अनेक धर्मों के मानने वाले अनेक मार्गों से जाने वाले एक ही गन्तव्य स्थल के पर्यङ्क हैं। वे एक ही वाप के बेटे हैं अतएव उनमें विरोध का प्रश्न ही कहा उठता है ? मन्दिर और मस्जिद उस व्यापक और स्वतन्त्र मत्स्य का आवास नहीं बन सकते। जो इनको उमका आवास मानते हैं वे भूल करते हैं। परमात्मा न वेद में है, न कुरान में, न मन्दिर में है न मस्जिद में, न दाढ़ी में है न चोटी में और न माला में है न तसबीह में। वह प्रत्येक जीव के पास है। जो विवेक के लोचनों से उसे देखता है उसी को वह मिलता है। उसका कोई स्थान नहीं है और न कोई मूल्य ही है। जो गिर देकर उसे खरीदता है, जो मरकर जीता है, उसी को वह मिथ्या है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इन्होंने चिन्ता धारा को एक पथ पर लाने का प्रयत्न किया जिससे ‘एनेश्वरवाद’ और अनेश्वरवाद में समझौता हो सके। जिस प्रकार चिल्ला-चिल्ला कर धीर्तन करने को उन्होंने मिथ्या और व्यर्थ बतलाया, उसी प्रकार मस्जिद पर चढ़कर दी गई ‘अजान’ को भी व्यर्थ बतलाया। अवतारवाद

का खण्डन करके उन्होंने राम ग्रीर वृष्ण को ब्रह्मदेव का आसन दिया। इसी हेतु उन्हें कहना पडा —

ना जसरथ घरि श्रौतारि आवा ना जसय ले गोद खिलावा ।
यावत होइ नहीं बलि छलिया धरनी वेद न लेन उधरिया ॥

शक्तारवाद के खण्डन में उन्होंने मूर्तिपूजा का भी समाप्त कर दिया ।
उन्होंने भोले या मूख लोग का सहजरूप में समभाते हुए कहा —

लाडू लावण तापसी पूजा चढ अपार ।
पूजि पुजारा ले गया दे भूरति मुहि छार ॥

उन्होंने कहा कि मूख लोग पूजते हैं जिसका कोई लाभ नहा ।
यदा अच्छा हाता कि वे अपनी घर की चक्की को पूजते जिसका पिमा हुआ
खान है ।

य सब प्रयास कबीर ने सामाजिक एकता की प्रतिष्ठा के लिए ही किये
थे । कौन नहीं जानता कि कबार सुधारक थे ? सुधारक भी साधारण कोटि के
नहीं बड़ी ऊँची कोटि के । विश्व ने ऐसे बहुत कम सुधारक पैदा किये हैं । ऐसा
कौन-सा क्षत्र था जिसमें कबीर के सुधार का पदापण न हुआ हो ? महात्मा
बुद्ध ने अहिंसा का जितना प्रचार किया था उनके अनुयायियों द्वारा उतनी ही
अधिक उसकी प्रतिश्रिया हुई । कबीर ने बुद्ध की आवाज को एक बार फिर से
सुनाना किया । सब जीवों में एक ही आत्मा का प्रसार देखने वाले कबीर की
एकता की भावना हिमा के आघातों से व्यग्र हो उठी थी । उन्होंने मास भक्षियों
को फटकारा और इतने जोर से कि केवल सेबड़े ही नहीं थरने गये वरन मस्जिद
के काजी और मुल्ला भी काप गये । इममें सन्देह नहीं कि कबीर सामाजिक एकता
चाहते थे किन्तु समाज को व निष्कलङ्क भी बनाना चाहते थे । उनकी सामाजिक
एकता की भावना में पशु पक्षियों का प्रेम भी सम्मिलित है ।

जाति-प्राति के दकोसन और ऊँच नीच की दरारा को कबीर ने एक
ही साथ मिटाने का प्रयत्न किया । सब से आदि और अन्त आगम निगम, सृजन
रख आदि को सामन रख कर उन्होंने भदों को प्याई को मिटाने की पूरी चेष्टा

की। ब्राह्मण के गर्व को सर्व करते हुए कबीर ने कहा कि 'ब्राह्मण यही है जो ब्रह्म को पहिचानता है'। इस प्रकार सब क्षेत्रों में कबीर ने सामाजिक एकता की प्रतिष्ठा करने के लिए बटूट प्रयत्न किये। धर्म, जाति, समाज, भक्ति, ज्ञान, योग—कोई भी तो ऐसा क्षेत्र न रहा जिसमें उनकी शिथिलता दीख पड़ती हो। इस 'एकता' के परम पुजारी ने उसकी रक्षा के लिये यदि मध्य मार्ग से उलटी, यज्ञा बहाकर अद्वैत के आवास में प्रश्रय लिया तो उचित ही था। कबीर मानते-
कह रहे हैं—

"कबीर इस सतार को, समभाऊँ के वार ।
पूछ ज पकड़े मंद की, उतरया चाहे पार ॥"

मानववाद एवं साम्यवाद

महात्मा कबीर का नाम प्राचीन भारत की उन इनी-गिनो विभूतियों में प्रशंसित किया जा सकता है जिन्होंने मानव-बन्धुत्व और ईश्वर पितृत्व की पुकार से एकता के आदर्श की प्रतिष्ठा की। अपने आदर्श को प्राप्त करने के लिए तथा अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए महात्मा कबीर ने ऐहिक और पारमार्थिक दूरी को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक अन्तर का दूर करने का सतत प्रयत्न किया। जिनके कण्ठ की मधुरता और कर्कशता में, जिनके परिग्रह और परित्याग में, जिनके अनुराग और विराग में केवल एकता का मूल मंत्र सुन पड़ता हो ऐसे साधु को कौरे दार्शनिक दृष्टिकोण से देखना उचित न होगा। जिनको कबीर का महाभक्त सीखना है, जिनको शांति की चरम व्यवस्था करनी है जो ऊँच-नीच के भूत को भारत से भगाना चाहते हैं और जो समाज को धर्म और नीति के व्यावहारिक पथ पर चलाना चाहते हैं, उन्हें कबीर के सामाजिक दृष्टिकोण का अनुशीलन बड़ी गम्भीरता से करना चाहिये।

कबीर उन साधुओं में से नहीं थे जिनके मन की आँखों में आत्मरक्षापा ही घूमती है और न वे उन सत-महन्ता में से ही थे जो दम्भ के बल से प्रभुता प्राप्त करना चाहते हैं। वे तो उन महापुरुषों में से थे जिनके हृदय की प्रत्येक कोर में 'भेद' छटकता है। इस भेद को वे सिद्धांत और व्यवहार—जीवन के किसी पक्ष में देखना नहीं चाहते थे। उनको विश्वास था कि 'मानव' की सर्वोच्चता उस समय तक सिद्ध नहीं हो सकती जब तक वह अभेद दृष्टि से 'समता' पर आसीन 'एकता' की परम देवी को सिद्ध न करले। इस देवी के मन्दिर की ओर कबीर एक सामान्य व्यक्ति की भाँति नहीं आये थे, उन्हें उनके सत्कारों ने प्रेरित किया था। समाज की वदुताओं ने उन्हें इस ओर आने को विवश किया था। कितनी दूर उन्होंने मानव-अपेक्षा स्वल्प पर अनुगत नहीं किया था, कितनी

बार उन्होंने उसके अग्र विश्वाभो पर उसकी भर्त्सना नहीं की थी और बितनी बार उन्होंने मानव के कोमल हृदय की विनाशकारिणी कर्कशता पर सार्वभ्य दुःख व्यक्त नहीं किया था ।

कबीर की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने नैदानिक पक्ष का पूर्ण प्रयोग व्यावहारिक पक्ष में भी किया । मकर का जो 'अद्वैतवाद' उनके 'भाववाद' का प्रथम पाकर भी उनकी द्वैतमयी भाषा का अपहरण न कर सका उमी को प्रपत्ता 'अमापास्त्र' बता कर महात्मा कबीर ने युग-युग में बढ़े आते हुए 'भेद' के मूल का उच्छेदन करने के लिए यह निक्षेप किया । उनकी प्रगति की सफलता उनके 'मत और पथ' दोनों से निम्न होती है ।



नया अर्च्छा होता कि महात्मा गांधी के युग में महात्मा कबीर भी होते और क्या ही अर्च्छा होता कि उनकी गिरादेवी सफलता और सार्यकला के भव्य गुरु मन्दिर में प्रतिष्ठित होती । तो क्या अर्च्छुत 'भेद' को इसी प्रकार देखते रहते । क्या फिर भी मुत्ला और पुजारियों के दम का ऐसा ही बोलबाला होता । नहीं, शायद कभी नहीं । यदि उनके आदर्श जन-मन में प्रतिष्ठित होते तो टाकियों की धारो से आत्मदेव की अखडता उडित न होती, चोटी और दाही से मानव-बन्धुत्व अर्च्छुत न होता, सेवा नीचकरो न होती और अहिंसा के 'बिल' धारासभाओ में न रक्खे जाते ।

अद्वैतवाद के प्रतिपादक महात्मा कबीर पहले सामाजिक थे, पीछे कुछ और । वे समाज की एकता के पुजारी और अखडता के सच्चे प्रहरी थे । वर्ण और जाति-पाति का जो घूत सामाजिक व्यवस्था के सुच्छ में लग रहा था, उसको निकाल फेंकने वा उन्होंने अदम्य प्रयत्न किया । वे व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न इकाइयो के रूप में देखना स्वीकार न कर सके । व्यक्ति को सामाजिक इकाई का अभिन्न अंग मान कर ही उन्होंने तत्कालीन भ्रात अगत का पथ प्रदर्शन किया । वे अपनी रचना में जीवन के जिस किमी पक्ष का निदर्शन करते हैं, उमी से सामाजिक एकता की प्रतिष्ठा निरन्तर पटती है । हिन्दु मुसलमानो की जातीय सन्धीयता पर प्रहार करते समय उनकी बाणी की अधिधारा से वही मौलिक एकता भङ्ग हो उठती है । अहिंसा के मर्म वाक्यो में भी उसी अभिन्न एवं अखड विश्व की पुकार है ।

इसमें सन्देह नहीं कि समाजिक उपद्रवों के कारण मूल रूप में सिद्धान्त बनते हैं। भिन्न भिन्न सिद्धान्त समाज में जब आदर्श रूप प्रतिष्ठित हो जाते हैं तो उनसे एकता की कमी बढ़े बिना नहीं रह सकती। वही सिद्धान्त जब कुछ और उग्र हो जाते हैं तो समाज क्षय प्रसन्न हो जाता है। कबीर ने सबसे पहले इसी रोग का निदान किया और रोगियों का उपचार करते हुए पुकारने लगे—

हम सब माँह सकल हम माँहो, हम थे और दूसरा नाही ।”

इस प्रकार कबीर ने एकता मूलक समता का प्रचार किया। यदि उन्हें हिन्दुओं के अनेकेश्वरवाद से सन्तोष न हो मक्का तो मुसलमानों के एकेश्वरवाद से भी तपि न मिल सकी, क्योंकि अनेकेश्वरवाद से जिस प्रकार समाजिक एकता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार एकेश्वरवाद से भी नहीं होती। ईश्वरीय एकता वैयक्तिक अनेकता को अप्रमाणित एवं असिद्ध नहीं कर सकती। इसीसे उन्होंने एकेश्वरवादियों का सुनाकर कहा—

“मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर को स्वामी घटि-घटि रह्यो समझई ।”

कबीर ने अपने खुदा की घट-घट में प्रतिष्ठा करके सब घटों को एकता-सूत्र में बाँधने का सफल प्रयत्न किया। उस घट-घट वासी को कबीर ने अविजातीय ही प्रमाणित किया। पीछे ‘हम थे और दूसरा नाही’ में यही प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। व्यावहारिक भेद उस घट-घट वासी की एकता को खंडित नहीं कर सकते। ब्रत, उपवास, नमाज आदि के हिन्दु, मुसलमान आदि रूपा में समाज का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि ब्रतादि समाज के मूल तत्त्व नहीं हैं। इसलिए कबीर ने कहा है—

‘राखू ब्रत न मुहरंम जाना, तिसही मुमिहू जो रहै निदाना ।

X

X

ना हज जाऊँ न तीरथ पूजा, एक विछाप्या तो क्या दूजा ।”

भगटा तो उसी समय तक है जब तक एक और अनेक का भ्रम है।
नहीं तो—

“एक निरजन सँ मन जागा, कहै कबीर भरम सब भागा ।”

हो सकता है कि कुछ लोग इसे कबीर का सिद्धांत ही मानते रहे, किन्तु तब्य तो यह धीरे पड़ता है कि 'निरजन' की व्यापकता कबीर के व्यावहारिक प्रेम की व्यापकता से भिन्न नहीं है। यही अभिन्नता वसुधैव कुटुम्बकम् के मानने वालों का लक्ष्य रहती है। इसीके सम्बन्ध में रहीम का मत है—

“प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप ।

एकहि ह्वै द्वै में लसे, ज्यों सूरज अरु धूप ॥”

कबीर की भक्ति में, चिन्तन में, व्यवहार में, और उनकी वाणी में सबत्र प्रेममयी समता और अखंड एकता निहित है। वही कबीर का जीवन है, वही आदर्श वही व्यवहार है और वही लक्ष्य ।

आज के राजनीति शास्त्र में साम्यवाद का एक नियत अर्थ लगाया जाता है, तथा यह आधुनिक मान्यता है कि साम्यवाद में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है, वर्गभेद के लिए कोई स्थान नहीं है। साम्यवादियों का यह विश्वास है कि सत्सत्ता में प्राचीनकाल से दो वर्ग चले आ रहे हैं—एक शोषक वर्ग है और दूसरा शोषित। एक अव्यापार, अनाचार एवं अन्याय के मार्ग से अपने लिए सुख और वैभव की अर्जना करता रहा है और दूसरा श्रम करता हुआ भी पर-मुखापक्षी होकर भोजन, वस्त्र और आवास के लिए कष्ट सहता रहा है। एक के पास पूजा रही है, जिससे दूसरे के श्रम को खरीदता ही नहीं रहा, अपितु छीनता रहा है। उसने उसका उचित मूल्य नहीं चुकाया। श्रमिक या मजदूर इच्छा न होने हुए भी धनिकों की इच्छा का खिलौना रहा है। मानव की इस प्रकार की दुखास्था धीरे-धीरे चली आ रही है। साम्यवाद ने इस विषमता के मिटाने का निश्चय किया है। इस ने साम्यवाद की पतिष्ठा और विश्व में उसके प्रचार और प्रसार का प्रयत्न भी किया है। राजनीतिज्ञों तक का कहना है कि साम्यवाद का लक्ष्य बुरा नहीं है किन्तु जिन साधनों का साम्यवादी प्रयोग करते हैं वे प्रायः क्रूर एवं नृशंस हैं। यह ठीक है कि साम्यवाद समाज को एक स्तर पर लाना चाहता है किन्तु वह शान्तिमय साधनों का प्रयोग नहीं करता। सिद्धि के निमित्त साम्यवाद की आतुरता ही क्रूरता और नृशंसता का कारण बनती है। साम्यवादी अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए रक्तपात करने में भी नहीं हिचकता। यह ठीक है कि साम्यवाद के मिद्धान्तों में रक्तपात का समावेश कदापि नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की क्या आवश्यकता है।

रक्त की बात छोड़िए, चीन और तिब्बत में जो कुछ हुआ है उसमें कितना रक्तपात हुआ है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन काल में भी साम्य की दिशा में प्रयास हुए थे। सर्वेभवन्तु सुखिना सर्वेसन्तु निरामया आदि वाक्यों में साम्यवाद नहीं तो साम्य की प्रवृत्ति अवश्य भङ्गवती है। महात्मा बुद्ध के प्रथम अधिकांशतः साम्यमूलक थे। सिद्ध और नाथा की शिष्टाचारों में भी साम्य के प्रचार की स्पष्ट प्रवृत्ति है किन्तु कबीर ने साम्य की जो भूमिका प्रतिष्ठित की वह अधिक दृढ़ थी। उसमें धर्म का बहिष्कार नहीं है किन्तु धर्म का गणित एवं व्यवहारोपेक्षित रूप भी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर धर्म को व्यक्तिगत साधना मानते हैं, वह किसी जाति या वर्ग की साधना नहीं है। व्यक्तिगत हानि हुए भी कबीर का धर्म मानवधर्म-मान है उसमें मनुष्य मनुष्य की समता स्वीकार की गई है और परमात्मा का पितृत्व राम-रहीम के अभेद में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कबीर का साम्यवाद अभिव्यक्त सत्ता को पूर्ण प्रभुता प्रदान करता हुआ मानव-एकता सिद्ध करता है और यह एकरता या समता, ब्रह्म और जीव के अभेद तक जा पहुँचती है। ईश्वर के पितृत्व और राम-रहीम की एकरता मानवव्युत्पत्ता और एकता सिद्ध करती हुई जाति-धर्म भेद के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती। उसमें रक्तपात तो दूर की बात रही, मानसिक हिंसा तक के लिए कोई स्थान नहीं है। अहिंसा और सत्य के पुत्रांग कबीर ने साम्य की प्रतिष्ठा के लिए अपने उपायों का प्रयोग किया है।

सत्ता की नश्वरता, मानव शरीर की भंगुरता और आत्मा की अमरता एवं एकरता दिखलाकर कबीर समस्त भूमि पर निकट लाना चाहते हैं। राजमद को प्रकम्पित करते हुए, कायाबन के अभिमान को गिराने हुए, निर्बल को दृढ़ आश्वासन देते हुए, कबीर कही भय, कही भर्त्सना और कही भक्ति के मार्ग का अनुसरण करते हैं। अभिव्यक्त सत्ता की शक्ति को मनुष्य के सामने लाकर कबीर मानवीय आशा-निराशा, एवं अभिमान आदि को चूर्ण करते हुए चहते हैं—

“साईं सूर सब होत है, बन्दे थे कुछ नाहि ।
राईं थे पर्वत बरे, पर्वत राईं माहि ॥”

और बल के अभिमान में लिपटे हुए मानव को सतर्क करते हुए निर्बल के प्रति सहानुभूति पैदा कराने के लिए वे कहते हैं—

'निर्बल को न सताइये, जाकी भोटी हाय ।

' मुई खाल की इवाँस सों, सार भसम ह्वै जाय ॥'

इस प्रकार कबीर के साम्यवाद की ये विशेषताएँ हैं—

१. इसमें परमात्मा एक अन्तिम और सर्वोच्च शक्ति है तथा वह सबम और सब उसम है ।
२. राम और रहीम में कोई भेद नहीं है । वर्ग और वर्ण का भेद कृत्रिम है, वह मौलिक और स्वाभाविक नहीं है, अतएव इसको मान्यता नहीं देनी चाहिए ।
३. मनुष्य-मनुष्य में ही अभेद नहीं है अपितु मनुष्य और परमात्मा में भी अभेद है ।
४. कबीर के साम्यवाद के सत्य और अहिंसा प्रमुख तत्त्व हैं और वह प्रेम की शिक्षा देता है ।

कवीर की उलटवांसियाँ

भाषा अभिव्यजना का एक साधन है। जो शब्द भाषा में प्रयुक्त होते हैं वे नाम, रूप, भाव या क्रिया के प्रतीक होते हैं। बहुत से पुराने शब्द और शब्द-रूप नये शब्दों और शब्द-रूपों के लिए अपना स्थान रिक्त करके धीरे-धीरे समय की धारा में विलीन एवं तिरोहित हो जाते हैं। जो शब्द प्रचलित होते हैं वे अपना नियत अर्थ छोड़ित करते हैं। एक ही शब्द के अनेक अर्थ भी होते हैं और कभी-कभी यह भी दिखायी पड़ता है कि कई शब्दों का एक ही अर्थ होता है। ये सभी शब्द अपने मौलिक रूप में प्रतीक हैं और उनका प्रयोग अभिप्राय-विशेष में ही होता है किन्तु जिन शब्दों को साहित्य में प्रतीक नाम से अभिहित किया जाता है उनका उपयोग प्रायः गुरु, धर्म, क्रिया अथवा भाव की अभिव्यक्ति के लिए ही किया जाता है। भाषा एक प्रतीकात्मक उपायमात्र होत हुए भी प्रतीकों का उपयोग आध्यात्मिक अभिव्यजना के क्षेत्र में अधिक आवश्यक हो जाता है। वस्तु जगत् की अभिव्यजना बड़ी सरल होती है क्योंकि वस्तुओं के लिए शब्द नियत हैं किन्तु भाव-लोक की अभिव्यक्ति दुस्तह होती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अन्तर्लोक को अपने-अपने ढंग से देखता है और अपनी अनुभूति को अपने शब्दों में व्यक्त करने का उपक्रम करता हुआ लोक भाषा से सवध रख कर भी उसके अर्थ को छोड़ देता है। वह अपना अर्थ भाषा को देकर तोप लाभ करता है। धार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यजना सामान्य बोध को कुछ अपरिचित-सी लगने का यही कारण है। इन्हीं परिस्थितियों में 'रहस्यवादी अभिव्यक्ति' को जन्म मिलता है। छायावाद और रहस्यवाद से सबधित आधुनिक कविताएँ इतनी सरल नहीं हैं जितनी यथार्थवादी या दूसरी कविताएँ क्योंकि उनमें पाठक या श्रोता को कवि के अर्थ तक पहुँचने की आवश्यकता होती है और वहाँ तक न पहुँचने की दशा में अन्याय या अनर्थ को ही जन्म मिलने की गुंजाइश रह जाती है।

जब कविता के क्षेत्र में ऐसी परिपाटी हो जाती है तब समाज के लोग उसके अर्थ को समझने में अधिक कठिनता का अनुभव नहीं करते क्योंकि वे अपरिचित अर्थों से परिचित होने लगते हैं। अभिव्यक्ति की परिपाटी से शैली को जन्म अवश्य मिलता है किन्तु अर्थ को व्यवहृति न मिलने से शब्द प्रतीकमान बन रहे हैं। भाषा के इतिहास में प्रतीको का अपना स्थान है किन्तु यह बतलाना कठिन है कि किस शब्द में प्रतीक-शक्ति है। कोई भी शब्द प्रतीक बन सकता है किन्तु उसकी योग्यता प्रयोक्ता के हाथों में निहित रहती है। वह जितनी चाहे उतनी शक्ति अपने प्रिय शब्द को दे सकता है। यदि उपयुक्त सगति शब्द को नहीं मिल पाती तो उसको अर्थ-बोतल की समुचित शक्ति भी नहीं मिल पाती। उदाहरण के लिए इस पक्ति को ही ले सकते हैं—

“अग्नि जु लागी नीर में, कंदू जलिया भारि।”

यहाँ पर शब्दों को उपयुक्त सगति प्राप्त हुई है अतएव ‘अग्नि’, ‘नीर’, ‘कंदू’ आदि की शक्ति अमोघ है। आध्यात्मिक विरह के कारण मन की समस्त वामनाएँ जल जाती हैं, इस भाव को कबीर ने प्रतीक-योग से व्यक्त किया है। सामान्य ढंग से कहने में उक्ति में वह प्रभाव न आता जो अर्थ है। कोई शब्द अपने सामान्य अर्थ से अपनी सफलता सिद्ध नहीं कर सकता। प्रत्येक शब्द अपने-अपने सकेत से सुयज्जित है और प्रत्येक सकेत का एक-दूसरे में सवध भी है। यही शब्द-शक्ति कहलाती है जो काव्य का अपरिहार्य अंग है।

प्रतीको में प्रायः सकेत होते हैं, किन्तु उनसे किसी ध्वनि का निश्चल पटना भी अनुभव नहीं है। जहाँ ध्वनि प्रमुख हो जाती है वहाँ कवित्व उत्कृष्ट हो जाता है। प्रतीक-परंपरा प्राचीन काल से ही चली आती है। पीछे प्रतीक के मवध में यह तो बताया ही जा चुका है कि प्राचीनतम साहित्य ने प्रतीक को अपनाया था। इसके लिए वेदों तक का इतिहास देखा गया है किन्तु इनमें प्रतीक का प्रागैतिहासिक अस्तित्व भी सिद्ध होता है। अवश्य ही वेदों से पूर्व भी लोक-भाषा में प्रतीक का व्यवहार रहा होगा। लोक-प्रचलन के उपरान्त ही ऐसी चीजें साहित्य में अपना घर बनाती हैं।

कबीर की उलटबांसियाँ प्रतीक-परिवार की सहेलियाँ हैं। कबीर के अनेक विचार उलटबांसियों में ही अभिव्यक्त हुए हैं। जिस प्रकार वेदों में ज्ञान निहित है उसी प्रकार उलटबांसियों में भी कबीर का ज्ञान संचित हुआ है। उलटा वेद कहकर कबीर ने उनको महत्त्व दिया है। यह शैली कबीर ने ही प्रारम्भ की हो ऐसी बात नहीं है। हमारे आदिम साहित्य में इस शैली का प्रयोग मिल जाता है। इसकी प्राचीनता का सबंध वेदों से बड़ी सरलता से जोड़ सकते हैं। ऐसी उसदी उक्तियों का वेदों में अभाव नहीं है।

‘अपादेति प्रथमा पद्धतीना फस्तद्वा मित्रावरुणा चिवेत,’ ‘चत्वारि शृंगान्नयोऽस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवति’, अथवा ‘इदं वपुर्निर्वचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुराप’ आदि वानयावलियों ने उलटबांसियों के स्रोत की ओर सवेत किया है।

डा० त्रिगुणायत ने ऋग्वेद में एक और उदाहरण इसी प्रकार का सौजा है—

‘क इमं धो नृष्य माचिकेत, वसो मातृजनयति सुधाभिः ।’

अर्थात् वन आदि में अन्तहित अग्नि को कौन जानता है ? पुत्र होकर भी अग्नि अपनी माताओं को हव्य द्वारा जन्म देते हैं।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद से भी एक उदाहरण दिया है—

१. बिना पैरोवाली पैरोवाली से पहले आ जाती है, मित्रावरुण इस रहस्य को नहीं जानते—ऋग्वेद २-१-१५२-३

२ इस बँस के चार सींग, तीन चरण, दो सिर और सात हाथ हैं ; यह तीन प्रकार से बँधा हुआ उच्च शब्द करता है—ऋग्वेद ३-४-५८-३

३. हे मनुष्यो ! यह वपु निर्वचन है क्योंकि इसमें जल स्थिर है और नदियाँ बहती हैं—ऋग्वेद ४-५-४७-५

४ ऋग्वेद (१-१-७-१५) सूक्त ६५

‘ईह ब्रवीतु य इयञ्ज वेदास्य वामस्य निहितं पदं वे । शीर्ष्ण क्षीरे
दुहते गावो अस्य वस्त्रि बसाना उदक पदायु ।’^१

उपनिषदों ने इस शैली को और भी आगे बढ़ाया है । उनमें धात्मा के
सबब में ऐसी अनेक उक्तियाँ समाविष्ट हुई हैं जो उलटी प्रतीत होती हैं किन्तु
अनुभवगम्य सत्य से पूर्ण हैं । श्वेताश्वतर उपनिषद् एक ऐसी विचित्र शक्ति
का परिचय देता है जिससे आश्चर्य होता है । वह (आत्मा) ‘बिना हाथ-पैरो
का होता हुआ भी वेगवान और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता
है और कर्णरहित होता हुआ भी सुनता है ।’^२ लगभग इसी भाव को कठोप-
निषद् में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

‘आसीनो ब्रूः व्रजति शयानो यातिसर्वत ।’^३

अर्थात् वह स्थान हुआ भी दूर जाता है और शयन करता हुआ भी सब
ओर पहुँचता है । इसी आशय को ईशोपनिषद् ने कुछ भिन्न प्रकार से व्यक्त
किया है—^४

‘तदेजति तन्जति तद्दूरे तदन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यत ॥’^५

अर्थात् ‘वह चलता है और नहीं भी चलता, वह दूर है और-निकट
भी है और वह सबके भीतर भी है तथा बाहर भी है । वह ठहरा हुआ भी
अन्य दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है ।’^६

उलटी बातें कहने की पद्धति ने अद्भुत^७ के आश्रय से धर्म में ही नहीं
आगे चलकर साहित्य में भी प्रतिष्ठा प्राप्त की । आध्यात्मिक मनीषियों ने

१. हे विद्वन् ! जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित-
रूप को जानता हो, वह बतलावे, उसकी इन्द्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर
प्रदान करती हैं और अपने चरणों से जल पिया करती हैं—अथर्व ६-६-५

२. श्वेता० उप० ३-१६

३. कठोप० १-२-२१

४. ईशोपनिषद्, म० ५

५. ‘तद्वाचतोऽज्यानत्येति तिष्ठत — ईजाप०, म० ४’

विभावनात्मक वणनो क सहारे सत्य के अनक पहलुआ को तो प्रकाशित किया ही साथ ही उसम एक सरसता का पुट भी दिया । इसी कारण उपनिषदो की बहुत सी अध्यात्मोविक्रिया किसी अश तक सरसता की अभिव्यजना भी करती ह । या तो ब्राह्मणो म भी बहुत स ऐसे स्थल आय ह जो वदिक सहिताओ और उपनिषदा के बीच बडी का काम किय बिना नही रहते फिर भी उनका यह महत्त्व नही है जो उक्त विभावनात्मक वणनो का है ।

इन सब वणनो का हम दो भागा म बाट सकते हैं—विभावनात्मक वणन और विरोधाभास । य दोना वास्तव म एक ही असिलता की दो धाराएँ ह—

‘अपाणिपादो जनवो ग्रहीता पश्यत्यक्षु सभृणोत्यकर्णं ।’

इस म विभावना है । यहा कारण क बिना ही काय की उत्पत्ति कही जाती है । न्वाभाविकत्व और कारणात्तर भेद से विभावना भी दो प्रकार की होती है । विभावना का प्रनिरूप विरोधाभास है जा विरोध से भिन्न होता है क्योकि उसम विरोधी गुण सहस्य नही होते, केवल विरोध का आभास होता है । वस्तुत विगध नही होता । विभावना और विरोधाभास दोना से वष्य का उत्कय प्रकट होता है । इनके अतिशित असंगति अधिक विषम एव विशेषोक्ति क द्वारा भी वष्य का महत्त्व प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी है ।

इस प्रकार की परपरा धार्मिक अभिव्यक्तिया म आग भी चलती दिसायी पडती है किन्तु उसका अभिप्राय बदलने लगता है । तान्त्रिका और बच्चमानी सिद्धो ने उलटी बात कहने की शली को बहुत बडा प्रोत्साहन दिया । इसका विशेष कारण उनकी गोपन प्रवृत्ति थी । वे अपनी साधना-सबधी बात लोक म प्रकट करना उचित नही समभते थे । तान्त्रिको ने अपनी गोपन प्रवृत्ति का सकेत इन शब्दो म किया है—

प्रकाशात् सिद्धिं हामि स्यात् वामाचारगती प्रिये ।

अतो वामपथे देवी गोपयति मातृं जारदत् ॥

—विश्वसारतत्र

बौद्ध धर्म में तो उलटबाँसियों के प्रयोग बहुत पहले से मिलते रहे हैं। 'धम्मपद' की ये गाथाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं—

“मातर पितर हन्त्वा राजानो द्वेच खत्तिये ।
रट्ठ सानुचरं हन्त्वा प्रनिघो याति ब्राह्मणो ॥” (क)
“मातर पितरं हन्त्वा राजानो द्वेच सोत्थिये ।
वेज्याघ पञ्चम हरत्वा अतिघो याति ब्राह्मणो ॥” (ख)

इनको पढ़-सुनकर किसी को भी आश्चर्य हो सकता है किन्तु इन गाथाओं का अर्थ प्रतीकों में छिपा हुआ है। उनके खुलने पर आश्चर्य का निवारण हो जाता है। बौद्ध-धर्म के बज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों में ऐसे प्रयोगों का और भी विकास हुआ है। चर्यापदों में ऐसे कितने ही प्रयोग मिलते हैं। काण्हपा की एक उक्ति देखिये—

“मारि शालु नणन्द घरे शाली ।
माघ्र माहिघ्रा काण्ह भइल कपाली ॥”

अर्थात् घर में सास, ननद एवं साली को मार कर माँ को मारा और काण्हपा कपाली हो गया।

इसी प्रकार कुक्कुरीषा ने कच्छपी का दोहन करने और मगर द्वारा वृक्ष की इमली के खाये जाने की बात कही है—

“डुलि डुहि पिटा घरण न जाइ ।
रुखेरतेन्तलि कुम्भीरे खाप्र ॥”

१. धम्मपद पकिण्णवगो ५-६

(क) “माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचरसहित राष्ट्र को नष्ट करके ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।”

(ख) “माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा पाँचवें व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।”

२. चर्यापद, ११

(ग),

३. चर्यापद, २

और डेण्डेणपा की उक्ति में भी कुछ कम उलटापन नहीं है। यहाँ बँल व्याता है और गाय बाँभ रहती है और पिटा (पीठक) तीनों समय दुहा जाता है—

“बलद बिग्राभल गविग्रा बाँभे।

पिटा दुहिए ए तिना साँभे ॥”

ऐसी उक्तियों के साथ सिद्धों ने गर्वोक्तियाँ या चुनौतियाँ भी जोड़ रखी हैं, जैसे करोडों में से कोई विरला योगी ही इस बात को समझ सकता है, अथवा डेण्डेणपा के इस गीत को कोई-कोई ही समझ पाता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गोपन-प्रवृत्ति के कारण सिद्धों की रचनाओं में एक विचित्र शैली को प्रोत्साहन मिला था जिसको विद्वानों ने ‘सन्ध्या’ या ‘सन्धा’ भाषा कहा है। इसका अर्थ-भार अभिधा-शक्ति न समाल कर ‘सकेत’ समालते हैं जो प्रतीकमात्र होते हैं। इनका अभिप्राय वक्ता के मस्तिष्क में होता है और श्रोता उसको खोजता हुआ अनेक बार कहीं से कहीं पहुँच सकता है सयोग या वक्ता की सहायता ही श्रोता को उसके पास पहुँचा सकती है।

इस प्रकार की प्रतीक-शैली की परंपरा नाथों की वाणियों में भी अवतरित हुई किन्तु उनकी प्रवृत्ति सिद्धों-जैसी नहीं थी। सिद्ध लोग अपनी साधना का रहस्य हर किसी को प्रकट नहीं होने देना चाहते थे, कारण कि उनकी अपनी दुर्बलताएँ थीं। इस गोपन-प्रवृत्ति ने उनकी चमत्कार-प्रवृत्ति को भी प्रेरित किया और वे सकेत-शैली का प्रयोग गोपन-क्षेत्र से बाहर भी करने लगे। इस प्रकार सिद्धों की वाणी में दो प्रकार की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है—गोपन-प्रवृत्ति तथा चमत्कार-प्रवृत्ति। यद्यपि सिद्धों की मूल प्रवृत्ति गोपन की है। नाथों में गोपन-प्रवृत्ति का अग्रगण्य नहीं दीख पड़ता किन्तु दूसरी प्रवृत्ति उनकी वाणी में छिप नहीं सकी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाथों की सिद्धि-दुन्दुभि ने लोक को चमत्कृत कर दिया था। शब्द ही ऐसी कोई वस्तु भी जो लोक-दृष्टि में बाबा गोरखनाथ की शक्ति से बाहर की रही हो। यह सब पद्य-प्रतिष्ठित चमत्कारिता थी।

गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने अपनी साधना की अनक बातों को पहिलीयों में समझाया है जिनमें उठती बातें होने से कुतूहल बढ़ाने की चेष्टा स्पष्ट है। एक ऐसा उदाहरण देखिये—

धन विह्वली गगन रचील तेव विह्वली बाती ।

गुरु गोरख के वचन पति आया तब घौस नहीं तहा राती ॥

अर्थात् गोरखनाथ कहते हैं कि यदि मेरे वचनों में पूर्ण विश्वास हो जाये और उसके अनुसार आचरण किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि गगन में किनी लम्बे और तेज-बत्ती के बिना ही ज्ञान का गुम्बालोक हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि गोरखनाथ अपनी साधनात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए कई बार उलटबाँसियों का महारा ले लेते हैं। एक तो उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति स्वतः ही रहस्यमयी हो जाती है दूसरे उनकी चमत्कार प्रवृत्ति एवं परंपरा की प्रेरणा भी उलटबाँसियों को जन्म देती है। एक स्थान पर गोरखनाथ की उलटबाँसी देखिये—

दुग्गरि मछा जलि सुता, पापी न दौं लागा ।

भरहट बह तूसालवा, सुल काटा भागा ॥

अर्थात् पानी में अग्नि लगी हुई है मछली पहाड़ पर है और खरगोश जल में है। प्यासों के लिए रहेंद बहने लगी है और शूल से निकल कर काँटा नष्ट हो गया है।

एक दूसरे स्थान पर गजेन्द्र चीटी की आँख में प्रवेश करता है, बाधिन गाय के मुख में ब्याती है और बाक वारह वष की अवस्था में प्रसव करके निकम्मी हो जाती है।^१

और भी आश्चर्य की बात देखिये— नाथ अमनवाणी बोलता है बम्बल बरसता है और पानी भीगता है। पडक को गाडकर उसमें खूँटे को बाधो

१ देखिये गोरखबानी (प्रयाग) पृष्ठ ११२ पं २०

२ चीटी करा नेत्र में गज्यद्र समाइला ।

गावडी के मुख में, बाधला विदाइना ॥—गो० वा० (प्रयाग), पृष्ठ १२६ पद ३४

दमामा चलता है और ऊँट बजता है। कौए की डाल पर पीपल बँठा है, चूड़ के शब्द से बिल्ली भाग रही है। बटोही चलता है, बाट धकती है, डोकरी के ऊपर खाट लेटी है। कुत्ता घुस गया है और चोर भूँक रहे हैं ... 'घडा नीचे है और पनिहारिन ऊपर है। लकड़ी म पडकर स्वयं चूल्हा जल रहा है और रोटी अपने पकाने वाले को खाती जा रही है। कामिनी जलती है और अगीठी तापती है। बहू सास को जन्म देती है और नगर का पानी कुएँ को जाता है और गोरखनाथ 'उलटी चर्चा' का गान करता है।"^१

इस प्रकार की शैली का एक युग रहा दीख पड़ता है क्योंकि जैन मुनियों ने भी उसको अपनाया है। आवश्यकता और परंपरा, दोनों ने 'उलटी चर्चा' को प्रेरणा दी थी। अपने एक पाहुड़ दोहा में जैन मुनि रामसिंह भी ऐसी ही अटपटी बात कहते हैं—

'उब्बस बसिया जो करइ. बसिया करइ ॐ सुग्गु ।

बलि किज्जउ तसु जोइयहु, जासुण पाउण पुण्णु ॥"

—पाहुड़ दोहा (करजा), १६२

अर्थात् जो ऊजड़ को बसाता है और जो बसे हुए को उजाड़ता है, हे यागी ! उस व्यक्ति की बलिहारी है, उसको न पाप होता है न पुण्य।

यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सिद्धा और नायो की वाणी से कबीर की वाणी का अटूट सवध रहा है। इन्हें के गोला-बाहद से कबीर ने इन्हीं के गढ़ पर चढाई की है। इसलिए भापा और शैली तक भ इन्हीं का अनुकरण है, इन्हीं की छाप है। यद्यपि सिद्धो की भापा कबीर की भापा से बहुत भिन्न है फिर भी भापा की जो प्रवृत्ति है वह कबीर की भापा में मिलती है किन्तु गोरखनाथ की भापा तो कबीर के बहुत निकट की प्रतीत होनी है।

१ नाय बोलै अमृतवाणी वरिपंगी कवली भीजैषा पाणी ।

गाडि पडरवा बाधिले घूटा, चलै दमामा बाजिले ऊटा ॥

× × × ×

नगरी को पाणी कूई भावै, उलटी चरचा गोरख गावै ॥

—गो० बा०, पृष्ठ १४१-४२, पद ४७

कबीर ने अपनी साधना का एक बहुत बड़ा अंश गोरखनाथ की साधना से भी ग्रहण किया है।

इसमें तो कोई सन्देह भी नहीं है कि गोरखनाथ योगी थे। उन की योग-साधना वज्रयानियों की योग-साधना से भिन्न थी। वज्रयानियों ने योग-चर्या को शारीरिक क्रिया-प्रक्रियाओं में आबद्ध कर रखा था, किन्तु नाथ सम्प्रदाय में एक अध्यात्म तत्त्व की प्रतिष्ठा हुई। इसीलिए हम देखते हैं कि गोरखनाथ ने योग साधना में शिव और शक्ति को आदि तत्त्व माना गया है और शिव नाथ सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक माने गये हैं। अतएव यह न भुला देना चाहिये कि गोरखनाथ का उद्देश्य ब्रह्मपदोपलब्धि रहा है चाहे उसमें चमत्कारों की कितनी ही प्रधानता रही हो। "उन्होंने अपने बहुत से आध्यात्मिक सबत रहस्यात्मक शैली या उलटबांसियों तथा विचित्र रूपकों में दिये हैं जोकि सर्व-सामान्य जनता के हेतु बोधगम्य नहीं हैं और जब तक उन रहस्यात्मक शैली का परिचय प्राप्त न हो तब तक उलटबांसियों और उन विचित्र रूपकों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता।" इन उलटबांसियों और रूपकों के अनेक उदाहरण कबीर आदि सत्ता की वाणी में दृष्टिगोचर होते हैं।

इस विवेचन में कबीर की उलटबांसियों की परंपरा का ज्ञान तो हो जाता है किन्तु 'उलटबांसी' शब्द की व्युत्पत्ति अभी तक अंधकार में है और न अभी तक यह पता चल सका है कि इस शब्द का प्रचलन कब से हुआ है। गोरखबानी में 'उलटी चरवा' का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'उलटी' शब्द हमारे बहुत काम का है। हो सकता है कि कहीं इसीके आसपास हमारा विवेच्य शब्द 'उलटबांसी' छिपा हो। कुछ लोगों ने इसे विपर्यय' अथवा 'उलटी' मात्र नाम भी दिया है। इन शब्दों से 'उलटबांसी' के भीतर छिपा हुआ उद्देश्य तो प्रकाशित हो जाता है, किन्तु इसके उत्तरार्द्ध की छाया हाथ नहीं आती। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'कबीर साहित्य की परख' में इस शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। उन्होंने इसे एक स्थान पर 'उलटा' एवं 'अश' इन दो शब्दों

१. दुर्गाशंकर मिश्र—भक्तिकाव्य के मूल श्लोक, पृष्ठ ६१

२. परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १५१

से मिलकर बना कहा है। यहाँ 'उलटा' शब्द तो सार्थक है, किन्तु 'अ-बासो' जैसे बना होगा, यह बात कुछ अधिक दूर खिंची हुई लगती है।

श्री चतुर्वेदी जी का एक दूसरा अनुमान और है। वेक होते हैं—“बाँसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'बाँस' शब्दा द्वारा मान कर भी किया जा सकता है, जिस दशा में उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ रचना में अनुमार होगा जिसका बास (पार्श्व भाग अथवा अंग) उलट विपरीत ढंग का पाया जाये।”

मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—एक 'उलटवाँ-सी' समुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवास' से सबधित। पहले 'उलटवाँ' का अर्थ 'उलटी हुई' है और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव 'उलटवाँ-सी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होनेवाली उक्ति'। उलटवाँ-सी उलटी बातें कही गई हैं, इसलिए यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। गणनाथ का 'उलटी चर्चा' और कबीर का 'उलटा वेद' आदिक प्रयोग इस अर्थ में भी समर्थन करते हैं।

दूसरी व्युत्पत्ति कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है और वह है 'उलटवाँ' शब्द से। 'परमपद' या अर्ध्यात्म-लोक में रहने वाले का निवास वास्तव में 'उलटवास' है। इससे सबधित वाणी 'उलटवासी' वाणी कहला सकती। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक-विपरीत अनुभूतियाँ होती हैं और उन अनुभूतियों का व्यक्त करनेवाली वाणी लोक-दृष्टि से उलटी प्रतीत होती है, वास्तव में वह उलटी नहीं होती। इस शब्द में 'बा' के ऊपर तो सामुनासिकता पड़ती है वह अकारण है।

इस व्युत्पत्ति से हमारी दूसरी समस्या नहीं सुलभ पाई। इस शब्द का प्रयोग कब से होने लगा, हमारे सामने यह एक प्रश्न है। इस शब्द का कबीर से पहले का नहीं मान सकते। यह शब्द कबीर से पहले का न

१. परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परब, पृष्ठ १५२

२. देखिये, कबीर अथावली, पृष्ठ १४१, पद १६०

सकता क्योंकि पहले का होने पर कबीर की वाणी में कही न कही इसका उपयोग होता अथवा अन्यत्र यह शब्द मिलता । जब इन शब्द का प्रयोग कबीर वाणी में भी नहीं मिलता तो अवश्य ही इसका जन्म कबीर के बाद में हुआ है और वह भी किसी ऐसे व्यक्ति की वाणी में जिसने इसका अभिप्राय समझा हो । बहुत संभव है कि यह शब्द बहुत प्राचीन न हो क्योंकि बाद के सतों ने भी इसका प्रयोग नहीं किया ।

जो हो इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर की उलटवाँसियाँ सिद्धों की परंपरा की उलटवाँसियाँ नहीं हैं । अधिकांशतः उनमें औपनिषदिक परंपरा की उलटवाँसियाँ हैं जिनमें आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यजना है और जिनमें कही-कही प्रेम और दर्शन का भी सुमिलन हुआ । इस शैली का इतिहास तीन प्रकार की प्रवृत्तियों का परिचय देता है—आनुभूतिक अभिव्यजना की प्रवृत्ति, धर्मकार-प्रवृत्ति एवं गोपन प्रवृत्ति ।

आनुभूतिक अभिव्यजना की प्रवृत्ति वेदों में ही चली आ रही है । धीरे-धीरे इसका विकास भी होता रहा है । धर्म की सत्प्रवृत्ति के रूप में धार्मिक प्रभाव के उत्कर्ष में इसका बहुत बड़ा योग रहा है । कबीर-वाणी में इसी प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है —

‘एक अचभा देखा रे भाई,
ठाठा सिंघ चरावं गाई ॥
पहलै पूत पोछं भई भाइ,
चेला कं गुरु लागै पाइ ॥
जल की मछली तरवर ब्याई,
पकडि बिलाई मुरगं खाई ॥
बंलहि डारि गूनि घरि थाई,
कुत्ता कू लंगई बिलाई ॥
तति करि साज्जा ऊपरि करि मूल,
बहुत भाति जड लागे फूल ॥
कहै कबीर या पद कौं ब्रह्मं,
ताकू तोन्युं त्रिभुवन सुभ्रं ॥’

य उक्तियाँ कबीर की गहरी अनुभूति का परिचय देती हैं। इनको पढ़ने और समझने से ऐसा नहीं लगता कि कबीर कुछ छिपाना चाहते हैं और न ऐसा ही लगता है कि कबीर को अपने ज्ञान का गर्व है। जहाँ गर्व-मा लगता है वहाँ भी वास्तव में गर्व नहीं है। उनकी गहन अनुभूति जब उद्गीर्ण होती है तब वह किन्हीं भी शब्दा में निकल पड़ती है और उद्गारों की गहनता का प्रभाव भाषा पर ही नहीं श्रोता या पाठक पर भी पड़ता है। निम्नलिखित उदाहरण आनुभूतिक उद्गारों की गहनता और उनके प्रभाव को व्यक्त करता है—

कसे नगरि करों कुट्यारी,
चचल पुरिष बिघपन नारी ।
बेल बियाइ गाइ भई बाभ,
बजरा इहै तीग्य सांभ ॥
मरुडी घरि भापो छछिहारी,
मांस पसारि चीन्ह रखवारी ॥
मूसा खेवट नाव बिलइया,
मोंडक सोबं साँप पहरइया ॥
नित उठि स्थाल स्पघ सू भूँक,
वहै कबीर फोई बिरला बूँक ॥”

इस पद को पढ़-भुनकर मिद्ध देष्णेषा की उक्ति का स्मरण आ जाता है। जिस प्रकार वहाँ गर्वोक्ति या चुनौती थी, उसी प्रकार यहाँ भी दोख पड़ती है किन्तु दोनों पदों की अन्तिम पंक्तियों की ध्यानपूर्वक तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चर्यापद में चुनौती की प्रवृत्ति है जबकि कबीर के पद में सत्य की दुरुहता की आर सकेत किया गया है।

ऐसी बात नहीं है कि कबीर-बाणी में गर्वोक्ति की गंध नहीं आती, अवश्य आती है और वह भी उलटवासियों और कूटा में प्रधानता से, किन्तु वे गर्वोक्तियाँ हैं

१. कबीर ग्रथावली, पद ८०

२. देखिय, चर्यापद ११

नहीं क्योंकि वे गर्व से प्रेरित नहीं हैं। वास्तव में वे प्रेरित हैं सत्य से और उनमें उसी की प्रखरता है, उसीका तेज है। उसीके कारण उनमें गर्व की गंध प्रतीत होती है। जिस प्रकार सत्य में अविनय नहीं होता उसी प्रकार भय भी नहीं होता। विनय और अभय, दोनों ही कबीर-वाणी के भूषण हैं। इसी से उनके अभय में अविनय नहीं है और न उनके विनय में भय है। इसका मुख्य प्रमाण है उनकी उलटवांसियाँ जिनमें गोपन-प्रवृत्ति का अभाव है।

सिद्धों की उलटवांसियों में गोपन की प्रवृत्ति होने से भय और आश्चर्य प्रमाणित हो जाते हैं। ऐसी बात नहीं थी कि सिद्धों की दुर्बलता दूसरों को ही दुर्बलता प्रतीत होती थी क्योंकि वे उनकी साधना के रहस्य को नहीं समझते थे वरन् सिद्ध भी अपनी साधना की दुर्बलताओं को समझते थे। इसीलिए अपने बहुत से रहस्यों का उद्घाटन नहीं करना चाहते थे और गोपन को भी इसीलिए प्रोत्साहित किया गया था। गोपन की प्रवृत्ति ही तांत्रिकों की उलटवांसियों के मूल में है। तांत्रिक लोग भी अपनी साधना के प्रत्येक पक्ष को, उसके गुण-दोष को समझते थे। फलतः वे नहीं चाहते थे कि वह संबंधोपगम्य हो। इसीसे उनके सम्प्रदाय में गोपन-शैली का प्रचलन हुआ।

उलटवांसियों के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति चमत्कार-प्रवृत्ति रही है जिसका प्रादुम्भिक स्वरूप 'अद्भुत' के सचर के लिए प्रकट हुआ था। उपनिषदों तक में इसी 'अद्भुत' की भाँकी दिखाई देती है। बाद में 'अद्भुत' चमत्कार में परिणत होने लगा। सिद्ध और तांत्रिक ही नहीं, जैन और नाथ तक भी चमत्कार-प्रवृत्ति से अछूते न रह सके। परिणाम यह हुआ कि भाव या प्रभाव के लिए नहीं वरन् भ्रम में डालने के लिए भी उलटवांसियों-जैसी रचनाएँ प्रयुक्त होने लगीं। इसमें सन्देह नहीं कि नाथों ने गोपन से कहीं दूर उलटवाणी को चलाया, जिसमें आध्यात्मिक रहस्य भी निहित था किन्तु उनके कूटों में चमत्कार की प्रवृत्ति स्पष्ट है। कहीं-कहीं इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार मत्तो तक की वाणी में हो जाता है और तो और कहीं-कहीं तो कबीर-वाणी तक में इसकी भलक मिल जाती है जिसकी सत्ता कबीर के जँमे सरल और स्पष्ट व्यक्तित्व में एक आश्चर्य की बात है।

कबीर की उलटवांसियों में कभी-कभी 'बूझै' अथवा 'बूझहु' तथा 'बिचारै' जैसे शब्दों के प्रयोगों से उनके सही मूल्यांकन में बाधा हो सकती है

श्रीर उनके सत्रध म अनक मत बनाय जा सकते हैं । मर्म ज्ञान के अभाव मे कोई उनकी भाषा को 'सन्ध्या' या 'सधा' भाषा कह सकता है, कोई उनको कूट सज्ञा द सकता है श्रीर कोई पहेली या मुकरी तक यह सकता है । श्री परशुराम चतुर्वेदी न ठीक ही कहा है कि आभिप्रायिक वचना के समान दीख पडने के कारण वे कभी-कभी विविध पहलिया के रूप धारण कर लेती हैं ।^१ एक उदाहरण दक्षिये—

एक सुहागिन जगत पिघारी,
सगले जीव जत की नारी^२ ।^३

देखने म ऐसा प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ के पीछे कोई चीज छिपी हुई है जो प्रसंग या रूढ अर्थ से ही प्रकाश म आ सकती है । कही-कही ऐसा भी प्रतीत होता है कि कबीर ने पारिभाषिक शब्दा की पैठ लगा कर अपनी उक्तिया को कूट बना दिया है श्रीर इस अंश से उन्हें 'दृष्टिकूटो' की परंपरा मे रख दिया जाता है—

'गज नव गज दस गज इषकीस, पुरी आये कतनाई ।
साठ सूत नव कठ बहुतर पाटु लगे अधिकाई^४ ॥'

क्या वास्तव म य पक्तिया इन पक्तिया की परंपरा म निभ सकती हैं ?

"हरिरिपु अनुज बास कोवा (रा) तल बए सरीर हभारा ।
खटपद बटुरयु सुभ्रगरि धनि सोबर सुभ्र कर धारा ॥"

अथवा सूर के इस कूट क शाय रख सकते हैं ?

'ऊधो इतनो मोहि सतावत ।
फारी घटा देखि बादर की दामिनि चमकि डरावत ।
हेमसुतापति को रिपु व्यापं बधिसुत रथ न चलावत ।
अनू खडन शब्द सुनत ही चित चकृत उठि धावत ॥

१ परशुराम चतुर्वेदी—कबीर साहित्य की परना, पृष्ठ १५६

२ कबीर ग्रंथावली (परिक्षिप्त), पृष्ठ २८०, पद ८४

३ कबीर ग्रंथावली (परिक्षिप्त), पृष्ठ २८१, पद ५६

४ विद्यापति की पदावली पद ३८५ -

कचनपुर-पति को जो आता ते सब बलहि न आवत ॥
 शम्भु-मुत को जो वाहन है कुहकै असत सलावत ।
 यद्यपि भूषण भग बनावत सोइ भुजग होइ धावत ॥
 सूरदास विरहिन अति व्याकुल लगपति चटि किन आवत ॥”

विद्यापति-पदावली और मूरसागर के अद्वैतरणों को देखकर तथा उन्हें कबीर की उक्त पक्तियों के साथ तोलने पर भेद नमस्क में आ सकता है। पदावली और मूरसागर के उद्धरणों में भाव के ऊपर बुद्धि का आसन जमा हुआ है किन्तु कबीर की उक्ति में बुद्धि के तल पर भाव की धारा सी बह रही है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं है कि कबीर की जिन उक्तियों को कूट-परंपरा में रखा जाता है वे वास्तव में उनमें फिट नहीं बैठती। यह ठीक है कि उनके शब्दों में एक पारिभाषिक अर्थ अवश्य निहित है जो 'नव गज, दस गज' आदि में प्रकट होता है किन्तु वह मानसिक व्यायाम कराने के लिए नहीं है, अनुभूति की समीचीन अभिव्यक्ति के लिए है। अभिव्यक्ति की ओर कबीर का ध्यान रहा है, वह अपेक्षित हो गयी है, बस उममें कूट का इनना सा लक्षण आ गया है। कबीर की शुद्ध उलटबासी का लक्षण इससे भिन्न है। (१) उसके वाच्यार्थ में विरोध निहित रहता है और उसका परिहार संकेतित अर्थ से होता है। (२) साथ ही उससे किसी अलौकिक तथ्य का प्रवादान होता है। इस निष्कर्ष पर 'नव गज' आदि को शुद्ध उलटबासी भी नहीं कहा जा सकता।

वैसे कबीर के समय में कूटों का भी बहुत प्रचलन था। घाटवी शताब्दी से ही मानसिक व्यायामों को प्रोत्साहन मिलने लग गया था और अभिव्यक्ति सरल शैली को छोड़ कर बक्रता के क्षेत्र में उतर आयी थी। कूटों की मूल प्रेरणा धर्म की गोपन-प्रवृत्ति से आगे साहित्य तक में पहुँच गयी थी। भागवत में कूटों का अभाव नहीं है। सिद्धों की तो पहले ही चर्चा की जा चुकी है। 'चमत्कार' का उल्लेख करते हुए नाथों के सबब से भी कूट शैली की ओर

सकेत बिया जा चुका है। विद्यापति ने ही नहीं, जैन कवियों ने भी कूटो को बहुत प्रोत्साहन दिया। हिन्दी-कवियों ने बाद में तो कूटो या दृष्टकूटो को बुद्धि की परीक्षा का एक माध्यम ही बना लिया जिससे सूर ही नहीं, तुलसी तक अछूते न बच सके। शृगारी कवियों की वाणी में गोपन की प्रवृत्ति के कारण भी कूटोदय हुआ। कबीर के आम-पास विद्यापति जैसे शृगारी कवियों की वाणियाँ भी गूजती थी और नाथों की वाणियाँ भी। कबीर का लक्ष्य न तो कविता करना था और न चमत्कृत करना। कबीर की वाणी में शृगार भी उद्बलित हुआ है किन्तु शृगार के लिए नहीं, वरन् शान्त के लिए जिसमें कई स्थलों पर अद्भुत का पुट भी लगा हुआ है। अतएव जिन स्थलों पर कबीर-वाणी में कूट-लक्षण मिलते हैं वहाँ भी उनका लक्ष्य 'कूट' नहीं है। कबीर अपनी अनुभूति के लिए अपनी वाणी को दासी बनाने की चेष्टा नहीं करते, वरन् उसके प्रकाशन के निमित्त वह स्वयं दासी बन जाती है। वह 'स्वतंत्र दासी' है इसलिए उस पर कबीर का अकुश भी नहीं है और न शायद उत्तपर अकुश रखने की उन्होंने चेष्टा ही की है। इसी कारण उनकी वाणी को आलोचना के 'सर्वोक्ति', 'रवड छन्द' आदि अनेक प्रहार सहने पड़े हैं।

कूटा और पहेलियों के अतिरिक्त कबीर के समय में 'मुकरियाँ' भी प्रचलित थी। अमीर खुसरो की मुकरियाँ इसका प्रमाण हैं। कबीर ने कुछ बातें मुकरियों के ढग की भी कही हैं जिनको न तो हम उलटबाँसी कह सकते हैं, न मुकरी ही। एक उदाहरण देखिये—

“कुअटा एक पच पनिहारी,
दूटी लाजु भरै मतिहारी।
कहु कबीर इक बुद्धि बिचारी,
नाऊ कुअटा ना पनिहारी” ॥”

यह मुकरी तो इसलिए नहीं है कि इसका उद्भव विनोद की भावना में नहीं हुआ। पहेली और मुकरी में प्रतीकोपयोग होते हुए भी वह 'उलटबाँसी' के मर्म को धारण नहीं कर सकती। पहेली और मुकरी में एक बौद्धिक समस्या

होती है किन्तु यहाँ एक रहस्य है जो एक कुअटा', पच पनिहारी', 'लाज' (रस्मी) आदि प्रतीका के पीछे निहित है।

अतएव प्रतीको के प्रयाग के कारण हम कबीर की उलटबांसियों को उनकी अन्य सभी प्रकार की कृति से अलग करके देखना होगा। जहाँ साधनात्मक अथवा अध्यात्मविषयक अनुभूति नहीं है अथवा जहाँ विरोधाभास नहीं है वहाँ हम उलटबांसियों की खोज नहीं करनी चाहिये। जहाँ मूना हस्ती सौ लडै', 'उलटि मूसै सापणि गिली',^१ अथवा चीटी परबत उपराया ले राख्यो चौडे'^२ आदि उचितया है वही उलटबांसिया भी हैं क्योंकि इनमें साधनात्मक अनुभूति के साथ-साथ ऐसी प्रतीक-पद्धति है जिसमें विरोधाभास है।

रचना की दृष्टि से भी कबीर की उलटबांसिया कई प्रकार की हैं। एक प्रकार की तो वे उलटबांसिया' हैं जो पूरी रहस्यमयी हैं। जैसे—

'है कोई जगत गुर ग्यानी, 'उलटि वेद बूझै ।
पाणीं में प्रगति जरै, अघरे कौं सुभै ॥
एकनि दादुर खाये पच भवगा ।
गाइ नाहर खायौ काटि काटि अग ॥
बकरी विघार खायौ, हरनि खायौ चीता ।
कागलि घर फादियां, बटेरे बाज जोता ॥
मूसै मजार खायौ, स्यालि खायौ स्वाना ।
आदि कौं आदेश करत, कहै कबीर ग्याना' ॥'

१ कबीर ग्रन्थावली, पद १६१

२ कबीर ग्रन्थावली; पद १६१

३ कबीर ग्रन्थावली, पद १६१

४ कबीर ग्रन्थावली, पद १६०*

चित्र प्रस्तुत करने में भी बड़े सहायक होते हैं। इसीसे कबीर को सूक्ष्म अनुभूतियों के व्यवहृत करने में भी सफलता मिली है। यह दूसरी बात है कि वे दुर्बोध हो गयी हैं। दुर्बोधता का कारण भी प्रतीक ही हैं। सामान्य लोक और जीवन से शब्दों को उठाकर कबीर ने उन्हें अर्थव्यक्त भावा की सेवा में नियोजित किया है। उनकी सेवा में कोई दूषण नहीं है किन्तु सेवक-सेव्य के संबंध को समझने की क्षमता तो होनी ही चाहिये। कबीर लोक-जीवन का पूर्ण अनुभव कर चुके थे और यही से उन्होंने अपने शब्दों को चुना और उनमें स्वतंत्रों के प्राण भरकर अर्थव्यक्त और अलौकिक को लोक-कल्पना के समक्ष प्रस्तुत किया।

वैसे तो कबीर की वाणी का प्रमुख आधार ही प्रतीक हैं किन्तु उलट-वांसियों के तो वे अनन्याय्य हैं जिनमें अनेक अलंकार भ्रूकृत हुए हैं। यो तो अनेक अलंकार उलटवांसियों को सुशोभित कर रहे हैं किन्तु जो रत्न बनकर उनको प्रभावित कर रहे हैं वे हैं विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, अनवति और अधिक। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब विरोधमूलक अलंकार हैं। उलटवांसी में किसी न किसी विरोधमूलक अलंकार का होना आवश्यक है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१. विभावना—

‘बिन मुख छाड़ करन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै ।

× × ×

बिनहीं ताला ताल बजावै, बिन मदल पटताला ॥

बिना चोलनै बिना कचुकी, बिनहीं सग सग होई ।

दास कबीर और भल देख्या, जानैया जन बोई ॥”

२. अनुभव—

“दैन बियाय गाय भई बाभ,

बछरा दूहे तीनो साभ ॥”

१. कबीर प्रथावली, पद १५६

२. कबीर प्रथावली पद ५० ९ -

३ असंगति—

“आगनि वेनि अकास फल ।
अणव्यावण था दूध’ ॥”

४. अधिः—

“जहि सर घडा न दूबता, अय भंगल मलि मलि न्हाय ।
देवल बूडा वलसत सू, पलि तिसाई जाय’ ॥”

५ विषम—

“आकासे मुलि आंधा कुआ, पाताले पनिहारि’ ॥”

६ विरोध और विशेषोक्ति का संकर—

“ठाढा सिंह चरावं गाई’ ॥”

कुछ आलोचकों का ऐसा विचार है कि उलटबासियों में अनिवार्य रूप से रूपक-शैली होती है, यह भ्रम है। उलटबासी में रूपक हो सकता है। किन्तु वह अनिवार्य नहीं है। उदाहरण के लिए हम नीचे लिखी उलटबासी को ले सकते हैं—

“पहले पूत पोछे भई भाद, चेला कं गुर लागे पाइ ।
जल की भछली तरवरब्याई, पकडि बिलाई मुरगे खाई ।
बैलहि शरि गूनि घरि आई, हुत्ता कू लंगई बिलाई’ ॥”

इसमें रूपक-शैली का कोई आश्रय नहीं दीख पड़ता। यह पहले ही बताया जा चुका है कि उलटबासी अनिवार्यतः विरोधमूलक एवं प्रतीक-प्रधान होती है।

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १२६

२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १७-७

३. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १६-४५

४. कबीर ग्रथावली, पद ११

५. कबीर ग्रथावली, पद ११

जिस प्रकार यह कहा जाता है कि सूरदास का विषय-क्षेत्र सकुचित है उसी प्रकार कुछ आलोचक कबीर के विषय क्षेत्र को भी दार्शनिक एवं समाज की आलोचना से सबधित बहकर सकीर्ण कह देते हैं किन्तु जिस प्रकार सूर के उपमानों से दोष का परिहार हो जाता है उसी प्रकार कबीर के उपमानों से भी हो जाता है। मनोलोक और अध्यात्म-लोक की अनुभूतियों को प्रतीकों में भरकर कबीर ने जो करामात दिखाई है उसे देखकर दग रह जाना पड़ता है। जायसी और तुलसीदास जैसे दिग्गजों ने भी शब्दान्तर से कबीर की अनेक उक्तियों को दुहराया है।

समाज के सबध में अपनी गहन अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना कबीर ने अनेक स्थलों पर की है अथवा यह कह देना अनुचित न होगा कि दर्शन और प्रेम की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को कबीर ने सामाजिक पहलू में समझाने की चेष्टा की है। एक उदाहरण देविषे—

“सुरत डीकुली लंज ल्यो मनसा डोलन हार।
कँवल कुआ में प्रेम रस पोबै बारबार” ॥”

इस साखी में डीकुली यत्र वा चित्र प्रस्तुत करते हुए ‘सुरत’, ‘लज’, ‘मन’, ‘कमल रूप’ और ‘प्रेम रस’ का सबध भी प्रकट कर दिया है। एक ओर आध्यात्मिक अनुभूति को सामने ला रखा है और दूसरी ओर सामाजिक व्यापार की एक छोटी-सी भाकी प्रस्तुत की है। ऐसी भाकिया कबीर की उलटबांसियों में बहुत आई हैं और उनमें अपना रस और अपना मर्म है।

“कैसे नगरि करौ कुटवारी भादि” पद को देखकर यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि कबीर की उलटबांसियों का एक एक प्रतीक अपने मर्म के लिए अनिवार्य है। प्रतीकों के पीछे छिपा हुआ अर्थ उद्घाटित होने पर जीवन और माधना सबधी अनुभूतियों के रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है। “इस पद में कबीर किसी ऐसे नगर की रक्षा अथवा शासन का प्रश्न उठाते हैं जहाँ का पुरुष तो चञ्चल स्वभाव का है, किन्तु उसकी नारी बुद्धिमती है और

जहाँ की विचित्रता इस बात में देखी जाती है कि वहाँ पर प्रत्येक दिन सियार सिंह के विरुद्ध लड़ाई छेडा करता है, किन्तु स्वभावतः कृतकार्य नहीं हो पाता।" इसमें नगर, पुरुष और नारी का रहस्य उद्घाटित हो जाने से हम मानव, मन और मनसा (वामना) तक जा पहुँचते हैं। फिर 'स्याल' को 'जीव' रूप में और 'स्यध' को काल रूप में प्रकट होने में देर नहीं लगी। इस प्रकार कबीर अपनी उलटबासियों में कभी-कभी जीवन की मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर भी दृष्टि करने लगते हैं। जीवन और जगत् के पारस्परिक और अन्तर के अनुभवी सोधी कबीर ने सामान्यतः अपनी सभी उक्तिपत्रों में बुद्धि और भाव के क्षेत्र का पर्यटन किया है किन्तु उलटबासियों में उनका जो अद्भुत सामजस्य हुआ है वह हिन्दी साहित्य को एक अपूर्व अनुदान है। उसका महत्त्व इसलिए भी है कि उत्तर-कालीन सन्तों के लिए कबीर ने एक प्रशस्त मार्ग तैयार कर दिया।

उलटबासियों की परंपरा आगे भी चलती रही और कबीर की उलटबासियों के अनुकरण में अन्य सन्तों ने भी रचनाएँ की और उन्होंने उनका अपनी-अपनी इच्छा से नामकरण किया। सुन्दरदास ने उनको 'विपर्यय' कहा, शिवदयाल ने उन्हें 'उलटी बात' नाम दिया, और तुलसी साहब ने उनको 'उलटी रीति' कहा। बँगला भाषा में भी ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई जो विशेषतः गोरख-पथ से संबंधित है और उसके पद्यों को 'गोरखधरे' की संज्ञा मिली। 'उलटा मंत्र' और 'उलटा बाउल' नाम भी बंगाल में ऐसी ही कृतियों के लिए प्रयुक्त हुए। उलटी बात कहने की पद्धति लोक-काव्य और लोक-जीवन तक में अपना घर कर गयी है और 'गधा न कूदा कुंदी गौन' जैसी अनेक कहावतों में आ रही हैं।

कबीर का प्रगतिशील दृष्टिकोण

आधुनिक प्रगतिवाद से परिचित पाठक कबीर से प्रगतिशीलता का सबंध सुनकर चौंक सकते हैं किन्तु लेखक कबीर को इस प्रगतिवाद में कदापि सबंधित नहीं करना चाहता जिमने मार्क्स आदि से प्रेरणा ली है और जो प्रगति के नाम पर झड़कर बैठ गया है। प्रगति का तात्पर्य प्रेरणा या गति में सबंध रखता है। कबीर के समय में जो स्थिति थी वह किसी प्रेरणा या गति की अपेक्षा रखती थी, यतएव कबीर ने अपने युग को जो प्रेरणा दी उसमें किसी मार्ग पर चलने का संकेत, उपदेश और आग्रह था। इसीसे कबीर की वाणी में प्रगतिशीलता के लक्षण मिलते हैं।

आज के प्रगतिवाद ने जो वेश भूषा धारण कर रखी है उसको कबीर के समय में देखना व्यर्थ है। कबीर का युग आज के युग से भिन्न था, उसकी अपनी परिस्थितियाँ थीं। फिर भी कबीर की प्रगतिशील वाणी का जो लक्ष्य था वही लक्ष्य आधुनिक प्रगतिवाद के स्वर में भी निहित है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक प्रगतिवाद ने लक्ष्य के अनुकूल मार्ग या साधन न अपना कर अपने लक्ष्य को भी भुला दिया है और शायद वह सन्धन को ही लक्ष्य मान कर भ्रान्त हो गया है।

प्रारम्भ में प्रगतिवाद 'प्रगतिशील' शब्द की स्थापना के माथ जिस रूप में आविर्भूत हुआ था उस जैसा ही कुछ रूप कबीर की वाणी में मिल सकता है। आधुनिक प्रगतिवाद कुछ सामाजिक सिद्धान्तों की धारा पर बन कर पुष्ट हुआ, इसमें तो संदेह करने की कोई बात नहीं है। अपने मौलिक रूप में इनका लक्ष्य स्वस्थ था, जिसमें समाज के विकलांग के उपचार की भावना थी। पतित को उठाना और प्रगति को गति देना—इसकी साधना का प्रधान लक्ष्य था। समय

उस साधना और लक्ष्य की मांग कर रहा था। इसी की पूर्ति के लिए कुछ युग्मनीपियो ने, कुछ साहित्य-सधियो ने उन लोगो के उत्साह में अपना योग दिया जो किसी राजनीतिक सिद्धान्त से प्रेरित हुए थे।

कबीर भी ऐसे ही युग में उत्पन्न हुए थे जो अपनी रूढियो में घुट रहा था और जिसकी स्थापनाआ और मान्यताआ में दम और अधविश्वास का खोखलापन निहित था। कबीर अन्दर और बाहर का सामजस्य चाहते थे वे नही चाहते थे कि लोग करे कुछ और कहे कुछ। इसीलिए उन्हे कहना पडा—

'कबीर काजी स्वादि बनि, ब्रह्म हतं तब दोइ ।
चडि मसीति एकं कहै, हरि बयूं साचा होइ' ॥'

कोई धर्म भूठ बोलना नही सिखलाता है और जो भूठ बोलना सिखलाता है, वह धर्म नही है। धर्म का आचरण से कोई सबध अवश्य है किन्तु जिससे आचरण का समझौता नही वह कैसा धर्म। जो प्रार्थना सत्य को भूठ के गतें में धकेलती है वह कैसी प्रार्थना। इसीलिए कबीर कहते हैं—

साचं मारें भूठ पडि, काजी करं अकाज ।
यहु सब भूठी बदिगी, बरिया पत्र निवाज' ॥'

उस समय जो सधर्प समाज में चल रहा था उसकी भयकरता को कबीर भलीभांति समझ चुके थे और वे उसके कारणो को भी खोज चुके थे। मार्क्स ने तो 'भौतिक अर्थवाद' में सामाजिक सधर्प के कारणो की खोज की, किन्तु कबीर ने सधर्प के कारणो में धर्म-विविधता को प्रमुख ठहराया। इसीलिए उन्होने एक 'प्रगतिमय पथ' का नुभाव दिया—

"कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राह चलि भाई ।
हिन्दू तुरक का करता एक, ता गति लखी न जाई' ॥"

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४२-६

२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४२-५

३. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १०६-५८

कबीर ने उन आचारों की निन्दा की जिनमें धर्म की कोई प्रकृति निहित नहीं है और जहाँ प्रदर्शन को ही धर्म मान लिया गया है—

करता बीसैं कौरतन, ऊँचा करि करि तउ ।
जाणै बूभे कुछ नहीं, योहौं आषा रु ड' ॥'

जिस वर्णाश्रम धर्म ने महात्मा बुद्ध को ग्रहिणात्मक क्रान्ति की ओर प्रेरित किया था उसी ने कबीर को भी किया, किन्तु कबीर के युग में धर्मापता के साथ धर्म-विविधता बढ़ कर कैरान हो गयी थी। इस्लाम ने भारत में कबीर के समय में जो स्थिति प्राप्त करली थी, बुद्ध के समय किसी विदेशी धर्म ने वैसी स्थिति प्राप्त नहीं की थी। इसलिए यहाँ के प्राचीन धर्मों के लिए उसके साथ समझौता करना एक समस्या थी फिर भी समझौता अनिवार्य था। इसलिए कबीर को इन प्रस्तुत करते हुए कहना पड़ा—

'इनके काजी मुला पीर पैकबर, रोजा पछिम निवाजा ।
भक्त पूरब दिसा देव विज पूजा, ग्यारसी भग दिवाजा ॥
तुरक मसीति देहुरे हिन्दू, दहू ठा राम खुदाई ।
जहा मसीति देहुरा नाहीं, तहा काकी ठकुराई ॥
हिन्दू तुरक दोऊ रह तूटी फूटी अरू कनराई ।
अरघ उरघ बसहू दिस जित तित, पूरि ह्या राम राई' ॥'

विविध धर्मों में धार्मिक कट्टरता जितनी कठोर थी उतनी ही भयकर भी थी। उस कठोरता और भयकरता को मिटाने में अवश्य ही तत्कालीन प्रगति निहित थी। उन ग्रन्थविश्वासों और हठदियों को मिटाने में भी प्रगति निहित थी जो मानव को मानव से मिलने में बाधा डाल रही थी। जितना भयकर हिन्दू-मुसलमान का भेद भाव था उतना ही भयकर ब्राह्मण और क्षत्र का भेद भाव भी था। यह भेद भाव समाज को न केवल दुबल बना रहा था बल्कि गतिहीन भी कर रहा था। इससे न केवल समाज का एक अंग दुबल एवं निश्चेष्ट हो रहा

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ३८-५

२. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १०६ १८

आश्रम प्रमुख गुरुगण अग भीरुमानवित गुरु संदुबंन हो गहा था । इसके घातक प्रभाव का बर्बाद का शीघ्र बर्षी मरणा श्रोत्र धोम में देसु रही थी । उन्होंने न केवल बर्षी य प्राणम्य भी नो पटवारा बर्षी हेयना की भावना से पोठित शूद्र को भी जगाया श्रोत्र परा—

एक शूद्र एक मल मूत्रर, एक चाम एक गूदा ।
एक जाति में सब उत्तपनी, वीन चाहून वीन सुदा ॥”

आ शाय वरुण और सायम के बाह्याचार या वेद को महत्व देकर उनकी प्रकृति की भुंन चंटे में उतरा कबीर ने आड़े हाथ लिया । इसके अतिरिक्त धिरीही ही या यताया य गिरारण के लिए और कोई चारा भी नहीं था । मुंडे गूदा उर मन्वासी बनने वालों की कबीर ने पटवारा और कहा—

“वेतां गहा बिगाड़िया, जं मुंडे सो पार ।
मन की पाटे न मूंडिए, जाम बिपबिकार ॥”

इतना ही नहीं, नाशमभी को पारण भी बताये और केशो की बात को धाने बहाया । उन्होंने कहा कि वेता के मुडाने से कोई लाभ नहीं है । वेदा मुंडाने का कोई मनु । स पारी नहीं बन सवता क्योंकि सन्यास वेद से सर्बधित नहीं है, या से सर्बधित है । जब तक मन को गही मूडा जायेगा, उसे बस में नहीं किया जायगा, सब तक सन्यास साथव नहीं ही सवता । यह समस्त दूषण मन में भरे है और इही को दूर करने के लिए सन्यास लिया जाता है, केश मुडाने के लिए नहीं । इसलिए वे वेदा मुंडाने वालों को समझावर कहते हैं—

‘मन मन्वासी मूडि ले, वेतां मूडे फाइ ।
जं कुछ बिमा सं मन दिया, वेतां कीयर माहि ॥”

इसी प्रकार बहून से लोग मूर्ति-पूजा जो ही धर्म मान बैठे थे । वे नहीं समझी थे कि जगता धम ध्ययं हो रहा था । जड की उपासना में कबीर को

१. कबीर प्रभावली, पृष्ठ १०६-१७

२. कबीर प्रभावली, पृष्ठ ४६-६२

३. कबीर प्रभावली, पृष्ठ १६-१३

मूर्खता के सिवा किसी तत्व का दर्शन नहीं हो रहा था। पत्थर-पूजा घनान-प्रेरित आशाओं की वृद्धि करती है जिनकी सफलता की कोई सभावना दिखायी नहीं देती। भला उस पत्थर से किसी सहानुभूति की क्या आशा की जा सकती है, जो जन्म भर पूजने पर भी उत्तर नहीं देता। फिर प्रस्तरपूजक पानी को भी व्यर्थ क्यों खोता है—

“पाहन कू का पूजिए, जे जनम न देई जाव ।
आधा नर आसामुयी, योही खोबै प्राव” ॥”

मन की भ्राति के निवारण से ही शीलता प्राती है, सालिग्राम की सेवा से शान्ति नहीं मिलती। इसमें न तो सहानुभूति है और न कोई शक्ति है। इसीलिए कबीर कहते हैं—

“सेबै सालिग्राम कू, मन की भ्राति न जाइ ।
सीतलता मुनिं नहीं, दिन दिन अघकी लाइ” ॥”

इसी समय कबीर के सामने एक और भी प्रश्न था और वह यह कि अघविश्वासियों ने ईश्वर की सत्ता केवल मंदिर-मस्जिद में ही मान रखी थी। मैं समझता हूँ कि कबीर को यह मानने में कोई अपत्ति न होती कि परमात्मा मंदिर-मस्जिद में भी है किन्तु वे यह मानने के लिए अद्यापि तैयार नहीं थे कि वह केवल मंदिर-मस्जिद में ही है। इसके अतिरिक्त मंदिर-मस्जिद का भेद-भाव भी दोनों धर्मों के बीच की खाई को पाटने वाला नहीं था। यही विचार कर कबीर ने कहा—

“कबीर दुनिया देहरं, सीस नवावण जाइ ।
हिरदा भोतरि हरि बसे, नू ताही सी ल्यो लाइ” ॥”

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर ही परमात्मा की खोज करने लगे तो बाहरी भेद-भाव मिट जायेंगे और मन को एकाग्रता और शान्ति प्राप्त होगी। इसी आशय से उन्होंने बाजी को मन्वोधन करते हुए कहा—

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ४४-३

२. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ४४-६

३. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ४४-११

“पढ़ि ले काजी बंग निवाजा ।

एक मसीति दसो दरवाना ॥

मन करि मका कचिला करि देही, बोलनहार जगत गु येही ।
उहा न बोजग भिस्त मुकामा, इहा ही राम इहा रहिमाना' ॥”

जो लोग अपने आचरणों को नहीं संभाल पाते क्या वे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं ? यह प्रश्न किसी भी विचारक के सामने आ सकता है । कबीर ने देखा कि लोग एक ओर तो धर्म की दुहाई देते हैं, पूजा का नाम करते हैं और दूसरी ओर मास-मदिरा का खुल कर प्रयोग करते हैं । इन आचरणों का मन से सबध है । जो लोग भ्रमभयाभक्ष खाते हैं वे अवश्य ही इन्द्रिय-तोनुप हैं, इच्छाम्रो के शिकार हैं और मनोभ्रम से पीड़ित हैं । निस्सन्देह वे पापी हैं और धर्म की आढ म पाप करते हैं । उनको मुना कर वे बोले—

“पापी पूजा बसि करि, भये मास मद बोइ ।

तिनकी दष्या मुकति नही, कोटि नरक फल होइ ॥”

ऐसे लोग न केवल दूसरों को भ्रम में डालने का प्रयत्न करते हैं वरन् स्वयं भी भ्रम में पड़े हुए हैं । धर्मसमन्वय का ढोंग करके कुछ ऐसे धर्म भी उस समय प्रकट होने लगे थे जो हमरों को धोखा देकर अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए एकत्र होते थे । कबीर ने ऐसे धर्मों की भी खबर ली—

“सकल बरण इकत्र ह्यै, सकति पूजि मिलि छाहि ।

हरिदासनि की भ्राति करि, केवल जमपुर जाहि ॥”

इच्छाम्रो के दाम, वासनाओं से पीड़ित साधु-नाम-धारियों की वेश-भूषा को देख-देख कर भी कबीर को बड़ा क्षोभ हुआ । उन्होंने देखा कि उनका वेश जो साधुओं का सा था और आचरण असाधुओं के से । वे खा-पीकर मस्त रहते

१. कबीर प्रयावली, पृष्ठ १०७-२१

२. कबीर प्रयावली, पृष्ठ ४३-१३

३. कबीर प्रयावली, पृष्ठ ४३-१४

धे और चैन की बशी बजाते थे। ऐसे साधुओं की कबीर ने बड़ी भक्तना की—

'स्वाग पहरि सौरहर भया लाया पीया पूबि ।
जिहि सेरी साधू नोकले सो तो मल्ही मूदि' ॥

इतना ही नहीं कबीर न ऐसे लोगों की अपाधुता और घूतता की भी भक्तना की। उहोन कहा—

कबीर भेष अतीत का करतूति करै अपराध ।
बाहरि बीसै साध गति माह महा प्रसाधे ॥

वे लोग बेश भूषा से साधु दीख पडते थे किंतु मन में कुछ और ही थे। वे भीठा बोलते थे किंतु थे पक्के घूत। इसलिए कबीर ने उनके सवध में सचेत किया और समझाते हुए कहा कि वे उज्ज्वल बेषधारी एवं मधुरभाषी लोग बड़े पतित एवं कुकर्मी हैं और दूसरों को धोखा देकर कुछ भी अर्निष्ण कर सकते हैं। अतएव वे अविश्वसनीय हैं—

'उज्जल देरि न धीजिये बग ज्यू माडै ध्यान ।
धोर बैठि चपेटसी य ले बूडै ग्यान' ॥'
जता भीठा बोलणा, तेता साध न जाणि ।
पहली थाइ दिताइ करि ऊड देसी आणि ॥

इन सब बातों के अतिरिक्त कबीर की प्रगतिशीलता इस बात में निहित थी कि वे उन लोगों को भी चेतावनी देकर तथा नभाल कर सुमान पर नार्थें जो धन, धान और धरु के ऐश्वर्य में मदविह्वल होकर मानव को भूल बैठे थे जो मानव को तुच्छ एवं हेय समझते थे। इस पथ को प्रगस्त करने में कबीर को महा की वैराग्य परंपरा से बनी सहायता मिली किंतु उस युग में इस पथ

१ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४६ १५

२ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४६ १

३ कबीर ग्रथावली पृष्ठ ४६ २

४. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ४६ ३

को कबीर के पद चि हो न हा विगप रूप से पशस्त किया । नीचे लिखा साखियो स कबीर के दृष्टिकोण का अनुमान उगाया जा सकता है—

कबीर कहा गरबियाँ, ऊँचे देखि अवास ।
 काल्हि परगु भव लेटना, ऊर्पर जान घास' ॥
 कबीर कहा गरबियाँ चाम पलेटे हड ।
 हवर ऊपरि छत्रसिरि ते भी देवा खड' ॥
 यहू एसा समार है, जसा सबल फूल ।
 दिन दस के योहार कौं, भूठ रमिन भूलि' ॥

इस प्रकार कबीर का वाणी चाह आधुनिक प्रगतिवाद के कटहरे में टोक न बैठती हो किन्तु वह प्रगतिशीलता के सम्पूर्ण गुणों से जो उस समय अपक्षिण थ विभूषित है । यदि आज का तथाकथित प्रगतिवाद कुछ सिद्धान्त का पिछलगू बन कर किमी अखाड़े में उतर आया है तो यह उसकी प्रेरणा का दोष नहीं है वरन् उसके मोड़ का—उसके रबंध का दोष है जिसको अपना कर उसने अपने मौलिक ग्रथ को अपने लसनऊ-अधिवेशन की घोषणा को भुला दिया है । कबीर का प्रगतिशील दृष्टिकोण साम्य के परिवेश में सुशोभित है किन्तु कबीर नय ग्रथ में तो प्रगतिवादी है और न उनके दृष्टिकोण में आधुनिक साम्यवाद का रूप ही दृष्टिकोचर होता है । आज प्रगतिवाद ने साम्यवाद से जो गठबंधन किया है उसमें वह अपने का खो बँटा है । साम्यवाद स्वतः बुरा नहीं है किन्तु साधन और लक्ष्य का समझौता न होने से उसमें बुराईयों का समावेश हो रहा है । इसलिए प्रगतिशील दृष्टिकोण ऐसे साम्यवाद का अवलम्ब लकर प्रगति की भूमिका पर नहीं ठहर सकता । यही कारण है कि प्रगतिवाद आज फशन बन कर रडियों की रयापना कर रहा है जिसमें समय की पुकार की उपेक्षा है ।

प्रगतिवाद का एक गुण यह होना चाहिये कि वह सकीणता का परित्याग करके मनुष्य की उदार भावनाओं को प्रोत्साहन दे किन्तु आज के प्रगतिवादी

१ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २१ १०

२ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २१ ११

३ कबीर ग्रथावली पृष्ठ २१ १३

साहित्य से ऐसे सँकड़ों उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनसे उनकी सकीर्णता प्रभावित होती है। यो तो प्रगतिवाद प्रारंभ से ही साहित्य में साहित्यिक लक्ष्य लेकर अवतरित नहीं हुआ था किन्तु जिन सिद्धान्तों के आग्रह ने वह साहित्य में उतरा था वे प्रगति के पथ से हट कर एक क्षेत्र विधेय में बंध गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग प्रगतिशीलता की दुहाई समाज और साहित्य, दोनों क्षेत्रों में देते हुए आये थे उनमें से बहुतों को तो उसके बनते हुए रूप को देख कर निराशा ही हुई। इसीमें उन्होंने तथाकथित प्रगतिवादियों का साथ छोड़ दिया क्योंकि वे प्रगतिवाद के उद्देश्य के समर्थक थे, उसकी किसी अखाड़े में सा खड़ा करने के समर्थक नहीं थे। उनका सामाजिक लक्ष्य उदार या और उसके साथ वे साहित्य का उदार समझौता चाहते थे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर की प्रगतिशीलता में मूलतः कोई साहित्यिक लक्ष्य निहित नहीं था, किन्तु भाषा के मबध में अपना मत देकर उन्होंने उसे लोकानुकूल बनाने की जो चेष्टा व्यक्त की है उसमें उनके दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता स्पष्ट है। 'संस्कृत जैसे कूप जल भाषा बहता नीर' कह कर कबीर ने अपने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जिस प्रकार बुद्ध और महावीर ने जन-भाषा को समाह्न किया था उसी प्रकार कबीर ने भी जन भाषा को सम्मानित किया था। जन-भाषा को आदर देने में कबीर के लक्ष्य की उदारता स्पष्ट है।

यह तो पहले ही मकेत किया जा चुका है कि प्रगतिवाद अपने उदार रूप में समाज के लिए प्रेरणा लाया है। उसने समाज की विकलता के कारणों का निवारण करके साहित्य के द्वारा समाज को आगे बढ़ाने की चेष्टा व्यक्त की है और सामाजिक संघर्ष के कारणों को द्वन्द्वात्मक अर्थवाद में देल कर समस्या के हल की ओर भी दृक्ष्पात किया है। इस लक्ष्य की ओर निस्सन्देह मार्क्स की प्रेरणाओं का महत्त्व नहीं भुलाया जा सकता। लक्ष्य की अच्छाहियाँ जितनी मोहक हैं उन्हीं के फलस्वरूप प्रगतिवाद ने साहित्य में इतनी प्रगति भी करली अन्वया साहित्य में कोई भी सिद्धान्त कला की उपेक्षा करके पनप नहीं सकता। तथाकथित प्रगतिवादियों के दुराग्रह से प्रगतिवाद न केवल अपने लक्ष्य से ही अष्ट हो गया अपितु एक राजनीतिक अन्वाडेवाजी में भी सम्मिलित हो गया है। आज प्रगतिवाद जिस क्षेत्र में आगया है उसमें कबीर के प्रगतिशील

दृष्टिकोण को खींचना व्यर्थ होगा। कबीर किसी सामाजिक अखाड़े के मल्ल नहीं थे। वे एक मन्त थे और वह भी सच्चं अर्थ में।

कबीर ने समाज में विषमता देखकर जो ध्याकुलता प्रकट की उसमें वरणा और क्षोभ, दोनों का समावेश है। वे समाज को वर्गों में विभक्त नहीं देखना चाहते थे और रूढ़ियों तथा अन्वमान्यताओं ने तत्कालीन समाज में जो विकलता पैदा कर दी थी, वे उसको दूर कर देना चाहते थे। समाज का अग्रभंगीकरण दूर होकर वह स्वस्थ बने, इसी के प्रति कबीर की कामना और चेष्टा थी और यही उनकी प्रगतिशीलता थी। कबीर जंझा कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति सामाजिक कुठारों में ऊबना पसंद नहीं कर सकता। रूढ़ियों की सडाँद में दम घुटने से ऐसा व्यक्ति न केवल स्वयं निकल भागने का उपक्रम करता है वरन् दूसरों को भी निकाल भागने की चेष्टा करता है। वे ऐसे साधुओं के बीच में अपने को बड़ा धुटा हुआ अनुभव करते थे स्वामित्व तो चाहते थे किन्तु स्वामी (गुरु) के गुरु नहीं रखते थे और जो लोभ, काम, वासना आदि से पीड़ित थे।

के सबंध में उन्होंने इतना कहा है जितना शायद कोई दूसरा नहीं था। देखिय—

'इहो उदर के कारणे, जग जाँच्यो निस जाम ।
स्वामी-पणों जु सिरि अडयो, सरधान एकोकाम' ॥"
"कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ ।
देहि परईसा व्याज कौं, लेखा करता जाइ' ॥"
'कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि धरो पटाइ ।
राज हुवारा यो किरं, ज्यू हरिहाई गाइ' ॥"
"स्वामी हूणा सीत का, पैकाकार पचास ।
राम नाम काठे रहया, करे सिवा की घास' ॥"

१ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३१-२

२ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३६-७

३ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३६-६

४ कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३५-४

इन शब्दों ने उन लोगों के दम और पाखंड की कलाई खोल दी है जो मन को बश में करने के स्थान पर उसका और ढील देते हैं, आशा और तृप्त्या के स्थान के स्थान पर उनको और बढ़ाते हैं और जो पचासियों सेवकों की सेवा से अपनी विलास-भावना को उत्तेजित करते हैं। कहने के लिए तो उनके कठ में राम-नाम भी रहता है किन्तु उनके स्वस्थ प्रभाव से वे बंचित हैं। उसका प्रभाव तो उन लोगों के अंतर पर होता है जो शुद्ध मन रखते हैं और जो आशा, तृप्त्या आदि से मुक्त हैं। उन्होंने अपने समय का एक चित्र-सा खींच दिया है। जिस प्रकार तुलसीदास ने उत्तरकांड में कलियुग के वर्णन में अपने युग का चित्र प्रस्तुत किया है उसी प्रकार कबीर भी कर चुके थे। कबीर के युग में सीधे सच्चे मनुष्यों को कोई पूछता भी नहीं था और आदर होता था ऐसे मनुष्य का जो लोभी, लालची और मसकरा होता था। कबीर अपने युग की इस दुर्बलता को न पचा सके और कहुवी वाणी में बोल उठे—

“कबीर कलि छोटी भई, मुनियर मिले न कोइ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकू आदर होइ” ॥^१

इसी प्रकार कबीर को उन लोगों को देख कर भी क्षोभ हुआ जो बरस भर पानी में नहा कर मुक्ति की कामना करते थे। कर्म उपहास की बात है कि लोगों ने मुक्ति को इतना सस्ता समझ लिया था कि पानी में नहा कर और राम रटकर ही उसको उड़ा लेना चाहते थे। कबीर को उनके प्रयत्नों की व्यर्थता पर खीझ पैदा हुई और कहने लगे—

“तोरथ करि करि जग मुवा, डूय पाणी न्हाइ।
रामहि राम जपंतडा काल घसीटया जाइ” ॥^२

सच तो यह है कि यथाव्यवशी कबीर ने अपने समय की किसी दुर्बलता को अछूता नहीं छोड़ा, किन्तु उन दुर्बलताओं में से अधिकांश धर्म के किसी न किसी पहलू से सबंध प्रवश्य रखती थी। हम यह अन्यत्र देख चुके हैं कि वैष्णव

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३६-७

२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ३७-१८

धर्म के प्रति कबीर की बड़ी श्रद्धा थी किन्तु उमेक्षा वे उसकी दुर्बलता की भी नहीं कर सके। वे जानते थे कि वैष्णवों की भक्ति साधना में कुछ विशेषताएँ हैं किन्तु यदि छापा-तिलक लगा कर ही कोई वैष्णव बन बैठा है और उसमें विवेक नहीं है तो दुखा से मुक्ति नहीं हो सकती। इस तथ्य को प्रकाशित करते हुए उन्होंने वैष्णवों के भी कान खोल दिये—

‘बैसनों भया तो का भया बूझा नहीं विवेक ।
छापा तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक ॥’

दम और पाखंड साधारण लोगों में या मूर्खों में ही होता हो, ऐसी बात नहीं है वरन् बड़े बड़े पौर और महान्त लोग भी उनसे मुक्त नहीं हैं। ये लोग यात्रियों से मुख से भी नहीं धोखते, उनका अहंकार इस सीमा पर पहुँच जाता है। कबीर की यथाथवादी प्रकृति इस तथ्य को भी छिपा नहीं सकती और वे एक एत्के व्यंग्य में कारण भी और सबैत करते हैं—

हज काबं हूँ हूँ गया, कौतो बार कबीर ।
भौरा मुन्ह में क्या खता, मुखाँ न-बोलै-पीर ॥’

एस ही अनेक उद्धरण कबीर की वाणी से दिय जा सकते हैं जिनसे कबीर की यथाथवादिता और प्रगतिशीलता का सकत मिल जाता है। चाहे कबीर के दृष्टिकोण में आज का प्रगतिवाद भले ही न मिले किन्तु आधार-भूत भावनाएँ ऐसी ही थीं।

यहाँ यह नहीं भुलाया जा सकता कि प्रगतिवाद की आधारभूमि यथार्थ में निहित हाती है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में जो प्रगतिवाद विकसित हुआ उसका मूल बीज यथाथवाद में दृष्टिगोचर होता है। यथार्थवाद का सबंध दश-काल की रीति-नीति और उनके सबंध में कवि या लेखक की प्रतिक्रिया स है। यथाथवादी साहित्यकार समवालीन जीवन की भूमिका का पयटक होता है। वह विषमता के कारणों का ध्यानपूर्वक सकलन करके और

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ४६-१६

२. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ८५-६

उनमें अपनी प्रतिक्रियात्मक भावनाओं का पुट देकर जो अवतार तैयार करता है, साहित्यालोचक उसी को 'यथार्थवाद' की अभिधा प्रदान करता है। जब यथार्थवादी अपनी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति कटुता के धरातल पर करने लगता है तब वह कभी-कभी प्रति 'उग्र' हो जाता है। इस धरातल पर वह सामाजिक कुत्साओं और विपमताओं की बड़ी कटु आलोचना करता है—इतनी कटु कि वह निन्दा के क्षेत्र से भी दो कदम आगे बढ़ कर भर्त्सनाओं में प्रवेश कर जाता है।

कोई भी कवि अपने युग की आलोचना में प्रवृत्त हो सकता है और उसमें उसकी प्रतिक्रिया भी समाहित हो सकती है। तुलसीदास के 'कलियुग-वर्णन' में समय की भ्रांती और उनकी अपनी प्रतिक्रिया, दोनों का पुट है। वह समय की भ्रांती भी अच्छे-बुरे, दोनों पक्षों को लेकर नहीं की गयी, वरन् कवि की दृष्टि दोष-दर्शन पर ही रही है अतएव उस स्थान पर तुलसीदास का दृष्टिकोण यथार्थवादी है, किन्तु उसमें भी उनका लक्ष्य आदर्शों पर निहित अवश्य रहा है जिसका अनुमान पूर्ण ग्रन्थ से ही हो सकता है, केवल 'कलियुग-वर्णन' से नहीं।

इस दृष्टि से कबीर तो कुछ और भी बड़े-बड़े यथार्थवादी हैं। उन्होंने देश-काल की दुर्बलताओं को समाज में ताड़व तथ्य करते देख कर न केवल करुणा व्यक्त की है, वरन् क्षोभ भी व्यक्त किया है और समाज की उन दुर्बलताओं को उन्होंने बड़ी द्वेष दृष्टि से देखा है। उनकी वे कटु निन्दा और कही-कही तीव्र भर्त्सना भी करते हैं। जहाँ वे निन्दा से भर्त्सना पर उतर आते हैं वही वे प्रति उग्र हो जाते हैं। इसमें सदेह नहीं कि उस भर्त्सना के पीछे उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण भी छिपा हुआ है। फिर भी वे कटु आलोचक हैं, प्रति उग्र हैं, इस तथ्य से आँखें नहीं मोड़ी जा सकती।

यथार्थवादी जब समाज के दुर्बल पक्ष को सामने लाकर रुढ़ि-खडन और प्रगति की रेखाओं से चित्र प्रस्तुत करता है तबमें किसी पक्ष का संकेत भी मिल सकता है जिसका लक्ष्य सामाजिक प्रगति होता है। ऐसे ही चित्रों में प्रगतिशील दृष्टिकोण उभरता है। जब लेखक या कवि का दृष्टिकोण किसी आदर्श

की ओर प्रेरित होता है तो वहाँ आदर्शों-मुख यथार्थ की सीमाएँ निर्मित हो जाती हैं। इन सीमाओं के निर्धारण में किसी मान्यता का योग रहता है।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि आदर्श की स्थापना में साहित्य अतीत से प्रेरणा लेता है किन्तु वह नये मापदण्ड भी प्रस्तुत कर सकता है। प्रसाद ने 'स्कन्दशुप्त' में जिस आदर्श को प्रतिष्ठित किया है उसको उन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास से लिया है किन्तु 'श्रद्धा' में नारी का जो रूप प्रकट हुआ है वह आदर्शवाद और प्रगतिवाद का एक समझौता दीखता है।

कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण में यथार्थवादी कटुता तो है ही, किन्तु कहीं-कहीं आदर्शवादी प्रस्ताव भी हैं। यह ठीक है कि कबीर किसी ऐसी मान्यता के पक्ष में नहीं हैं जिसके सबंध में कोई दो मत हो। कबीर के आदर्शों की रेखाएँ यद्यपि उनकी अपनी बनायी हुई ही अधिक हैं और वे इस दृष्टि से कि 'विधिवत्' वे विधिवत् 'एक' करने में उनका अपना प्रयत्न है। उन्होंने अनेक धर्मों में से सार लेकर जो पथ तैयार किया है वही कबीर-पथ है और उसी में हम उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण आदर्शों के साथ मिल-बैठा दीख पड़ता है। वे आचरण के सबंध में भी कुछ सीमाएँ नियत करते हैं जो अवश्य ही आदर्शों की सीमाएँ हैं और वे किसी भक्त या सन्त के आचरण की ओर इंगित करती हैं। जयदेव, नामदेव आदि भक्त कबीर के आदर्शों हैं और आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी याणी में उन्हीं का प्रकाशन करते हैं।

यहाँ यह कह देना अप्रयुक्त न होगा कि जहाँ यथार्थवादी की भाँति कबीर ने समाज की दुर्बलताओं का भडा फोडा है वहाँ प्रगतिवादी की भाँति समस्या के नये हल की ओर भी सचेत किया है और वह हल धर्म की परिधियों से अलग नहीं होता। फिर भी कबीर का धर्म किसी भी साम्प्रदायिक सकीर्णता से दूर रहने की सदैव चेष्टा करता है। वह मानवमात्र का धर्म बनाने का अविचारी है क्योंकि उसमें सार-संग्रह है। उसमें उन मान्यताओं को कोई स्थान नहीं दिया गया जिनका 'अतिवाद' के नाम से हेय समझा जाता है। 'श्रुतिवाद' का विसर्जन ही तो कबीर के पथ को 'मध्य मार्ग' कहलाने की योग्यता प्रदान करता है।

यहाँ भी कबीर का प्रगतिपरक दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनकी प्रगतिशीलता की सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि उन्होंने ईश्वर की जो कल्पना की है वह किसी भी धर्म में सम्मान पाने के योग्य है। यह बात दूसरी है कि आज का प्रगतिवाद, जिमने साम्यवाद की नयी परिमितियों में धर्म की ही उपेक्षा नहीं करदी, अपितु ईश्वरवाद को ही अपदस्थ कर दिया है, उसको स्वीकार न करे।

कबीर ने सब धर्मों को एक धरातल पर लाने के लिए ही नहीं बरन् एक बनाने के लिए जो प्रयत्न किये उन सबका मबध ईश्वर से है। इसी प्रकार मानवमात्र में एकता लाने के उपयम में भी उन्होंने ईश्वर को ही प्रतिष्ठित किया है।

अतएव सामाजिक समता एव एकता के समग्र प्रयत्नों के परिवेश में ईश्वर की एकता का अनन्य योग है और इस भावतल पर भी कबीर की प्रगतिशीलता आदर्शवाद का पल्ला पकडती है। इसका परिणाम यह होषा है कि मनुष्य के आचरण का अतिम माँप-दण्ड समाज नहीं, ईश्वर बन जाता है। उस ईश्वर में कबीर न केवल मनुष्य का पितृत्व देखते हैं अपितु अन्य प्राणियों का पितृत्व भी देखते हैं। अतएव कबीर-वाणी में मानव-व्यवहार एव आचरण का क्षेत्र मनुष्य समाज ही नहीं अपितु निखिल चेतन विश्व है, यद्यपि कबीर सत्ता, बृक्षादि के प्रति भी कोमल भावनाओं की अभिव्यजना करते हैं। इस दृष्टि से कबीर की सहानुभूति मानव-समाज से आगे बढ़ कर समग्र प्राणि-लोक को अपना लेती है जबकि आधुनिक तथा कथित प्रगतिवादी मनुष्यमात्र को भी नहीं अपना सकता। आज का प्रगतिवादी सामाजिक अभेद-भाव की केवल घोषणा करता है और वह भी भेद दृष्टि में किन्तु कबीर व्यापक अभेद की सिद्धि अभेद-दृष्टि से करते हैं। प्रगतिवाद वर्गवाद के उच्छेदन का बीडा उठा कर भी वर्गवादी है किन्तु कबीर की प्रगतिशीलता में वर्गवाद के लिए कोई अवकाश नहीं है। कबीर की प्रगतिशीलता में मानवतावाद की मूल प्रेरणा है और उनका मानवतावाद ईश्वरवाद पर आधारित है। आज प्रगतिवाद मानवतावाद को प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहा है। इसका कारण है उसका अनीश्वरवाद की ओर झुकाव। मानवतावाद की प्रतिष्ठा अभेद-दृष्टि के बिना नहीं हो सकती और भेद-दृष्टि उस समय तक नहीं मिट सकती जबतक कि उस पर किसी एकता का आरोप न हो।

आधुनिक विज्ञान स्पुतनिक और राकेट के आविष्कार से किसी भी चमत्कार को रूप दे सकता है किन्तु वह दृश्यलोक के भेद को अभी तक तो नहीं मिटा पाया है और उसकी गतिविधि से ऐसा कोई संकेत भी नहीं मिल रहा कि वह मानव को एक सूत्र में बांध सकेगा। एकता का भाव लाने के लिए जिस प्रेरणा की आवश्यकता है उसका मार्गमार्ग और आधुनिक प्रगतिवाद, दोनों में अभाव है और जबतक वह प्रेरणा नहीं है तब तक कोई 'वाद' प्रगति के लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता। भौतिक प्रगति चमत्कार की किसी सीमा तक पहुँच सकती है। किन्तु वह मानववाद की प्रतिष्ठा नहीं कर सकती। क्या विश्वराज्य से मानववाद सुरक्षित हो जायेगा, ऐसी संभावना के लिए कोई आधार नहीं दिखायी पड़ता। मानववाद की पुष्टि और रक्षा एकत्ववाद में ही संभव है और मानववाद के बिना कोई वाद सदर्भ में प्रगतिवाद नहीं कहना सकता। यदि यह भी मान लिया जाये कि एकत्ववाद भावना की सृष्टि है तो भी उसकी अच्छाई को भुलाया नहीं जा सकता।

कबीर का ईश्वरवाद जिस अद्वैतवाद पर टिका हुआ है उसने एकेश्वरवाद को भी आत्मसात् कर लिया है। अतएव कबीर का ईश्वरवाद, भावना के माध्यम से ही सही, मानवमात्र को अपने से संबंधित करके एकत्व की प्रतिष्ठा करता है। वही ईश्वरवाद ज्ञान के क्षेत्र में भी सकल मृष्ट का विलय केन्द्र बन कर एकता का मूलधार बन जाता है। यह ईश्वरवाद कोई नई उद्भावना नहीं है किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण में और सामाजिक संबन्ध से उसके उपयोग में नवीनता अवश्य है। उपयोग ही नहीं, प्रभाव भी तत्कालीन परिस्थितियों में प्रगतिमूलक रहा, यह कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण की बहुत बड़ी विशेषता है।

अन्त में यह कह देना भी अयुक्त न होगा कि मनुष्य केवल बुद्धि-लोक में जीवित नहीं रह सकता, वह प्रायः भाव-लोक का निवासी है। कर्षण, कोप, लोभ, मोह, क्षमा, स्नेह, भय आदि भावों से उसका अद्रुत संबन्ध है। कबीर के प्रगतिशील दृष्टिकोण का संबन्ध बुद्धि और भावना, दोनों के समन्वय से है। आज का विज्ञान चाहे लाख प्रयत्न करे वह मनुष्य से उसकी भाव-सम्पत्ति का अपहरण नहीं कर सकता। चाहे वह हीरोशीमा को क्षण भर में ध्वस्त कर दे और चाहे चन्द्रलोक का राज्य प्राप्त कर ले, किन्तु हंसना-रोना उसको नहीं छोड़

सकता । प्रेम के लिए कम समय मिलने पर भी वह प्रेम को भुला नहीं सकता और प्राणों पर धीतने पर वह निर्भय भी नहीं रह सकता । इससे स्पष्ट है कि केवल बुद्धि-पक्ष मनुष्य की पूर्णता को सिद्ध नहीं कर सकता । दोनों ही पक्षों से पूर्ण मानव की सिद्धि होती है । कबीर ने इन दोनों पक्षों को ही अपना कर मानव-जीवन की कल्पना की है । इसमें सन्देह नहीं कि वे ज्ञान-ज्योति को महत्त्व प्रदान करते हैं, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि वे नाव-स्नेह को भी समुचित गौरव प्रदान करते हैं । वे मनुष्य का कल्याण ज्ञान और प्रेम के वियोग में नहीं, बरन् सयोग मानते हैं । यह मान्यता भले ही प्राचीन ही हो किन्तु समाज के साथ जिस प्रकार उन्होंने इसको संयुक्त किया है उसी में उनके दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता का महत्त्व मरा है ।



कवीर का रहस्यवाद

‘रहस्यवाद’ शब्द अंग्रेजी के ‘मिस्टिसिज्म’ का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी में मिस्ट शब्द का प्रयोग उस धार्मिक अभिप्राय के लिए होता है जो सामान्य पाठक की दृष्टि में नहीं आता। यह अर्थ उन्हीं लोगों को बोधगम्य होता है जिनको प्राध्यात्मिक अन्तर्ज्योति प्राप्त है। सबसे पहले बंगला ने मिस्टिसिज्म शब्द के अर्थ को अनुवाद-रूप में ग्रहण किया। बहुत दिनों तक वह अर्थ अपने मूल रूप में प्रचलित रहा। बाद में जब हिन्दी ने भी इसे अपनाया तो दो नामों के अन्तर्गत— एक रहस्यवाद और दूसरा छायावाद। हिन्दी में छायावाद को भिन्न अर्थ दे दिया गया जो किसी अर्थ में ‘रोमांटिसिज्म’ के अर्थ को धारण करता है। इस प्रकार हिन्दी में ये दो शब्द दो काव्य-धाराओं के लिए प्रचलित हो गये।

आलोचना के क्षेत्र में कुछ दिन तक तो इन दोनों शब्दों की बड़ी छीछालेदर हुई। इनके भिन्न-भिन्न अर्थ देने के लिए अनेक दिशाओं में आलोचकों की दिमागी कसरते हुई और अन्तर्गत की सीमा यहाँ तक पहुँची कि अस्पष्ट अर्थवाली कविता ही रहस्यवादी कविता कह डाली गयी। इस सब में और कुछ न कह कर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि यह आलोचना का ‘अतिवाद’ था। धीरे-धीरे रहस्यवाद की प्रकृति को समझा गया और पंडित रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अपने-अपने मत देकर विचार-परम्परा को प्रोत्साहित करने में साथ दृढ़ भी किया। रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ सामने आयी और अपने-अपने ढंग से वे सभी ठीक-सी लगती हैं, फिर भी उनमें पूर्णता का अभाव है और किसी भी परिभाषा में पूर्णता की आशा करना तो संभव है किन्तु पूर्णता की खोज करना व्यर्थ है अन्यथा ‘मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना’ का कोई अभिप्राय ही नहीं रहता।

मे ले जा सकती है और यह आवश्यकता हमारी आस्तिकता को और भी दृढ़ करती है। इस भव तूपा को नष्ट करने के लिए 'राम-रस' की आवश्यकता को कबीर इस प्रकार पुष्ट करते हैं—

“राम उदक जिह जन पिया तिह बहुरि न भई पियास”।”

कबीर भी यह आस्तिकता उनके प्रेम के लिए भूमि प्रस्तुत करती है।

जिम पाठक ने उनकी वाणी में बस उनके क्षुब्ध स्वरूप को ही देखा है वह उनके मुग्ध स्वरूप की कल्पना बदापि नहीं कर सकता। जिन्होंने कबीर को पूर्ण रूप में नहीं देखा वे ही उनको अन्तर में राम को खोजता हुआ देखते हैं और इस सर्दर्भ का भुला देते हैं कि वे ऐसा कब करते हैं और न वे लोग उनके 'लाल की लाली' को सबल छाया हुआ ही देखते हैं। यह ठीक है कि कबीर की वाणी में सर्वत्र एव भावुक का स्वर सुनायी नहीं पड़ता किन्तु, भावुकता उनमें ही नहीं, यह कहना कबीर के साथ अन्याय होगा। कबीर की वाणी में हृत्पाप भी है और सरमता भी, शोभ भी है और मस्ती भी, विरक्ति भी है और प्रेम भी। सामाजिक कुंसाधो और कुंठाधो के प्रति उनकी वाणी में तिव्रता मिलती है किन्तु ममता दया प्रेम आदि की खोज उसकी पृष्ठभूमि में की जा सकती है। मनोविज्ञानियों का कहना है कि सच्चे और स्पष्टवादी व्यक्ति की वाणी में तीक्ष्णपन का होना कोई अनहोनी बात नहीं है किन्तु उसके पीछे सरस भूमि अवश्य होती है और तीक्ष्णपन वही से प्रेरणा लेता है। मानव-कल्याण से अनेक प्रोत् कबीर का हृदय मानव प्रेम से भरपूर था, इसमें आश्चर्य की क्या बात है। कबीर के इस प्रेम की चरम परिणति विश्व-प्रेम में होती है। इसी कारण कबीर का राम व्यक्ति में भी है और समय अभिव्यक्ति में भी है—

‘दिल ही खोजि दिलें दिल भँतरि, इहा राम रहिमाना ।

जेती औरति मरदा कहिये, सब में रूप तुम्हारा’ ॥”

एक अन्य पद में कबीर ने अद्वैत की प्रतिष्ठा करके उसका आनन्दमूल कहा है और इस प्रकार अपने आकर्षण को व्यक्त किया है—

१ कबीर प्रथावली, पृष्ठ २७३-२६

२. कबीर प्रथावली, पद २५६

“आकास गगन पाताल गगन, दसों दिशा गगन रहाई ते ।
 ध्यानदमूल सदा परसोतम, घट बिनसं गगन न जाई ते ॥
 { हरि मं तन है तन मं हरि है, × × × ×' ।”

‘हरि मं तन है तन मं हरि है’ कहकर कबीर ने मानो गीताकार की वाणी को ही दुहराया है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीरकी आस्तिकता ने प्रेम को मनोहर भूमि प्रदान की है । उसी प्रेम पर कबीर की रहस्य-साधना का भव्य भवन बना है जिसका योगपरक रूप भी प्रेमविहीन नहीं है । बहुत ही कम ऐसे स्थल हैं जहाँ कबीर का साधनात्मक रहस्यवाद प्रेम को प्रक्षय नहीं देता । कबीर ने अपने ही शब्दों में अपने योग का सारा भेद खोल दिया है—

{ “सब जोगक्षण राम नाम है, जिसका पिछ पराना ।
 कहू कबीर जे किरपा धारे, देइ सचा नीसाना ॥”

कबीर योगी किसको कहते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं ; किन्तु उनकी योग-साधना में परमात्मा की सत्ता का प्रमुख स्थान है । जिस योगी की प्रशंसा गीता में की गयी है ऐसे ही योगी की सराहना कबीर करते हैं । कबीर की दृष्टि में योग की सारी चर्चा का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है और उसी से योगी का उद्धार होता है —

“पवन पति उनमनि रहनु खरा । नहीं मिसु न जनमु जरा ।
 उलटी ले सकति सहार । फंसी ले गगन मभार ॥”

× × ×

“जब कुंभकु भरिपुरि जीना । जब बाजे भ्रतहृद बीना ।

१ कबीर प्रभावली पद २६३

२ यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च न्यि पश्यति ।

तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्याति ॥—गीता, पृष्ठ ६-३०

३, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८-१४६

४. देखिये, गीता, पृष्ठ ६-२६

बकतै बकि सबद सुनाया । सुनतै सुनि माल बसाया ॥
हरि करता उतरसि पार । कहै कबीरा सार' ॥”

यह ठीक है कि कबीर ब्रह्म-द्रष्टा थे, किन्तु उन्होने ब्रह्म को स्वरूप में ही देखा था । वह उद्योतिर्मय है किन्तु मोहक भी, वह निर्गुण है, किन्तु अनुग्रही भी । उनका राम अवतार नहीं है, रग-रूप से युक्त नहीं है, फिर भी प्रिय है । वह भक्त-वत्सल और भक्ति-वश्य है । इसलिए उन्होंने कहा—‘जो लोग तर्क से तत्त्व की द्रैतता सिद्ध करना चाहते हैं उनकी बुद्धि मोटी है ।’ यहाँ यह भ्रम न हो जाना चाहिये कि कबीर की माधना में बुद्धि को कोई स्थान नहीं है । यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि कबीर प्रौढ बुद्धिवारी थे किन्तु लोक क्षेत्र में, समाज, धर्म आदि के सबध में, अपने प्रिय से मिलने में नहीं । वे तो अपने प्रिय (राम) को प्रेम-वश्य मानते हैं और वह प्रेम में ही जाना जा सकता है । उन प्रिय के लिए वे बड़े तड़पते हैं । ‘कव दैमू मेरे राम सनेही, जा बिनु दुख पावै मेरी देही’—कह कर कबीर ने न केवल अपनी विरह-व्याकुलता का ही परिचय दिया है, प्रत्युत राम की स्नेहीलता की ओर भी संकेत किया है ।

कबीर को यह विश्वास था कि राम के बिना वे अमहाय थे और यह जानकर उनका साहम उद्बुद्ध होता था कि वह प्रेम-वश्य है । इसीलिए उन्होंने हरि-प्रेम को इतना महत्त्व दिया है—

२- { “कबीरा प्रेम की फूल डरै ।
हमारै राम बिना न सरै” ॥”

इससे स्पष्ट है कि कबीर राम-प्रेम की ओर इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि राम प्रेम से वस में हो सकता है—वह राम जिसके बिना कबीर का निर्वाह कदापि नहीं हो सकता । उस रस को पीकर उनको जो उपलब्धि हुई है उसे वे

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८-१४५

२ कहत कबीर तरक दुइ सार्थ, तिनकी मनि है मोठी ।

—कबीर ग्रन्थावली

३ तुलना कीजिये, गीता पृष्ठ ११-५४

४. कबीर ग्रन्थावली, पद ११६

अन्य मनुष्यों को भी कराना चाहते हैं किन्तु खेद कि वे लोग प्रयत्नशील नहीं हैं—

{ 'दास कबीर प्रेम-रस पाया, पीवणहार न पाऊँ ।
विधना बचन पिछाणत नाहीं, कहू क्या काडि दिखाऊँ ॥'

प्रेम या भावना कबीर की आध्यात्मिक साधना का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण है । गीता में तो भगवत्प्राप्ति का मूलमंत्र ही प्रेम है किन्तु उपनिषदों ने भी प्रेम के महत्त्व का प्रतिपादन किया है । गीता ने भगवत्प्राप्ति के प्रमुख साधनों में भक्ति का अग्रद्वय समाविष्ट किया है और अथ सब साधन भी प्रेमपरिभूत हैं । कृष्ण की इस उक्ति से यह स्पष्ट है—

‘स्तवमंभृन्मत्परमो मद्भक्त सङ्गर्जित ।
निर्वैरं सबभूतेषु य म मामेति पाण्डव ॥’

कबीर को भी यह विश्वास हो गया था कि उनका राम प्रेम या भाव से हो प्राप्तव्य है । इसी कारण उनकी वाणी में स्थान स्थान पर भा या प्रेम की गरिमा का गान हुआ है । ‘बतुराई रीझं नही, रीझं मन कै भाइ’, कह कर कबीर ने भाव या प्रेम के गौरव को अभिव्यक्त कर दिया है । राम के प्रति कबीर का प्रेम-भाव ही उन्हें यह कहने के लिए प्रेरित करना है—

{ ‘पुर पाटण सुबस बसं, आनद ठायें ठाइ ।
राम सनेही साहिरा, ऊजंड मेरे भाइ ॥’

इसीलिए कबीर की दृष्टि में उस रानी का कोई मूल्य नहीं जो लौकिक भोग-विलास में तल्लीन है किन्तु वे उस पतिहारी की सराहना करते हैं जो राम-भक्त है—

१ कबीर ग्रन्थावली पद १६६

२ दक्षिण, कठापनिषद् पृष्ठ १-२-२३

३. गीता ११ ५५

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८ ४

५. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२-२

“बयूं नूप नारी नौबये, बयू पनिहारी कौं मान ।
धा माय सवारि पीव कौं, वा नित उठि सुमिरं राम ॥”

जिसको वास्तव में हम भक्त कह सकते हैं। वह अनन्य प्रेम के महत्त्व का ही प्रतिपादन करता है। नारद ने 'सा तु परमप्रेमरूपा' कह कर इसी 'अनन्यता' को प्रतिष्ठित किया है और महात्मा तुलसीदास के शब्दों में भी अनन्य प्रेम की याचना की गयी है। वे कहते हैं—

“कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरतर, प्रिय सागहु मोहि राम ॥”

कामी और लोभी का आकर्षण अटूट होता है। इसी अटूट प्रेम की याचना तुलसीदास के शब्दों में प्रकट हुई है। कबीर भी इसी प्रकार के अटूट प्रेम को पसन्द करते थे। इसीलिए नारी के प्रति कामी के सम्बन्ध की गहनता को वे राम के प्रति अपने सम्बन्ध में प्रतिष्ठित करने की बात पर जोर देते हुए कहते हैं—

“काम मिलावै राम सूं, जो कोई जानै राखि ।
कबीरा बिचारा क्या करै, जाको मुखदेव धोलै सावि ॥”

यह माना जा सकता है कि कबीर दाम्प्रत्यम-प्रेम पर विशेष जोर देते हैं किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे इस प्रेम की स्थिति प्रत्येक मानव हृदय में स्वीकार करते हैं। राम-प्रेम के लिए सात्त्विक हृदय की आवश्यकता है और यह सात्त्विक शुद्धता केवल प्रयत्नाश्रित नहीं है अपितु प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का योग भी होता है। इसी विद्वान्ताम को ध्यवत करते हुए कबीर कहते हैं—

“कुछ करनी कुछ करमगति, कुछ पुरबला लेख ।
देखी भाग कबीर का, दोसत किया अलेख ॥”

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३-६

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५१-११

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३

✓ कबीर की साधना में कर्म का एक विशेष स्थान दीख पड़ता है। अण्डरहिन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मिस्टिसिज्म' में 'रहस्य-साधना' के अन्तर्गत कर्म का विशेष विवेचन किया है। सभी रहस्य-साधन कर्म को महत्त्व देते हैं, किन्तु 'अनासक्ति' का निषेध करने हुए ही, क्योंकि कर्म में फलामक्ति आते ही वह दुःख-सुख का कारण बन जाता है जो भगवत्प्रेम की अनन्यता को बाधित करता है। इसीलिए कर्म पर ज़ार देते हुए भी कबीर की अनासक्ति स्पष्ट है—

“ना कुछ किया न करि सक्या, ना करणें जोग सरीर ।
जे कुछ किया नु हरि किया, ताथें भया कबीर कबीर” ॥”

इससे कबीर का दुहरा भाव स्पष्ट होना है—एक तो अनासक्ति भाव, और दूसरा ईश्वर की शक्ति, जिसमें उसकी कृपा का भी समावेश है। ईश्वर की शक्ति की अभिव्यक्ति कबीर-वाणी में एक अन्य स्थान पर और देखिये—

“साईं सू सब होत हं, बदे थं कुछ नाहि ।
राईं थं परबत करै, परबत राईं माहि” ॥”

कर्मों में अपनी शक्ति होते हुए भी भगवदिच्छा के सामने वे घुटने टिका देते हैं। इसीलिए अनासक्ति-भाव की आवश्यकता प्रकट की गयी है। जिस प्रेमोदय की चर्चा की जा रही है, उसमें भगवत्कृपा का अमोघ महत्त्व है। फिर भी प्रिय के मार्ग का जानना आवश्यक है और उससे भी पहले प्रेम की ज्वाला का जला देना भी जरूरी है। इस काम को गुरु ही सम्पन्न करता हैं। यह तो सभी जानते हैं कि रहस्य साधना में गुरु का विशेष स्थान है, किन्तु भारतीय भक्ति-पद्धति में तो और भी ऊँचा स्थान है। सत-मत ने गुरु को विशेष रूप से पुरस्कृत किया है। कबीर इस जीवन में प्रेम को एक अनिवार्य क्रीडा मानते हैं क्योंकि इसके बिना उद्धार नहीं है और प्रेम की बाजी में सफल होना सरल काम नहीं है। केवल वे ही लोग सफल होते हैं जो गुरु के बनाये हुए दाव को

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६१-१

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-१२

अच्छी तरह समझ कर चाल चलते हैं। यह दाव वह भाग है जिसे भुलाकर रहस्य साधक बाजी नहीं जीत सकता। इसीलिए कबीर बड़ी मुस्तैदी से कहते हैं—

{ * पासा पकड्या प्रम का, सारी किया सरीर ।
सतगुरु दाव बताइया, खेलै दास कबीर' ॥

प्रेम-मृज्जन प्रिय सदेश तथा प्रेम माग दान—य तीन प्रमुख काय कबीर ने गुरु से सम्बन्धित किये हैं। शिष्य में प्रेम को अकुरित करनेवाला गुरु ही है। अनन्त का साक्षात्कार करनेवाले अनन लोचन को गुरु ही खोलता है—

{ 'सतगुरु की महिमा अनन्त अनन्त बिया उपगार ।
लोचन अनन्त उघाडिया अनन्त बिलावणहार' ॥

प्रेम का अक पद कर गुरु अपने शिष्य को तैयार कर देता है। प्रियतम के सदेश को जानने के लिए आतुरता का उदय हो जाता है और फिर यह दशा हो जाती है—

{ विरहनि ऊभी पयसिरि पधो ब्रुभं पाह ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलंगे आइ' ॥'

इसी अवसर पर गुरु प्रियतम का सदेश-वाहक बन जाता है और परिणाम में प्रमोदवृद्धि होती है विरहाग्नि प्रबल होती चली जाती है तब स्पष्ट शब्दों में इस सदेश को भेजने लिए विवग होना पड़ता है—

{ प्रवेसआ न भाजिसी, सदेसो कहिया ।
कं हरि आयां भाजिसी, कं हरि ही पासि गया' ॥'

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४३२

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८५

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८६

जब मिलन की ये दोनों युक्तियाँ असफल दीख पड़ती हैं तब एक निराशा की वाणी फूट पड़ती है—

{ 'आइ न सकौं तुम्ह पै, सकू न तुम्ह दुलाइ ।
जियरा योही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ' ॥”

‘कामना’ और ‘मिलन’ की एकता की कुजो शुरु के पास है । गुरु ही तो शिष्य को अलौकिक सौन्दर्य की भावना से भर देता है और वही उसकी भक्ती दिनाता है और देखकर वह कहता है—

{ “कबीर देख्या एक अग, महिमा फही न जाइ ।
तेज पुज पारस धनी, नैनू रह्या समाइ” ॥”

उसके प्रभाव का कबीर इन शब्दों में वर्णन करते हैं—

{ ‘हरि सगति सीतल भया, मिटो मोह को ताप ।
निस बासुरि कुस निघ्य सह्या, जब अतरि प्रगटधा आय’ ॥”

इस स्थिति में गुरु के आभार को स्वीकार करते हुए कबीर कहते हैं—

{ ‘चिति पाईं मन फिर भया, सतगुर करी सहाइ ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरईं त्रिभुवन राइ” ॥”

राम के सम्बन्ध में जो सदश शिष्य को गुरु से प्राप्त होता है उससे एक ही साथ दो काम होते हैं—एक तो मल का निवारण होकर अन्तर ज्योतिर्मय होता है और दूसरे बिरह-व्यग्रता तीव्र होती है । कबीर इन दोनों को महत्त्व प्रदान करते हैं । सदेश का मूल्यांकन करते हुए वे कहते हैं—

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८-१० ।

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३८

३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३०

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४-२६

“जानी जानी रे राजा राम की कहानी ।
ग्रन्तर ज्योति राम परकासा, गुरमुख विरलै जानी ॥”

श्रीर विरह की प्रशंसा में वे कहते हैं—

“विरहा कहै कबीर सो, तूं जिनि छाड़ै मोहि ।
पार ब्रह्म के तेज में, तहा लै राखीं तोहि ॥”

कबीर की रहस्य-साधना का चौथा तत्त्व ‘मार्ग’ है श्रीर कबीर ने इस को ‘सहज मार्ग’ कहा है । कबीर का ‘सहज मार्ग’ उभ साधना का विरोध करता है जिसमें मनेक अप्राकृतिक उपायों से इन्द्रियो का दमन करने की चेष्टा की जाती है । कबीर की साधना ‘दमन’ को स्वीकार नहीं करती, ‘शमन’ चाहती है । इसीलिए वे कहते हैं—

“सहज-सहज सबको कहै, सहज न चीन्हें कोइ ।
पात्र राखै परसती, सहज कहींजें सोइ ॥”

‘सहज’ हरि-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है—

“सहज-सहज सबको कहै, सह जन चीन्हें कोइ ।
जिन्ह सहजें हरिजी मिलै, सहज कहींजें सोइ ॥”

कबीर का यह ‘सहज मार्ग’ प्रध्यात्म-मार्ग है । यह मार्ग अगम है । जहाँ मुनिजन^१ नहीं चल सके श्रीर जहाँ पवन एव मन^२ तक नहीं चल सकते, वह कबीर का मार्ग है । इस मार्ग में गिरने का खतरा है—

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६६

२. कबीर ग्रन्थावली (फुटनोट), पृष्ठ १२

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२-२

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२-४

५. कबीर मार्ग अगम है सब मुनिजन धँटे थाकि—

कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-८

६. मन पवन का गम नहीं तहा पहुँचे जाइ ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-८

तुषना करें—यतो वाचा निवर्तन्ते प्रप्राप्य मनसा सह—३५०

{ जन कबीर का सिपर धर, बाट सलैलो सैल ।
पावन टिक पिपोलका, लोगनि लादे बल' ॥

उस माग पर चलना कोई सहज काम नहीं है किन्तु अनन्य प्रेमियों के लिए यह कठिन भी नहीं है । जो गम्य को जानते हैं और जिनके पास प्रेम का सबल है वे ऐहिक अन्तरात्मा से घबरात नहीं हूँ और न व किमी पगडडी का सहारा लेने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि वहा कोई पगडडी नहीं पहुँचती । जो लाग पगडडिया खोजते हैं वे भ्रान्त हैं । वे अपने लक्ष्य को नहीं जानते ।^१ कबीर ने अपने माग को मध्यमाग भी कहा है । वे यह अच्छी तरह समझते हैं कि दो घाटा पर एक साथ सवार होना संभव नहीं है । जो लाग लोक-मार्ग और आत्म माग दोनों पर आरुढ़ रहना चाहते हैं वे नहीं पहुँच पाते, इसी सत्सार में डूब जात हूँ—

{ डूहु बहु भग सू लागि करि, डूबत है सत्सार' १”

विस माग को अपनाना चाहिये और क्या उसकी व्याख्या कबीर इन शब्दों में प्रस्तुत करत हूँ—

{ ‘कबीर दुविधा दूरि करि, एक भग हूँ लागि ।
यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये भागि’ ॥”

दुबल मनुष्य इस पर नहीं चल सकता । इसीलिए उपनिषद्^२ ने उसे चेतावनी दी है । इसी स्वर में कबीर ने आत्म-संबोधन करत हुए कहा है—

{ ‘कबीर हसणा दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त ।
बिन रोया बसू पाइये, प्रम पियारा मित्त’ ॥”

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१-३

२ देखिय मै० ब्र० उप० VI प्र० ३०

३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३१ १

४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ५३ १

५ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ५३ २

६ मुडकोपनिषद ३ २४ *

७ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६ २७ *

✓ प्रिय मिलन का मार्ग हँसी खेन नही है । प्रिय हँसने से नही मिलता ।
यदि वह किमी को मिला है तो रोनेवाले को—

{ 'हसि-हसि कत न पाइए, जिनि पाया तनि रोइ ।
जे हासे ही हरि मिले, ती नहीं दुहागनि कोइ' ॥'

जिन बाह्य मार्गों (उपायों) से मनुष्य उस प्रिय को गाजता है उनसे वह नहीं मिलता । कबीर का सहज मार्ग अंतर का मार्ग है जो दमन का मार्ग नहीं है शमन का मार्ग है । जब तक मन की भीतिक सत्ता रहती है तब तक सूक्ष्म मार्ग का निर्माण नहीं हो सकता । इन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में यह मन पल भर में करोड़ों कर्म करने की शक्ति रखता है । जो मन अपनी चंचलता की दशा में मनुष्य का नाशक होता है वही अपनी शान्तावस्था में परमात्म-स्वरूप हो जाता है—

{ 'मन गोरख मन गोबिंदो, मन हीं औघड होइ ।
जे मन राखे जतन करि, तौ प्रापे करता सोइ' ॥'

इस मन का शमन कबीर का मुख्य मार्ग है और यह शमन 'प्रेम' से बहुत सरल होता है । योग और ज्ञान को भी लोगो ने मन को शान्त करने का साधन माना है और कबीर भी उन साधनों का निषेध नहीं करते, किन्तु वे उन में प्रेम का समावेश आवश्यक मानते हैं । अतएव यह कहना ही अधिक समीचीन होगा कि कबीर मन को प्रेम में डुबा कर शमना करने की बात करते हैं । कबीर का विश्वास है कि दिव्य बिना मन मिलता नहीं है—

{ 'मन बीया मन पाइए मन बिन मन नहीं होइ ।
मन उनमन उस घड व्यू, अनल अकास जोइ' ॥'

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६-२६

२. कबीर ग्रन्थावली, पद ३१७

३. कोटि कर्म पल में करे, यहु मन विपिया स्वादि ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-१८

४. तुलना कीजिए— मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो—गीता

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-१०

५. देखिय, कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१२

६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८ ६

साधारणतया मन बड़ी सम्बन्धी-बन्धी छलांगें भर कर साधक के काबू से बाहर निकल जाता है, किन्तु कबीर उसे प्रेम में विभोर करके बशवर्ती कर लेते हैं—

{ 'पाणों हों तैं पातला, धूया हों तैं भीण ।
पवना बेगि उसावला, सो दोसत कबीर कीन्ह' ॥”

दोस्त होने पर अति चंचल वह मन विषया का आधार छोड़कर, निर्वृत्त होकर निराधार अवस्था में स्थिर होजाता है और वही साधन, साधक और साध्म एक रूप हो जाते हैं—

{ “मनवा तौ अघर बस्था, बहुतक भोणा होइ ।
आलोकत सबु पाइया, कबहू न भ्यारा सोइ” ॥”

यदि स्वयं ईश्वरार्थ में परिणत हो जाय तो समझना चाहिये कि मन का धामन हो गया या मन ईश्वर विभार हो गया । जब तक वह 'ममार्थ' में लगा हुआ है तब तक उसकी वृत्तिया का नाश नहीं होता । कबीर 'मम' की परिणति 'तब' में चाहते हैं और उमी परिणति में उनका न्यय निहित है । इसीलिए वे कहते हैं—

{ “झू मन मेरा सुभू सों, यों जे तेरा होइ ।
साता सोहा यों भिन्य, सधि न लखई कोइ” ॥”

कबीर के माधना-मय में परमात्मा के साथ मन को इस प्रकार मिलने की बात कही गयी है जिस प्रकार गर्म लोहे की सधि से सधि मिल जाती है कोई अन्तर नहीं रहता । इस स्थिति को वे प्रेमबिहीन नहीं मानते । जब मन की यह स्थिति होती है तब वह 'राम रस' से छका होता है और उसे रामेतर कोई भी वस्तु रुचिकर प्रतीत नहीं होती—

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-१२

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-१४

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८५ ७

। 'मन मतिवाला पीवं राम रस, बूजा कछू न सुहाई ।

× × ×

{ दास कबीरा इहि रसि माता, कबहू उछकि न जाई ॥"

कवीर के 'सहज मार्ग' में 'जाप' का भी स्थान है किन्तु उम्र जाप का नहीं जिसे सब 'जाप' कहते हैं। कवीर का जाप तो 'अजपा जाप' है जिसमें न माला होती है न जीभ हिलती है, किन्तु 'प्रत्येक श्वास प्रश्वास' में 'अजपा' की लहर उठती है। अजपा में मुरति का योग रहता है।

मन के दो मार्ग हैं—अधोगमन और ऊर्ध्वगमन। अधोगति की दशा में वह वामनाश्री में दीटता फिरता है और ऊर्ध्वगमन की दशा में वह वामनाश्री को छोड़ देता है क्योंकि उसके गले में प्रेम की रस्ती बँध जाती है जो उसे ईश्वरान्भिमुख खींचती रहती है। चरमान्नल दशा में मन ईश्वर रूप होजाता है और उस समय वह प्रेमी, प्रिय और प्रेम से अभिन्न हो जाता है।

रहस्य साधना की प्रेरणा में सुख दुःख का भी बहुत बड़ा हाथ है। आत्म-प्रकाश की स्थिति में दुःखों के प्रागमन में सुखित दिखायी पड़ती है। दुःखगम को साधक बाधा नहीं मानता, अपितु परमात्मा का धरदान मानकर अपने प्रेम को अधिकाधिक दृढ़ करता है। साधक दुःख में अपनी परीक्षा के रूप को देखता है और बड़ी दृढ़ता से उसका सामना करता है। वह दुःख सुख में निरिप्त होकर आनन्दमय रहता है—

{ 'दुखिया मूवा दुख को, सुखिया सुख को भूरि ।
सदा अनदी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ॥"

कोई भी हलचल, कोई भारी क्षति अथवा कोई भी अप्रत्याक्षित हर्ष साधक को प्रेरणा तथा प्रकाश देते हैं। इन्हीं विषम क्षणों में परमेश्वर की शक्त दिखायी देती है और भक्त अपने आपको कृतकृत्य मानता है। बनेट का कहना ठीक ही है कि 'जिसको हम जीवन में दुःख कहते हैं वह हमारा इष्टि-

१. कवीर ग्रन्थावली, पद ७४

२. कवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४-८

कोण है, वस्तुतः दुःख नाम की कोई वस्तु है नहीं।" मंडम ग्रयन निर्धनता को घरदान मानती थी। उनका कहना था कि "निर्धनता" और धनि आनन्द-स्वरूप हैं। बुलाई ही भलाई को खाज कर लातो है। मधुर और बटु दोनो भरनो का एक ही ज्ञात है। देव और दानव दोनो का निवास परमात्मा में ही है, फिर एक से प्रेम और दूसरे से घृणा क्या ?"

वास्तव में समझना तो यह चाहिये कि द्वन्द्वों की सृष्टि समझते के लिए होती है। जो लोग समझता बरने क बजाय सुख में प्रसन्न और दुःख में खिन्न होकर बीच की खाई का चौड़ा कर देते हैं, वे भ्रान्त हैं। इसीलिए कबीर 'समता' या 'समसता' का उपदेश देते हैं—

{ 'सीतलता तब जाणिये, समिता रहै समाइ।
पय छाडे निरपय रहै, सबद न डूप्या जाइ' ॥"

उस समता की दशा में कबीर पर सुख-दुःख, शब्द बुशब्द आदि द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता। वे निर्लिप्त रहते हैं—

{ "कबीर सीतलता भई, पाया बह्य गियान।
जिहि बेसदर जग जल्प्या, सो मेरे उदिक समान' ॥"

कबीर मुक्ति की व्यवस्था आत्मा-परमात्मा के मिलन में करते हैं। उनकी दृष्टि में जीवन अविरल मरण है जबतक कि हम ईश्वर के सामने न आजायें। इसी से रहस्य साधक का प्रेम ब्रह्म के क्षणों में अधिक गभीर और प्रबल हो जाता है।

कबीर की वाणी में भावात्मक और साधनात्मक, दोनों स्वर भक्त होते हैं। कबीर की भावात्मक स्वर-लहरिया बड़ी तीव्र और गभीर है और उन्हीं में वस्तुतः सुन्दर कवि-वाणी का स्फुरण हुआ है किन्तु उनकी वाणी का साधना-

१. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ५३-१०

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३-३

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३-४

पक्ष भी अपनी विशेषता रखता है। उनको योग-चर्या परम्परागत नहीं है, उसमें अनुभववृत्त सशोधन है और वह प्रेम की धरा पर प्रतिष्ठित है।

भावात्मक साधना^१ के सूक्ष्म और स्थूल, दो रूप हैं। प० रामचन्द्र शुक्ल ने 'माधुर्यभाव' का सबध सूक्ष्म रूप से जोड़ा है जो उपयुक्त भी है। उन्होंने पिता, स्वामी आदि की सबध-भावना को स्थूल रूप के अतर्गत समाविष्ट किया है। भारतीय भक्ति-परंपरा में दोनों प्रकार की साधना की ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है किन्तु अधिक भुकाव दूसरे रूप की ओर ही रहा है, क्योंकि वैष्णवों की सगुणोपासना समष्टिगत ही रही है, यद्यपि निर्गुणोपासना की ओर भी उपनिषदों ने संकेत किया है। भागवत की भक्ति-पद्धति सगुणविशिष्ट होती हुई भी रहस्य-भावना की प्रेरक सिद्ध हुई, इसलिए भागवत से प्रेरणा लेकर यहाँ के कुछ भक्तों ने कृष्ण के लोक-सग्रही रूप के स्थान पर उन्हें प्रेम की मूर्ति बना लिया और उनकी भावना ऐकान्तिक हो गयी। इस पद्धति में गोपी-प्रेम का अनुकरण था जिसमें ऐकान्तिकता और स्वमाधुर्य का पुरस्करण था। प्रियतम के रूप में भगवान् की भावना भक्त के व्यक्तिगत सबध पर आश्रित होकर रहस्यात्मक रूप में प्रवृत्त हो गयी। फारस में प्रेमाश्रयी सबध-साधना का सूत्र प्रचलन हुआ। सूफियों ने इस पद्धति को पूर्ण प्रोत्साहन किया किन्तु उनकी साधना 'माधुर्यभाव' की साधना से कुछ भिन्न रही। 'माधुर्यभाव' की साधना में साधक 'विरहिणी' के रूप में अपनी व्यजना करता है किन्तु सूफी साधना में वह 'विरही' के रूप में ही प्रकट होता है। सूफी-साधना को वास्तव में विरह-साधना कह सकते हैं। इसकी विशेषता है विरह की तीव्रता। कबीर ने अपने में 'विरहिणी' का आरोप करके उनमें सूफियों की विरह-तीव्रता की प्रतिष्ठा करदी। कबीर-द्वारा प्रेरित 'माधुर्य भाव' की उपासना भारतीय भक्ति-परम्परा में भी समाविष्ट हो गयी। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी भक्ति मडली ने जिस मूर्च्छा को अपनाया था वह रहस्य-साधक सूफियों की रूढ़ि है।

१. 'साधना' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया गया है। यहाँ साधना से अभिप्राय अभ्यास से है जो भावों के प्रेरण और नियमन में अपेक्षित है। -२-

कबीर की भावात्मक साधना में भारतीय भक्ति का भी पट है और सूफी प्रेम तत्त्व का भी। इनकी भक्ति की विनयता यह है कि उसमें ईश्वर के सगुण रूप को मायता नहीं मिली। इससे इनकी भाव-साधना में भारतीय भक्ति-तत्त्व और सूफी प्रेम-तत्त्व दाना का अभेद मिलन हुआ है। ऊपर यह तो बताया जा चुका है कि उहाँ ने सूफा प्रेम तत्त्व को प्रथम रूप में ही ग्रहण किया सर्वात्म्य या पूरण नहीं। यही कबीर की उपासना पद्धति या भाव-साधना की विशेषता है। यहाँ यह कह देना अयुक्त न होगा कि भक्ति-भाव की अलौकिक भाव भूमि पर खड़े होने पर निगम सत् और सगुण भक्त एक ही सी बात कहने लगते हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सन्ता का रहस्यवादी अनुभव कोई अत्रभुत रहस्यानुभव है या कोई शुद्ध वस्तु है अथवा भक्तों को अपनी रागात्मिका भक्ति में उसी प्रकार के अनुभव नहीं होते। भेद केवल रूप का है। भक्ता का आश्रय रूप है सन्ता का आश्रय अरूप है। इस भेद के अनुसार उन के अनुभवा और उनके प्रकाशन की भाषा में भी भेद हो जाता है। जहाँ साधना की अतिम अवस्था को पहुँच कर भक्त राम कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करता है वहाँ सन्तों को इस प्रकार का अनुभव नहीं होता।^१ कबीर इस अनुभव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

अब मैं जाणियो रे, केवल राइ की कहाणों ।

मभा जोति राम प्रकासै, गुर गमि बाणी ॥

तखर एक अनन्त मूरति, सुरता लेहु पिछाणी ।

साखा पेड फूल फल नाही, ताकी अमृत बाणी ॥

पुहप बास भवरा एक राता, बारा ले डर धरिया ।

सोलह मर्भे पवन भकोरै, आकासे फल फलिया ॥

सहज समाधि विरय यहु सींच्या, घरतो जलहर सोष्या ।

कहै कबीर हास मै खेला, जिनि यहु तरवर वेप्या ॥^२

सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपा में भावना रहती है किन्तु जैसी भाव-तीव्रता और गभीरता दाम्पत्य में अनुभव की जा सकती है वैसी पुत्र पिता

१ देखिये डा० रामरतन भटनागर—रहस्यवाद, पृष्ठ ६५

२ कबीर ग्रन्थावली, पद १६६

या सेवक-सेव्य-भाव में नहीं की जा सकती। दाम्पत्य-भाव में भी विरह-पक्ष अधिक तीव्र और गभीर होता है। इसके अतिरिक्त रति-भाव में जितनी व्यापकता होती है उतनी अन्य किसी भाव में नहीं होती। रति-भाव प्रत्येक चेतन-प्राणी के अन्तर में उमड़ता है। कदाचित् इसी कारण 'शृगार' को रसराज कहा गया है। भिन्न आलस्यों के सम्बन्ध से आश्रयगत भाव का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। प्रिय के प्रति मिलन की जो आकाक्षा होती है वैसी ही मिलन आकाक्षा पिता के प्रति नहीं होती, यद्यपि मिलन दोनों में लक्षित है किन्तु एक में आलिंगन की आकाक्षा की तीव्रता और दूसरे में श्रद्धामूलक आत्मसमर्पण निहित होता है। सचारियों के अपने-अपने स्वभाव दोनों के अंतर को और भी स्पष्ट कर देते हैं। दाम्पत्य-भाव में आत्मपरकता को अधिक अवकाश होता है जबकि सेवक-सेव्य भाव या पुत्र-पिता-भाव का आभिमुख्य वस्तु-परकता की ओर होता है।

स्थूल भावात्मक रहस्य-साधना में ईश्वर को प्रायः स्वामी और पिता के रूप में देखा गया है किन्तु कबीर अपने हरि को जननी रूप में भी देखते हैं—

‘हरि जननीं मैं बलिक तेरा। —

काहे न श्रीगुंन बकसहु मेरा ॥

सुत अपराध करे दिन बेते, जननी के चित रहें न तेते ।

कर गहि केस करं जो घाता, तऊ न हेत उतारं माता ॥

कही कबीर एक दुषि विचारो, बालक दुखी दुखी महतारी’ १”

इसी प्रकार पुत्र-पिता-भाव को देखिये—

“को काहू का मरम न जानै, मैं सरनापति तेरी ।

कहं कबीर बाप राम राया, हरमति राखहु मेरी’ ॥”

१ कबीर ग्रन्थावली, पद १११

२. कबीर ग्रन्थावली, पद २६१

और यह एक उदाहरण सेवक-मेव्य-भाव का द्योतक भी देखिये—

“जाकं राम सरोखा साहिब भाई ।
सो ब्यू अनन्त पुकारन जाई ॥
जा तिरि तीन लोक बौ भारा ।
सो ब्यू न करै जन की प्रतिपारा’ ॥”

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में साधक का मपत्व है जिसमें प्रभु के प्रति श्रद्धा और विश्वास निहित है। साथ ही उसकी शक्तिमयी ममता और रक्षकता की भावना को भी आन्दोलित करने का प्रयत्न स्पष्ट है किन्तु भावात्मक सान्निध्य यहाँ भी दिखायी पड़ता है। विस्मरण की बात तो यहाँ भी नहीं उठती—

‘कहे कबीर मैं तन मन जारधा ।
साहिब अपना छिन न बिसा बिसारधा’ ॥”

अपनी तीव्र आध्यात्मिक अनुभूति को व्यक्त करने के लिए कबीर ने स्त्री-पुरुष के भ्रूलौकिक संबंध का उपयोग किया है। यद्यपि लौकिक प्रेम को प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है किन्तु प्रतीक ने रूपक की सीमाओं से निकल कर सब कुछ होश की चेष्टा की है—

“करवतु भला न करवट तेरी । लागु गले सुन बिनती मेरी ॥
हैं बारी मुख फेरि पियारे । करवट दे मोकौ काहे कौ भारे ॥
जो तन चीरहि अग न मोरी । पिड परं तो प्रीति न तोरी ॥
हम तुम बीच भयो नहि कोई । तुमहि सुकन्त नारि हम सोई’ ॥”

✓ कबीर की रहस्य-भावना में ‘निर्गुण’ का बहुत बड़ा योग है। इसी के कारण कबीर ने ‘भक्ति’ और ‘दाम्पत्य प्रेम’ को मिला कर एक नये साँचे में जड़ा है। जब वे अपने को ‘राम की बहुरिया’ कहते हैं तो सन्त-साधना के

१. कबीर प्रथावली, पद ११४

२. कबीर प्रथावली, पद ११३

३. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २७५-३८

सारे रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं। निर्गुण ब्रह्म के प्रति रति-भावना ने ही कबीर की वाणी को रहस्यवादी रचना का रूप दिया है जिसमें गभीरतम आसक्ति प्रकट हुई है। इसके अतिरिक्त इसमें और किसी प्रकार की खोज करना व्यर्थ होगा। जिस प्रकार ऊपर के पद में कबीर की आसक्ति-तीव्रता प्रकट हो रही है उसी प्रकार अधोलिखित उदाहरण में भी देखिये—

“हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ।
राम बडे मं छुटक लहुरिया ॥
‘किया स्यगार मिलन के ताई ।
काहे न मिलो राजा राम गुसाई’ ॥”

एक-शे स्थाल ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए हैं जहाँ कबीर ने विरहासक्ति को प्रकट की है किन्तु दाम्पत्य संबन्ध नहीं निखरता है अतएव माधुर्य भाव दब गया है। इसे कबीर की अभावधानी कहना उचित होगा या तन्मयता—ऐसी तन्मयता जिसमें नियम या सिद्धान्त टूट जाते हैं क्योंकि भाव बुद्धि को अभिभूत कर लेते हैं। अतएव कबीर की वाणी सब कुछ होते हुए भी प्रेमान्धव्यजना में उनके हृदय की माया है जहाँ बुद्धि ने अनुभूति का केवल भार ढोया है। जो कबीर एक स्थान पर विरहिणी के वेश में प्रकट होते हैं वही दूसरे स्थान पर ‘हो बलिया कब देखोगा तोहि’ कह कर आलोचक को विस्मित कर देते हैं। फिर भी आसक्ति में कोई स्पृहता नहीं दिखायी पड़ती। विरह में वही गभीरता, वही व्याकुलता और वही मिलन-कामना है—

“बहुत दिनन के बिछुरे माधो, मन नहीं बाधे घोर ।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवत कबीर ॥”

यह है कबीर के विरह निवेदन की एक बड़ी विशेषता जिसमें संबन्ध भी डूब जाता है। विरह निवेदन कबीर का लक्ष्य नहीं है लक्षण मात्र है। विरह के आने ही तो मिलन है और वही कबीर का लक्ष्य है। विरह का सम्पूर्ण उत्स उसी मिलन-भाग्य की ओर उन्मुख है। वियोग ने कबीर को एक बड़ी भारी

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ११७ ✓

२. कबीर ग्रन्थावली, पद ३०५

वस्तु प्रदान की ह और वह है दह । यह देह प्रिय स मिलन के लिए मिली है अतएव मिलन का सर्वोत्कृष्ट साधन है जिसको सगुण भवना ने भी स्वीकार किया है । कबीर की मिलन-कामना में परिपूर्ण एवम का सकत है और उनका विरह निवेदन मयोग कामना से प्रेरित है विरह आसक्ति से और प्रिय कृपा शक्ति से लक्षित है—

व दिन कब आवैगे माइ ।

जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ धनि लगाई ।

हौं जानूँ ज हिनमिल खलू तन मन प्रान समाइ ॥

या कामना करो परपूरन समरथ हौ राम राइ' ॥

कबीर के साध्यात्मिक मिलन की कामना में लौकिक अनुभूति का समग्र सभार प्रस्तुत है । गायत्रीय अनुभूति कबीर के कठ म पावन पद पर प्रतिष्ठित हुई है—

सब का कह तुम्हारी नारी, मोर्माँ इह अदेह रे ।

एवमेव हूँ सेज न सोव तब लग कसा नह रे' ॥

कबीर का भावाभियोजना में दम्पत्य भाव का जो स्वरूप मिलता है उसमें मयोग और वियोग दोनों पक्ष बड़े सुन्दर बन पड़े हैं । यद्यपि मयोग-पक्ष में वियोग-पक्ष की भी गहराई या तीव्रता नहीं है । या तो भावातिरेक में साधक उपास्य के साथ किसी भी अवध का देखन लगना है किन्तु इन सब में कान्ताभाव की मधुरता बड़ी मोहक होती है । कबीर ने सभी अवधा को अपनाते हुए कान्ता भाव के प्रति ही अधिक आकर्षण व्यक्त किया है और वियोग के चित्र जितने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत हुए हैं उनकी बारीकी में मिलन के चित्र भी उतने ही सजीव हैं । मिलन के पूर्व की भावनाओं के चित्र जायसों के चित्रों की सी मौनिकता लेकर प्रकट हुए हैं । ऐसा ही एक चित्र देखिय—

घरहर बप बाला जोउ ना जानउ किया करसो पोष ।

रनि गई मति दिन भी जात भवर गये दग बठे आय' ॥

१ कबीर प्रथावती पद ३०६

२ कबीर प्रथावती, पद ३०७

३ सत कबीर पृष्ठ १४८

इस पूर्व रंग में बड़ी मधुर प्रतीक्षा प्रस्तुत की गयी है जिसकी आशका के पुट ने एक विलक्षण रूप दे दिया है। जायसी और कबीर की तुलना करने-वाले पाठक को कबीर की उक्त वाणी में विशेष ध्वनि, विशेष सकेत और विशेष आध्यात्मिक वातावरण मिलेगा।

उत्कृष्ट और आशका के पदचात् 'मिलन' का पदार्पण होता है, संयोगवाद की अनुभूति होती है। इस अवस्था को व्यक्त करने के लिए साधको ने अनेक रूपक बाधे हैं और सबध को अधिक स्पष्ट करने के लिए रूपक-योजना आवश्यक भी है। इस रूपक-योजना में कबीर की कला और भावुकता, दोनों का समन्वय है। कबीर के हर्षोन्माद का एक रंगीन चित्र देखिये—

“दुलहनों गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रत करि में मन रत करिहूँ, पध तत बराती।
रामदेव भोरं पाहुने आये, में जोबन में माती।
सरीर सरोबर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
राम देव सगि भावरि लहूँ, धनि पनि भाग हमार।
सुर तेतीसू कौतिग आये, मुनिपर सहस्र अठ्पासी।
कहँ कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी॥”

मिलन की दशा में हर्षातिरेक का होना स्वाभाविक है, किन्तु वृत्तज्ञता-ज्ञापन भी उम दशा की एक सहज स्फूर्ति होती है जिममें, भाग्य को सराहना के साथ-साथ प्रिय के अनुग्रह का भी चोतन है —

“बहुत दिनन थं प्रीतम पाये,
भाग बडे घरि बैठे आये।

× × × ×
में रनि रासी जे निधि ताई, हमहि कहा यहू तुमहि बडाई।
— कहँ कबीर में कछू न कोन्हा, सखी सुहाग राम मोहि बोग्हा॥” —

१. कबीर ग्रथावली, पद १

२. कबीर ग्रथावली, पद २

कबीर की साधना मक अनुभूति म सुहाग रात का भी बडा मनोहर स्थान है। सुहाग रात के बिना दाम्पत्य जीवन क्या ! प्रिय को अक पाश म डाल कर मिलना सौभाग्य की चरम स्थिति है। कबीर इस दशा के निमित्त अपने भाग्य की बडी सगहना करते ह। कबीर का मन मधुर मिलन म डूब जाता है। आनन्द की यह मत्जावस्था है किन्तु यह परिणाम है प्रियतम की शृषा का जिस भारतीय भक्ति-परंपरा मे भगवदनुग्रह नाम से अभिहित किया है। इस दशा को नायिका स्थायीरूप म चाहती है। किसी भी प्रकार वह प्रियतम को छोडना पसंद नहीं करती। अनुनय विनय से अपनी अनेक मनुहारो से वह प्रिय क मन पर जादू डालती है। देखिय—

अब तोहि जान न दहू राम पियारे ।

ज्यू भाव त्यू होड हमारै ।

बहुत दिनन क बिछुरे हरि पाये, भाग बड घर बठे आये ।

घरननि लागि करौ बरियायो, अम प्रीति राखौ उरभाई ।

इत मन मदिर रहौ नित चोख कह कबीर परहू मत धोख' ।'

मिलन दाम्पत्य भावना की अंतिम सीडी है किन्तु यहाँ भी दो प्रकार की दशाओ की अनुभूतिया होती ह—एक म साधक प्रिय के साथ सपक की अनुभूति करता है और दूसरी म तान्त्रिक का। यह स्थिति बाणी और मन की पहुँच से बाहर की चीज है। इस स्थिति का किसी कवि न आपको पाते वही जा आपको पाते नहीं कह कर व्यक्त किया है। निक्त्सन^१ सूफी साधक के सबध म लिखता हआ कहता है— जो ईश्वर का जानता है वह मौन हो जाता है। गीता म भी यौनी का ही सच्चा मुनि बतलाया है। कबीर भी अपनी इसी दशा की शार सकेत करते हुए कहत ह—

अबिगत अकम अनूपम देखा कहता कहया न जाई ।

सन कर मनहीं मन रहस गुग जानि मिठाई' ॥'

१ कबीर ग्रथावली पद ३

२ देखिये मिस्टिकन आफ इस्लाम पृष्ठ ७१

३ कबीर ग्रथावली पद ६

कबीर के वे शब्द हमें उनकी ध्यानदावस्था की भाँकी कराते हैं किन्तु यह चरमावस्था नहीं है। यह वह अवस्था है जिसे कबीर 'सुरति' नाम से अभिहित करते हैं। यह मिलन-जन्य भाव मग्नता की दशा है। भारतीय साधक तो इससे आगे भी एक अवस्था प्राप्त करता है जो कबीर ने भी प्राप्त की है और उसमें जाकर साधक और साध्य जल में जल के समान मिलकर 'अद्वैत' हो जाते हैं और कबीर इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार करते हैं —

'जग में देखौं जग न देखें मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो'।'

और वे यह अनुभव करते हैं—

"मैं सबनि में औरनि में हूँ सब।"

वास्तव में यह स्थिति बुद्धि के परे की चीज है। यहाँ साधक और साध्य में ऐसी एकता आजाती है कि भेद नाम की चीज साधक के सामने ही नहीं आती और वह पूर्ण विस्वाम से कह उठता है—

"हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं, हरि न भरे तो हम काहे फू मरिहैं"।'

इसमें सन्देह नहीं कि सतवाक्य की पीठिका रहस्यवाद है किन्तु कबीर का पढाया हुआ पाठ ही उत्तरवर्ती भन्तो ने दुहराया है। भाव के माध्यम में अद्वैत स्थिति का प्रकाशन ही सन्तो के रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषता है जो कबीर की वाणी में अपने ढंग से व्यक्त हुई है। लगता तो ऐसा है कि कबीर का ज्ञान सर्वत्र छनक रहा है किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि ज्ञान कबीर की धनुभूति में इतना घुल-मिल गया है कि कहीं-कहीं उसको भावना से अलग करके देखना दुष्कर हो जाता है। कुछ आलोचक कबीर को केवल ज्ञानी कह कर उनकी वाणी के भाव-वक्ष की उपेक्षा कर देते हैं जो ठीक नहीं है। यह ठीक है कि उन्होंने उपास्य से पृथक् अपनी सत्ता की घोषणा नहीं की है किन्तु अद्वैत की स्थिति ऐक्य की अनुभूति में उद्दिन होती है, ऐसा स्थान-स्थान पर प्रकट होता है। यह कहना अयुक्त नहीं कि अद्वैतभाव को दृढ़ बनानेवाली वस्तु

१. कबीर ग्रथावली, पद ५०

२. कबीर ग्रथावली, पद ४३

कबीर की विप्रलम्भ की भावना ही है। कबीर की भावना उनके अद्वैतवाद पर आरुढ़ हो जाती है इतनी कि वे सर्वत्र म गाविष्ट होकर किसी सँदातिक निर्णय को खो बैठने हैं। भावना का यही अनिरेक उन्हें राम को न एक कहने देता है और न दो—

“एक फहों तो है नहीं, दोय फहों तो गारि ।
है जँसा जँसा रहै, कहै कबीर विचारि ॥”

इस सारी की दूसरी पक्ति द्वैत और अद्वैत, दोनों का विरोध करके अनिर्वचनीयवाद की प्राप्तिष्टा करती है। इसम मिथ्यान्त पक्ष भावना में डूब गया है, इसी कारण कबीर के राम-मन्वष म किसी परिभाषा के लिए शब्द दुबल ही नहीं, प्रयुक्त मिद्ध होते हैं और शायद इसी कारण स्वर्गीय रामकृष्ण मुक्त ने कबीर को दार्शनिक भक्त, कवि आदि सभी कोटियों से निकाल दिया है। कबीर सर्वधी ज्ञान और भक्ति को समझने के लिए उनकी भावना को सामने रखना परभावश्यक है। कबीर बड़े नावुक हैं और उनकी भावुकता ही उनकी साधना की सर्वोच्च वृत्ति है।

कबीर की रहस्य-साधना का दूसरा स्वरूप योग-परक है। इस साधना पर सिद्धा और नाथों का भी कुछ प्रभाव प्रकट होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सिद्धा और नाथों ने योग के कायिक पक्ष को ही विशेष महत्त्व दिया किन्तु कबीर ने योग के मानसिक पक्ष को प्रधानता देकर उसको आध्यात्मिक पक्ष से समुपेत किया। या तो नाथों को योग-पद्धति में भी कुछ आध्यात्मिकता आगयी थी और उन्होंने अपनी योग साधना को ईश्वरनिष्ठ बना दिया था किन्तु कबीर ने योग के कायिक पक्ष में ऐसा सजोवन किया कि उसमें नाथ-पद्धति का बहुत कुछ अंश होतें हुए भी उसके मौलिक स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उसमें मौलिकता आयी उस भावना और ज्ञानक्षेममन्वित करने कारण। फिर भी उसमें भावना का वह रंग नहीं है जो दाम्पत्य प्रेम-साधना दील पडता है। उनको हरि का, शिव-पावती-सयोग, अपना और हरि का सग— सब अनुभूतियाँ होती हैं जिनमें ज्ञान और प्रेम का भी पुट मिलता है। उनकी अपरक रहस्य-भावना की एक झँकी इस पद में देखिय—

“पारब्रह्म देख्या हो तत बाडी फूली, फल लागे बडहूसी १
सदा सदाफल दाख बिजौरा धौतिकहारो भूली ॥

झाड़स कूँवा एक बनमाली, उलटा नीर चलावे ।
 सहजि सुयमना कूल भरावे, दह दिसि बाडी पावे ।
 लगे कौ लेज पवन का डोंकू, मन मटका ज बनाया ।
 सत की पाटि मुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया ।
 त्रिकुटी चढ्यौ पावदौ धारं, अरघ उरघ की ब्यारी ।
 चव सूर दोऊ पाणति करिहें, गुर मुधि बीज बिचारी ।
 भरो छाबड़ी मन बँकुंठा, साई सूर हिया रगा ।
 कहं कबीर सुनहु रे सतौ, हरि हम एकं सगा ॥”

इस प्रकार कबीर पिंड में भी ब्रह्माण्ड के सारे खेल देखते हैं जो वास्तव में बड़े रहस्यात्मक खेल हैं। इन रहस्यों का दर्शन साधक को उल्टी चाल से होता है। इसी को एडोल्फ अन्तर्दृष्टि की एकता की प्रक्रिया कहते हैं। उपनिषद्-कारों ने भी ऐसे रहस्यों का उल्लेख किया है। श्वेताश्वतर^१ उपनिषद् में बतलाये हुए योगी के रमण के स्थान कुछ कम रहस्यपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार बृहदारण्यक^२ में आत्मान्वेषी की अनेक भाँकियों का विशद उल्लेख किया गया है कि 'उसे कैसरिया रंग के वस्त्र, रक्तिम तिलियाँ, अग्नि-शिखाएँ, विकच कमल और कौपती हुई बिजलियाँ दिखायी पड़ती हैं। कबीर-वाणी में रहस्यपूर्ण दृश्यों और ध्वनियों का अभाव नहीं है। भक्ति और ज्ञान के पुट से कबीर की योगपरक वाणी रहस्यात्मक कुतूहल से परिपूर्ण है। उसमें कायिक सवेन होने हुए भी माधुर्य छलकता मिलता है। इसका कारण उनकी भावना का वह पुट है जो उनकी साधना का सार ही नहीं आधार भी है। कबीर की साधना का वायिक पक्ष भी सूक्ष्म के परिचय के निमित्त है। इस चञ्चल एवं स्थूल पदार्थों में रमनेवाले मन को स्थिर एवं सूक्ष्म बनाने के लिए लौटाने की चेष्टा करते हैं। स्थूल सामारिक पदार्थों से निकाल कर उसे परमात्मा में लगा कर उसको तद्बत कर देना ही उनके योग का लक्ष्य है और इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए कबीर अपने मन

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २१४

२. कबीर ग्रन्थावली, पद १७०

३. श्वेताश्वतर १/२

४. बृहदारण्यक १/५

को प्रेम की रस्सी में बाँध कर अपने माधो^१ के पास खींच ले जाते हैं। कबीर का 'माधो' भी एक रहस्यात्मक सत्ता है और उसके भावास को भी इन्होंने रहस्यमय ढंग से प्रकट किया है —

“चमकें बिजुरी तार अनत, तहा प्रभू बंठे कवलाकत ।
अखड मडिल मडित मड, त्रि-स्नान करं त्रीखड ।
अगम अगोचर अभि-अतरा, ताकौ पार न पावें धरणीधरा ।”

× × × ×

“टारची टरं न आवें जाडू, सहज सुनि में रहह्यो समाइ ।”

× × × ×

“कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पकज में लिया निवास ।
द्वादस दल अभि-अतरि म्यत, तहा प्रभू पाइसि करिलं च्यत ॥”

× × × ×

“तहाँ न ऊगै सूर न चब, आदि निरजन करं अनद ।”

× × × ×

“जोति माहि जे मन थिर करं, कहै कबीर सो प्राणी तिर ॥”

इस पद में कबीर की मनोसाधना का रूप स्पष्ट है। 'सहज सुनि', 'रिदा पकज', और 'जोति' योग-सबधी प्रतीक शब्द हैं जिनसे साधना-पद्धति का परिचय मिलता है, 'धरणीधर' आदि शब्दों के प्रयोगों से यह भी स्पष्ट है कि कबीर ने अपनी वाणी में पौराणिकता का भी पुट दिया है, किन्तु उनके पौराणिक प्रयोग सांकेतिक हैं। इस योगपरक साधना के मूल में कबीर की मनोसाधना का आधार मिलता है और उसे प्रेम से सरसीत करके वे अपनी अभिव्यक्ति को मधुर बनाते हैं। फिर भी ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं जिनमें रहस्यवाद के तत्त्वों का समावेश पूर्णरूप में नहीं है। रहस्यवाद का सबध अभिव्यक्ति से जोड़ कर कुछ विद्वानों ने उसे अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। ऐसी वाणी में कबीर ने निश्चित प्रतीकों का प्रयोग किया है। चौंसठ दीया, चौदह चदा, सोलह पवन आदिक शब्दों में नियत प्रर्थ निहित है और सरुया शीघ्र

१. कबीर ग्रथावली, पद २१३

२. कबीर ग्रथावली, पद ३२८

ही हमें अर्थ तक ले पहुँचती है। कबीर के समय में सस्यावाचक प्रतीकों का अधिक प्रचलन था, किन्तु कबीर ने इनके अतिरिक्त अन्य प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जो छोटे-मोटे रूपक प्रतीत होते हैं। ब्रह्म-नालि भँवर गुफा आदि शब्द कबीर की वाणी में नियत अर्थ प्रकट करते हैं और अर्थ-श्रोतन की यह प्रणाली सिद्धों की वाणी में अधिक प्रचलित हो गयी थी। नाथपंथी भी इस प्रयोग-परंपरा का सर्वथा परित्याग न कर सके। यदि सामान्य दृष्टि से देखें तो कबीर ने अपनी उलटबासियों में सिद्धों और नाथों की परंपरा की ही रक्षा की है, किन्तु यह न समझ लेना चाहिये कि कबीर की उलटबासियाँ केवल कूट हैं। हम उनका समुचित मूल्यांकन उम समय तक नहीं कर सकते जबतक कि उनको साधना की पृष्ठभूमि में रख कर न देखें। वास्तव में वे कबीर को साधना का अन्यतम परिणाम हैं। इनमें सिद्धों की वाणी की भाँति कुछ छिपाने का प्रयत्न नहीं है क्योंकि उसमें न तो किसी सामाजिक कुत्सा का समावेश है और न किसी हेय साधना-पद्धति की ही दुर्बलता। सिद्धों की दुर्बलता उन्हें उमें छिपाने के लिए विवश करती थी और वे नहीं चाहते थे कि उनकी साधना किसी ऐसे व्यक्ति के हाथों में पड़े जो उसे पूर्ण श्रद्धा प्रदान न कर सके किन्तु कबीर के सब तास खुले हैं। उनकी साधना के सब पहलू पूर्ण प्रकाश में हैं। अतएव जब वे—

“चौंटी परबत ऊयण्या, ले राख्यो चौडें ।
मुर्गा भिनकी सू लई, बछा दूध उतारं ॥
ऐसा नवल गुंणी भया, सारदूलहि मारं ॥”

आदि वाक्यों का प्रयोग करते हैं तो कुछ छिपाने के लिए नहीं बरन् अपनी अनुभूति को सामान्य शब्दों में सरलतम ढंग से प्रकट करने के लिए। इसका सबंध साधना से होने के कारण असाधक को ये उक्तियाँ उलटी लग सकती हैं, उमें ये रहस्यमय दीख सकती हैं, किन्तु वास्तव में इनके पीछे एक साधनात्मक अनुभूति है। इनमें केवल साधक का रहस्यानुभव है जो पाठक को चाहे कूट प्रतीत हो किन्तु कबीर के लिए प्रकाशमय था। यह ठीक है कि बहुत से नीरस रहस्यपूर्ण वर्णनों से कबीर की वाणी भरी पडी है जिनसे वह निम्न कोटि की होगी है और उसमें रहस्यवाद की मधुरता नहीं आयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की वाणी में भावात्मक, साधनात्मक एवं अभिव्यक्तिमूलक, तीनों प्रकार के रहस्यवाद के उदाहरण मिल सकते हैं। इन

सब पर कबीर की विचार-प्रधानता का प्रभाव है किन्तु 'दाम्पत्य भाव' से सश्रित उदाहरणों में भाव-लहरिया भी स्पष्ट है। भावात्मक रहस्यवाद के उदाहरण कबीर-वाणी में थोड़े ही हैं किन्तु जो हैं उनमें अनुभूति बड़ी गहन और मार्मिक है। अधिकांश रहस्यवादी उक्तियाँ योगिक पारिभाषिक शब्दों, विविध सख्याओं/एक योगिक प्रक्रियाओं से प्रभावित हैं। इमसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ कबीर की रहस्योक्तियाँ योग और अद्वैत दर्शन से मुक्त हैं वहाँ उनमें मुन्दरतम रहस्यवाद दिखायी दे सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर की रहस्योक्तियाँ रहस्यवाद की किसी एक कोटि में नहीं रखी जा सकती क्योंकि उन्होंने सत्य को हर पहलू से देखने और पकड़ने का उपक्रम किया है और इसी चेष्टा में उनकी वाणी में रहस्यवाद की अनेक कोटियाँ प्रस्तुत करदी हैं। साथ ही कबीर की रहस्योक्तियों में प्रवृत्त्यामकता का प्रतीति होती है, उसमें ऐकान्तिकता नहीं दिखायी पड़ती। कबीर केवल दार्शनिक या भक्त ही नहीं थे, अपितु विचारक, सुधारक, उपदेशक होने के साथ-साथ गृहस्थ भी थे। इसीलिए वे 'प्रवृत्ति' का परित्याग नहीं करते। वे सत्कार, शरीर, धन, धाम आदि के प्रति धनामयि की भावना अवश्य उत्पन्न करना चाहते हैं परन्तु घरबार छोड़कर वनवास लेने का उपदेश कही नहीं देते। कबीर का रहस्यवाद चाहे किसी कोटि का हो किन्तु प्रेम की रंगीनी सर्वत्र मिलगी। उनकी वाणी में जहाँ योगिक या पारिभाषिक शब्दावली को अपनाया है वहाँ भी प्रेम-तत्त्व का अभाव नहीं मिलता। इसी प्रेम-तत्त्व ने कबीर के रहस्यवाद में सर्वत्र एक अलौकिक आनन्द-तत्त्व उत्पन्न कर दिया है और यह आनन्द-तत्त्व अद्वैत-भावना पर आधारित है जिसकी मादक अनुभूति में कबीर कह उठते हैं —

“हम सब माहि सकल हम भाहीं
हमते और कोउ दूसर नाही ॥”

यह अद्वैत-तत्त्व कबीर को कर्मवाद से मुक्त नहीं करता। कर्मवाद को स्वीकार करने उन्होंने पुनर्जन्मवाद को भी मान्यता प्रदान की है जिसमें विकास की भावना निहित है। कबीर का सम्पूर्ण जीवन क्षेत्र आध्यात्मिकता से अतिस्रोत है जिसकी विशेषता है उसकी भाष्यता जिसकी छाप उनकी रहस्यानुभूतियों में स्थान-स्थान पर लगी दिखायी पड़ती है।

भारतीय भक्ति-परंपरा में कवीर की भक्ति

भक्ति-परंपरा—भक्ति एक मनोभाव है जो अव्यक्त सत्ता के अवलंबन से रसरूप में निष्पन्न होता है। भक्ति शब्द का जन्म 'भज्' धातु से हुआ है जिसका अर्थ है 'सेवा करना'। सेवा का आलंबन कोई भी हो सकता है किन्तु भक्ति का अपरिहार्य रूप 'ईश्वरोन्मुखता' और 'अनन्यता' में निहित है। भक्ति के इसी रूप की प्रतिष्ठा शांडिल्य के 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' सूत्र में हुई है। यही भक्ति की सामान्य परिभाषा है। इससे विदित होता है कि भक्ति के प्रमुख अवयव दो हैं—परमात्मा की ओर अनुराग की प्रवृत्ति और उसीके लिए उमका समर्पण। काम, लोभ और मोह के आलंबन के प्रति प्रबल अनुरक्ति रह सकती है किन्तु वे सब नश्वर हैं अतएव उनकी परिमिति मिथ्या है। उनके विपरीत परमात्मा अनन्त और असीम है अतएव अनन्य अनुराग का निर्वाह उसीके प्रति संभव और सफल है।

पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विश्वास अनन्य भक्ति के प्रमुख लक्षण हैं। इनके उदय में परिस्थितियों का विशेष स्थान होता है। श्रातं, जिज्ञासु, अर्थार्थी आदि भक्त भेद परिस्थितियों की ओर मकेत करते हैं। श्रातं अपनी विवशता में परमात्मा की शरण लेता है। श्रातं के भी अनेक भेद हो सकते हैं किन्तु हर-एक के भाव की चरम परिणति 'परानुरक्ति' में होती है और वही वास्तव में भक्ति है।

जब से मनुष्य अपनी विवशता में अथवा प्राकृतिक विराटना में किसी अव्यक्त शक्ति के प्रभाव की कल्पना करने लगा तभी से उसमें आस्तिक्य-भाव

का बीजारोपण हो गया और जब उसको अपनी और प्रकृति की शक्ति का एक ही प्रेरक और संचालक विश्व के पदों के पीछे आनासित होने लगा तब उसका भाव पल्लवित हो गया किन्तु भक्ति-भाव की प्रतिष्ठा तो वास्तव में उस समय हुई जबकि मनुष्य असीम विगट शक्ति से डरने के स्थान पर प्रेम करने लगा। वही से भक्ति के इतिहास का प्राग्भ होता है। इस प्रकार भक्ति की भूमिका में भय और प्रेम, ये दो क्रमिक सरणियाँ परिलक्षित होनी हैं। भय में रक्षा का भाव प्रधान था और प्रेम में प्रिय के आल्हादन का भाव, जिसमें स्वाल्हादन भी निहित था। भय के अनेक आनवन प्रकट हुए किन्तु विवेक से परिष्कृत प्रेम एकोन्मुख होता चला गया एक असीम शक्ति की कृपना के साथ अनन्यता एवं आत्मसमर्पण की भावना भी उदित हुई और फिर 'हे मेघों के अधिराज ! तुम वज्र गिराकर अथवा अववपंश से कृपि नष्ट करके हम लोगों को कष्ट न देना' —के स्थान पर "हे इन्द्र जिम प्रकार पिता पुत्रों का अपना दुलार देता है उसी प्रकार आप हमको अपना प्रेम प्रदान कीजिये" अथवा "हे परमात्मन ! आप ही हमारे माता-पिता हैं, हम अपना प्रेम दीजिये" आदि स्तुतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

वैदिक काल के सर्वप्रथम धर्म-देव वरुण थे। वे ऋत (सत्य) के सरक्षक थे। धार्मिक भावनाओं का जागरण वरुण के अनुशासन से ही सम्भव माना गया था। लोग अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए वरुण की कृपा को याचना करते थे। इन्द्र वैदिक काल के लोक-सरक्षक देवता थे। वे लोक-कल्याण के लिए अति पराक्रमी प्रसिद्ध थे। अग्नि देवता होता के यज्ञाग्न को देवताओं तक वहन करते थे। उस समय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को इतना महत्त्व नहीं दिया गया था जितना उनको आगे चल कर मिला। वैदिक काल का मानव अपने जीवन का अम्युत्थान तप और सदाचार के द्वारा मानता था और उन्हीं के बल पर वह स्वर्ग पाने की कामना करता था।

वैदिक साहित्य के अध्ययन में यह विदित होता है कि भिन्न-भिन्न शक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना के साथ आर्यों ने एकेश्वरवाद

पर भी अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त की है। इसी कारण वैदिकों की निष्ठा एक से दूसरे देव पर बदलती रही। सर्वशक्तिमत्ता का आरोप जिन देव के कार्य में होता गया उसी की महिमा बढ़ती चली गयी। वरुण से इन्द्र और फिर विष्णु को जो महत्त्व मिला उसका मूल कारण यही था।

ऋग्वेद में विष्णु (सूर्यदेव) सर्वज्ञ (त्रिविक्रमो सर्वस्य) हैं और वरुण (नभोदेव) स्वर्ग का राजा (भुवनस्य राजा) है। शतपथ ब्राह्मण के अनेक उद्धरणों से यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि एक समष्टि-शक्ति मन्त्रकाल में ही नाना रूपों और व्यापारों द्वारा व्यक्त होने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने लग गयी थी। आगे चलकर उन सब देवा का ही तत्त्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा कर दी गयी। इससे धर्म के इतिहास में दो नयी बातों का समावेश हो गया—एक तो ब्रह्म नाम से वाच्य परम शक्ति का ग्रहण और दूसरी उस परम शक्ति की नाना रूपों में अभिव्यक्ति। ये ही दोनों तत्त्व आगे चलकर भक्ति के आधार के लिए अतिवायं सिद्ध हुए।

मानवीय स्वभाव के अनुसार भक्ति की पद्धतियों ने भी दो रूप धारण कर लिये—एक तो वह रूप जिसमें अनेक क्रियाओं से चमत्कृत होकर किसी अदृश्य नियन्ता को प्रधानता दी जाने लगी और दूसरा वह रूप जिसमें उस नियन्ता की वस्तुओं से चमत्कृत होकर प्रत्यक्ष को प्रधानता दी गयी। इन दोनों पद्धतियों में उनके अपने अपने प्रतीक स्थिर कर लिये गये। इस प्रकार प्रथम पद्धति में अग्नि-पूजा (यज्ञ में) और दूसरी में सूर्य-पूजा प्रतिष्ठित हुई, धीरे-धीरे यज्ञ से रूद्र का तादात्म्य हो गया और सूर्य से विष्णु का। इस प्रकार कालान्तर में शिव और विष्णु की पूजा ने प्रधानता प्राप्त कर ली। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनेक प्राकृतिक व्यापारों में सृष्टि, स्थिति और लय का ही विशेष महत्त्व था। अतएव स्थिति और लय के अधिष्ठाता देव के रूप में जहां

१ देखिये, प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का शिवाक (कल्याण) में लेख, तथा आचार्य ध्रुव कृत 'हिन्दू धर्म प्रवेशिका'।

२ देखिये, इस सबध में ए० बर्थ कृत 'दि रिलीजन्स ऑफ इंडिया', इस सबध में भंडारकर की सम्मति भी देखने योग्य है।

विष्णु और श्द्र (शिव) का महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ वहाँ सृष्टि के अधिष्ठाता देव ब्रह्मा का महत्त्व भी अधुष्ण रहा किन्तु अदृष्ट की प्रधानता के साथ महाकाल की प्रधानता और प्रत्यक्ष की प्रधानता के साथ महास्विति की प्रधानता सम्बद्ध रहने के कारण विशेष पूजा के पात्र शिव और विष्णु ही माने गये ।^१

विष्णुव भक्ति का रूप ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है। उसमें विष्णु का सर्वोच्च देव का पद दिया गया है और वेदों के वे मंत्र भी जो इतर देवों से सबधित हैं विष्णुविषयक बना दिये गये हैं। यही देव तृत्तरीय आरण्यक में नारायणत्व प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ नारायण एक प्राचीन ऋषि हैं जिनको 'पाचरात्र' लोग विष्णु के अवतार के रूप में पूजते हैं।^१

भक्ति-भाग का शिलान्यास वस्तुतः आरण्यको और उपनिषदों के उपासना काण्ड में हुआ दीर्घ पडता है, जो ज्ञान-काण्ड का ही एक अंग है। ज्ञान-काण्ड के दो मार्ग हैं—एक तो विदुद्ध ज्ञान को लेकर चलने वाला निवृत्तिपरक ज्ञानमार्ग और दूसरा हृदय-पक्ष समन्वित ज्ञान को लेकर चलने वाला कर्मपरक ज्ञानमार्ग। कर्मपरक ज्ञानमार्ग में कर्म के साथ बुद्धि और हृदय, दोनों का योग आवश्यक ठहराया गया था। जहाँ से कर्म में हृदय-तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वही से भक्ति मार्ग आरम्भ हो गया अथवा यों कहिये कि मानवीय बुद्धि और हृदय का स्वाभाविक रूप से सञ्चालन आरम्भ हो गया।

उपनिषद् काल की धार्मिक परंपरा का आधार उस समय का दर्शन था। वेदों में जो शक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी जा चुकी थी, वही उपनिषदों में आनन्द-स्वरूप, मानव आनन्दका स्रोत भी मान ली गयी। जब वह शक्ति रस और आनन्दमय दोस्त पदी तो मानव-आकर्षण का केन्द्र बन गयी। उसके पाने की चेष्टा स्वाभाविक

१ देखिए, ए० बयं—दी रिलीजन्स आफ इंडिया, पृष्ठ २५५ (१८८२ ई० का संस्करण)

२ देखिए, लेखककृत भक्ति-दर्शन, पृष्ठ २०५

हो गयी, पर क्या उसे सब अपने प्रयत्नो से पा सकते हैं? कठोपनिषद ने इसका उत्तर 'नकार' में दिया। वह आत्मा (ब्रह्म) न तो प्रवचन से प्राप्त करने योग्य है और न मेधा तथा बहुश्रवण से ही प्रापणीय है। वह जिसका वरण करता है उसीको उसकी प्राप्ति होती है। उसके प्रति वह अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है। स्पष्टतः इससे भक्ति माग का अनुग्रह सिद्धान्त प्रतिपन्न हो जाता है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद में अनुग्रह सिद्धान्त की और और भी अधिक स्पष्ट सूक्त मिलता है। उसीसे प्रपत्ति भी ध्वनित होती है। भक्ति शब्द का प्रयोग सबसे पहले उपनिषदों में ही हुआ है किन्तु जिस भक्ति का बीज न्यास वैदमंत्रों में और पल्लवन उपनिषदों में हुआ, वही महाभारत के समय के आसपास विकसित एवं समुज्वल रूपमें प्रकट होती है।

उपनिषद् काल में ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता मानी गयी थी। ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता के प्रति श्रद्धा हो जाने पर भारतीय चरित्र में अनुपम तेजस्विता और उत्साह की प्रतिष्ठा हुई और ब्रह्मज्ञानी पुरुषरूप से निभय हुआ। ब्रह्मज्ञान साधारण लोगों की बुद्धि से सदा ही परे रहा है। उपनिषद् काल में जो साधारण जनता वैदिक कर्म-काण्ड से ऊब उठी थी, वह भक्ति-माग की ओर प्रवृत्त हुई। वैदिक काल के रुद्र (पशुपति, महादेव, शिव आदि) और विष्णु (नारायण, वामुदेव, कृष्ण आदि) उनके प्रमुख उपास्य देव हुए।

वैदिक साहित्य के समान ही पाषाणकाल का दावा रखनेवाला आगम-ग्रन्थवा तन्त्रसाहित्य है। हिन्दी विश्व कोपकार का कथन है कि इस शास्त्र के सिद्धान्त बाहर से यहाँ आये। संभव है वे शकदेश से यहाँ आये हों। वे अधिकांशतः शक्ति सिद्धान्त हैं और सबशक्तिमान् को पितारूप में नहीं प्रत्युत माता रूप में भजने की सलाह देते हैं। उन्होंने कई अनाथ पद्धतियाँ भी प्रचलित की हैं। यह सब होते हुए भी उन्होंने आय देवों को लेकर और विशेषतः रुद्र शिव

१ श्वेताश्वतर उप० ६ २३

२ देखिए श्वेता० उप० ६ २३ तथा २ ७

३ देखिए कुन्जिकामत तन्त्र तथा वसुकृत हिन्दी विश्व-कोष, पृष्ठ ६६७, आईसर्वा भाग

को लेकर सर्वशक्तिमान् की साकार कल्पना और विधि विधानमयी उपासना-पद्धतियों तथा मंत्रों और मन्त्र-विधानों की अच्छी सृष्टि की है। भक्ति-मार्ग पर इन ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव पड़ा है। देवीसूक्त ने तो वैदिक साहित्य तक में आसन पा लिया है। शैव सम्प्रदाय भी बहुत कुछ इही ग्रन्थों पर आश्रित है। वैष्णव सम्प्रदाय के पंचरात्र आगम इसी साहित्य के अन्तर्गत कहे जाते हैं। आज जो तत्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे वैदिक सस्कृत में न लिखे होने के कारण अर्वाचीन ही जान पड़ते हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस साहित्य के सिद्धान्त वैदिक काल में विद्यमान नहीं थे। यजुर्वेद का "सहस्रधाम्बिक्या त जुषस्व" वाला मन्त्र बताता है कि उस समय भी अम्बिका का महत्त्व रुद्र की बराबरी तक पहुँच गया था।

इनके अतिरिक्त भक्ति-मार्ग सबधी अन्य ग्रन्थ पुराण हैं। इनका मूल स्रोत वैदिक साहित्य है। पुराणकारों ने वैदिक देवताओं और तत्संबधी कथाओं का जैसा संस्कार किया है उसे देखकर कभी-कभी उनकी प्रतिमा पर विस्मय होने लगता है। पुराणों में देवताओं के आकार, आयुष, वाहन आदि की कल्पना उनके (देवताओं के) गुणों और उनकी कृपाओं के अनुसार की गयी है और इस संबंध में आगमों से पर्याप्त सहायता ली गयी प्रतीत होती है। देवताओं के नाम, रूप, लीला और धाम की महिमा निरूपण भी उनके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार किया गया है। उनकी आकृति और प्रकृति का तालमेल भी पुराणों का एक अपूर्व अनुदान है। उन्होंने परमात्मा को पूर्ण व्यक्ति-त्वविशिष्ट निरूपित करके भावुक व्यक्ति के लिए मुलभ कर दिया। इतना ही

१. चिन्मयस्या प्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

—कुलार्णव तंत्र, पटल ५, अध्याय ६

२. आगमोक्त विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुषोः ।

नहि देवा प्रसोदन्ति कलौ चान्यविधानतः ॥—विष्णुयामल तत्र

३. देखिये, यजुर्वेद ३-५७

४. देखिये, डा० बलदेवप्रसाद मिश्र—तुलसी दर्शन, पृष्ठ ३६-४०

५. इस सदर्भ में हेवेल महोदय के ग्रन्थ देखने योग्य हैं ।

नहीं पुराणों ने ईश्वरोपासना को लोकव्यापक की भावना से युक्त करके उसे सबसे आरंभ के लिए मरल बना दिया और सात्विक आस्तिक्य और लोक सेवा पर आधारित भक्ति-तत्त्व को स्पष्ट किया।

वैष्णव धर्म ने कुछ और आगे बढ़कर आधिभौतिक पंचतत्त्वों के अनुसार परमात्मा को जिन पांच रूपों में व्यक्त किया वह सूय गणेश देवी शंकर और विष्णु। काल क्रम में सूयपूजा शिथिल होता गया और तांत्रिक लोगों से अपनायी जाने के कारण गणपति तथा देवी का पूजा भक्ति-भाग में गौण बन गया। सूयपूजा को नवग्रह पूजा में समाविष्ट करके और गौरी-गणेश को प्रथम पूर्ण का अधिकारी मान कर भक्तों ने उनसे छुट्टी ली। भक्ति-क्षेत्र में शिव सम्प्रदाय का दौर दौरा रहा किन्तु भावकों के लिए वह वैष्णव सम्प्रदाय के समान प्रबल आकर्षण प्रदान न कर सका। परिणाम यह हुआ कि भक्ति का प्रामुख्य वैष्णव सम्प्रदाय के हाथों में आ गया। वैष्णव भक्ति ने तत्त्वानुगता निगमा से कर्मांड (अनुष्ठान विधि साधन क्रिया आदि) आगम साहित्य से तथा भावाद्य (नाम रूप लीला और धाम से संबंधित अनुरक्ति) पुराण-साहित्य से लेकर अपने को पुष्ट एवं सुदोळ बनाने का मफल प्रयत्न किया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रद्र का महत्त्व ऋग्वेद-काल में ही परिवर्द्ध हो चुका था। यजुर्वेद ने उसको और भी व्यवस्थित किया। यजुर्वेद की रद्राष्टाध्यायी तो आज तक शिव पूजा में व्यवहृत होती है। महादेव पूजन के मूल में आर्यों और अनार्यों की संस्कृति का समन्वय तो दीख ही रहा है साथ ही उससे उस समय शिवपूजा के प्राधाय का परिचय भी मिलता है। देव और राक्षस दोनों ही समान रूप से शिव भक्त होते थे यह बात आर्यों और अनार्यों के सांस्कृतिक समन्वय का संकेत देती है। यही शिव पूजा बाद में अनेक सम्प्रदायों में प्रकट हुई जिनमें पाण्डुपत सम्प्रदाय (नकुलीश सम्प्रदाय) कालामुख सम्प्रदाय (अघोरी) शैव सम्प्रदाय (कश्मीर में) और वीर शैव सम्प्रदाय अथवा वसन्त चाय का लिंगायत सम्प्रदाय प्रमुख हैं। विष्णु की उपासना का इतना प्रचार क्यों हुआ यह एक मार्मिक प्रश्न है। (वह शायद इसलिए हुआ कि विष्णु पूजा को अपने प्रवर्तन के लिए कृष्ण के समान सावभौम आचार्य जो मिल गया।)

भक्ति का तात्त्विक निरूपण सबसे पहले भगवद्गीता में मिलता है जो महाभारत का एक अंश है। महाभारत काल के आस-पास भगवान् का जो

उपास्य स्वरूप सामने आया वह बहुत व्यापक था। यादव-नेता श्री कृष्ण को उम समय विष्णु का अवतार मान लिया गया था जिम्मे प्रजुन को अपने विराट रूप का परिचय दिया था। एव ही दश वामुदेव म गुण-मण्डि की कल्पना उनके विराट स्वरूप को सिद्ध करती है। वामुदेवीगमना परम व्याकर्ता पाणिनि (२० ई० पूर्व) के समय म भी लनी थी।

भगवान् वामुदेव के भक्त भागवत कृत। यह कहा जाता है कि वैदिक धर्म म सबसे पला और नयन प्रबल सुधार करने वाले श्री कृष्ण थे और वही वैष्णव धर्म के आदि आचार्य भी माने जाते हैं।

महाभारत की कुछ कथाया से ऐसा इंगित भी मिलता है कि मरोचि, भक्ति, भगिरा, वसिष्ठ आदि भी भक्ति के आचार्य हो गय थे' किन्तु उनका कोई गीता जैसा ग्रन्थ नहीं मिलता और न उनका ऐतिहासिकता के सबध में कोई प्रमाण ही मिलते हैं। श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता प्रमाणित है। ऋग्वेद संहिता में श्री कृष्ण का नाम आण है। वे कई सूक्ता क रचयिता हैं। यजुर्वेद में कृष्ण केशी नामक दसुर को मारने वाले कृष्ण की कथा है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कृष्ण का उल्लेख मिलता है और वहाँ वे ऋषि भोर आगिरम के शिष्य बतलाये गय हैं। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि जैसे व्याकरण की कृतियों में वामुदेवक जैसे शब्द और कस-वध जैसी लीलाया का उल्लेख है। साथ ही 'चिरहते कसे, 'जघान कस किल वामुदेव " जैसे वाक्यों में 'चिर' और 'किल' शब्दा के प्रयोग से स्पष्ट है कि श्री कृष्ण इन व्याकरण से पहले हुए थे।

डा० बलदेवप्रसाद मिश्र को वीदों के ललितविस्तर म बुद्ध के समय वामुदेवक, पाञ्चरात्र आदि वैष्णव सम्प्रदायानुयायियों के विद्यमान होने का उल्लेख भी मिला है। निदेश (बौद्ध ग्रन्थ) और उत्तराध्ययन सूत्र (जैन ग्रन्थ) भी वामुदेव की चर्चा करते हैं। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के मेगास्थनीज ने भी मथुरा, कृष्णपुर, यमुना, शौरसेन और हरिकुल ईस का उल्लेख किया है। बेस-

१. देखिये, वसु उपरिचा और चित्रशिखण्डियों की कथाएँ (महा-भारत में)
२. देखिये, तुलसी-दर्शन, भक्ति का विकास

नगर (ई० २०० पूर्व) और घासुण्डो (उमसे पहले का) के शिलालेखों में भी 'देवदेवस वामुदेवस' और 'सकर्यणु और वामुदेव' की पूजा का उल्लेख मिलता है ।

बहने की आवश्यकता नहीं कि शैव, वैष्णव और महायान धर्मों का एक दूसरे पर गहन प्रभाव पड़ा । तीनों धर्मों में मंदिरों और मूर्तियों की स्थापना और पूजा होती थी । इतना ही नहीं जैनधर्म के अनेक सिद्धान्त भी वैष्णव धर्म में आ मिले । इधर जैन-धर्म में भी प्रेम-तत्त्व की वृद्धि होने लगी । इस प्रकार वैष्णव धर्म एक पुष्ट स्वरूप लेकर खड़ा हुआ ।

कहा जा चुका है कि भक्ति का प्रधान ग्रन्थ गीता महाभारत का ही एक अंग है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह उपनिषदों का सार है । फिर भी गीता की अपनी विशेषताएँ हैं । प्राचीन उपनिषद् स्पष्टतः अद्वैतपरक हैं । गीता में ईश्वरवादी तत्त्व का प्राधान्य है और उसमें भक्ति का महत्त्व अधिक है । उपनिषदों के वैराग्य और मन्यास को गीता में कर्मयोग का रूप देने की चेष्टा की गयी है । साथ ही मग्यास की वृत्ति को अक्षुण्ण रखते हुए आध्यात्मिक आदर्श को लोक-जीवन के कर्तव्य और धर्म से समन्वित करने का प्रयास भी स्पष्ट है । समन्वय की भावना गीता की विशेषता है । अतएव गीता का धर्म एक नया धर्म है जो वैदिक धर्म का एक संशोधित रूप है ।

इस धर्म में कामना में पूर्ण द्रव्यमय यज्ञों की अपेक्षा मानसिक साम्य के ज्ञानमय यज्ञ (त्याग) को प्रधानता दी गयी । लोह-मरुह-प्रवर्तक वैष्णव भाव को महत्त्व देकर गीता ने ऐश्वर्य और विनास को एक बड़ी भारी चुनौती दी । भक्ति का द्वार मनुष्यमात्र के लिए खोल दिया गया और भगवान् की शरण में लाने का अधिकार हर किसी को दे दिया गया । 'अनासक्ति' पर बल देकर लोगों की प्रवृत्ति देवी सपत्तियों की ओर बढ़ायी गयी । ऐसी बात नहीं कि वैदिक साहित्य में इन सिद्धान्तों का अभाव था किन्तु गीता की विशेषता

१. देखिये, भंडारकर वृत्त 'वैष्णवविजय एण्ड शंखजय'

२. देखिये, राय चौधरीकृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ दी वैष्णव सेक्ट'

तो यह थी कि उसमें उपादेय विषयों को चुनकर लोक सभ्राह्मण रूप दिया गया और इसी में श्रीकृष्ण की महत्ता निहित है।

श्री कृष्ण ने नय धर्म का प्रवर्तन अवश्य किया और यह भी कहा कि 'श्रेष्ठगुणविषया वेदा निस्त्रैगुणयो भवाजुन' किन्तु वेदों की निन्दा में एक वाक्य भी नहीं लिखा। फिर भी धार्मिक मनोबोध स्पष्ट है। उम कुशल सस्वार का फल यह हुआ कि 'ब्राह्मण धर्म' अलक्षित रूपसे वैष्णव धर्म में परिणत हो गया।

श्रीकृष्ण के महत्त्व का एक बड़ा प्रमाण तो इसमें निहित है कि उनके समकालीन भौष्य और व्यास जैसे अनुज उचितज्ञानी और अनुज विचारशील महापुरुष भी उनके अनुयायी हो गए और उनका समग्र कुटुम्ब "इन नवीन धर्म में दीक्षित हाकर वैष्णवों के लिए 'मात्स्य' और 'वाष्णव' मरीछे शब्दों की धरोहर छोड़ गया जो वैदिक माहित्य तक में पाय जाते हैं।" उनके 'निष्काम कर्म' और 'अहिंसा धर्म' की दुर्दुर्भ भारत में ही नहीं विद्वानों तक में जा बजी।

भक्ति-मार्ग का लक्ष्य कर्मा के सहाये निराकार को साकर के रूप में प्रस्तुत करके समझाना है। जिस परमात्मा को इन्द्रिया, वाणी और मन से परे बतलाया जाता है उसीको भक्ति-भाग ने भाव के आश्रय से व्यक्तित्व विशिष्ट बना दिया है। सम्भवतः इस भाव की सम्यक् अनुभूति सबसे पहले नारायण ऋषि ने की थी। पुरुषसूक्त में परमात्मा न कदाचित् सबसे पहले पुरुष को सज्ञा प्राप्त की। यह रचना 'कलात्मक भाव का एक अपूर्व उदाहरण है। आश्चर्य की बात नहीं कि श्रीकृष्ण ने नारायण ऋषि के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर उनको अतिमानवी महत्त्व दिया हो। राय चौधरी का कहना है कि परमात्मा के लिए नारायण नाम का प्रयोग सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण में दिखायी पड़ता है और तैत्तिरीय आरण्यक में वह (नारायण नाम) विष्णुवाचक है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद् की रचनाओं में विशेष अन्तर नहीं है। अतएव यह अनुमान भी अनुचित नहीं

१. देखिये, तुलसीदास—भक्ति का विवास

२. देखिये, राय चौधरी—'अर्ली हिस्ट्री आफ् दो वैष्णव सेक्ट' पृष्ठ ६, (१९२० का संस्करण)

है कि कृष्ण के अनुयायियों ने उनके व्यक्तित्व में विष्णु और नारायण की विभूति का चमत्कार देख कर तीनों में भेद घोषित कर दिया हो।

स्वर्गीय भडारकर ने नारायण को काल्पनिक (दार्शनिक) देव बतलाया है। वे गोपालकृष्ण को वासुदेवकृष्ण से भिन्न मानते हैं किन्तु श्री कृष्णस्वामी आयरर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्ली हिस्ट्री आफ् वेंपुणविज्जम इन साउथ इंडिया' में अनेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि गोपाल-कृष्ण और वासुदेवकृष्ण एक ही थे। लेखक भी इसी मत में सहमत हैं क्योंकि नारायण को दार्शनिक या काल्पनिक मानने के लिए कोई विशेष तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया। कृष्णानुयायियों की भावना ने वेंपुण्व धर्म में अवतारवाद की प्रतिष्ठा करके कृष्ण के पूर्ववर्ती महापुरुषों को विष्णु के अवतारों में ममाविष्ट कर लिया। जिस किमी महापुरुष ने लोक मंगल का भार मभाला वही अवतार की मूची में सम्मिलित होगया। परिणामतः कपिल, ऋषभदेव, राम, परशुराम, ध्याम, गौतम बुद्ध आदि के नाम अवतारों की मूची में आ गये।

विष्णु के अवतारों में सबसे अधिक महत्त्व राम और कृष्ण को दिया गया किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि राम की महिमा श्रीकृष्ण के बहुत पीछे उदित हुई। भडारकर महोदय का यह कहना है कि राम को अवतार के रूप में ईसा के पहले ही स्वीकार कर लिया गया था किन्तु राम-भक्ति का प्रचार लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ। वाल्मीकि रामायण के वे अंश प्रक्षिप्त माने जाते हैं जिनमें राम के ईश्वरत्व पर जोर दिया गया है। वैदिक साहित्य में तो राम का उल्लेख लगभग नष्टी के बराबर है। इसके अतिरिक्त अन्य प्राचीन साहित्य में भी रामविषयक सामग्री बहुत ही कम मिलती है। प्राचीन शिलालेख भी राम के संबंध में प्रायः मौन है। राम के अवतारिक महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों की (जैसे अघ्यात्मक रामायण, रामरहस्य, रामपूर्वतापिनी, रामउत्तरतापिनी, नार नार आदि) प्राचीनता पर विद्वानों को सदेह है। जो हो, राम के चरित्र में वाल्मीकि ने वह प्रभाव भर दिया था कि भारतीय जनता स्वतः ही उम्र धोर आकृष्ट हो गयी और राम-भक्ति देश के कोने-कोने में छा गयी।

राम के प्रभाव को प्रखर एव पूर्ण बनाने में रामायण के अतिरिक्त वाल्मीकि, भास और भवभूति आदि की रचनाएँ भी अपना महत्त्व रखती हैं। कालिदास का रघुवंश राम के साथ राम के परिवार को भी महत्त्व प्रदान करने में सफल हुआ है। तीसरी शती के आसपास भास के नाटकों ने राम के चरित्र को उज्ज्वल दिखाने में भरसक प्रयत्न किया। सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में भवभूति ने महावीर चरित्र और उत्तररामचरित्र लिख कर राम-नायक के उत्थान में एक बड़ा अघ्नाय जोड़ा। उत्तररामचरित्र में लोक-मेवा और आत्म-त्याग जीवन-माधना के प्रतीक हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वैष्णव-भक्ति के प्रचार में पुराणों का भी बहुत बड़ा योग रहा है। इनके मूल स्रोत को वेदों में देख कर भी हम रामायण और महाभारत से इनके अद्वैत संवध की उपेक्षा नहीं कर सकते। यों तो वैदिक काल में भी पुराण कोटि के साहित्य के उल्लेख मिलते हैं किन्तु पुराणों का वर्तमान रूप पाँचवीं शती से मिलने लगा है और तभी से भक्ति-संबंधी अनेक ग्रन्थों का भी प्रेरणा मिलने लगी। वैसे तो पुराणों में भी संप्रदायों का प्रभाव दिखायी पड़ता है किन्तु उपपुराणों में साम्प्रदायिक विषयों की चर्चा अधिक है।

अधिकांश पुराणों का दार्शनिक आधार ईश्वरवादी है। उपनिषदों के दुमाह्वय निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण और साकार परमेश्वर जनसाधारणों के लिए सुग्राह्य है। यद्यपि लिंग, स्कंद, शिव आदि पुराणों में शिव को प्रधान माना गया है किन्तु अधिकांश पुराणों में विष्णु के प्रभुत्व की स्थापना की गयी है और उन्हीं के अवतारों का वर्णन है। पुराणों में उपासना को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। इसीलिए उनका उनमें अच्छा निरूपण मिलता है। वैष्णव भक्ति के संवध से अधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय पुराण श्रीमद्भागवत है। इसका प्रधान विषय विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की मनोहर कथा है। दूसरा स्थान विष्णु पुराण का है जिसमें विष्णु की महत्ता का वर्णन है। ब्रह्मा, पद्म, नारद और ब्रह्मर्षिवर्त पुराण भी विष्णु के महत्त्व की स्थापना करते हैं। वाराह, वामन, कृम और मत्स्य पुराण में विष्णु के अन्य अवतारों का वर्णन है। विष्णु अथवा शिव की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले इन पुराणों में सहिष्णुता का दृष्टिकोण सामान्य है।

वदिक साहित्य में वैष्णव धर्म ऐवान्तिक धर्म ही था। गीता^१ के समय तक अवतारवाद स्थिर हो चुका था। महाभारत के नारायणीय धर्म के समय तक चतुर्व्यूह की चर्चा भी चल पड़ी थी और पुराणा के रचना-काल तक वैष्णव धर्म की अनेक शाखाएँ भी पृष्ठ हो गयी थी। पदम पुराण में वैष्णव धर्म के चार^२ सम्प्रदायों का उल्लेख है। वे ही चारों सम्प्रदाय क्रमशः रामानुज निम्बाक मध्व और कलभाचाय द्वारा प्रवर्तित हुए यह ही पदमपुराण में जोड़ दिया गया है।^३

गीता और भागवत वैष्णवों के प्रधान ग्रन्थ हैं जिनमें गीता की प्राचीनता सिद्ध है और उनमें भक्ति का कमजान-समाहित रूप प्रत्यक्ष हुआ है किन्तु भागवत में कम और ज्ञान के क्षेत्र से अलग भक्ति का एक स्वतंत्र धर्म तैयार किया गया। गीता और भागवत काल के बीच में भक्ति-मार्ग में बड़े विकास हुए उसका अपना महत्त्व है। धीरे धीरे भक्ति मार्ग से लोक धर्म-पण या कम-पक्ष हटता गया और उपासना में भगवान का लोक रक्षा और लोक मंगल वाला स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल हमें स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गयी जो अत्यन्त गहन और प्रगाढ़ प्रेम का आलंबन हो सके। नारदीय भक्ति-सूत्र में भक्ति को 'परम प्रेम रूपा' कहकर इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है। शाण्डिल्य ने भी अपने भक्ति सूत्र में भक्ति को ईश्वर विषयक परमरति बतलाया है। भक्ति का यह नवीन रूप एक भाव था जो भक्त को ईश्वर की उपासना उसके सवत्र दान और भागिण्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता था। श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का मधुर फल है। इस रूप में यह सूचित किया गया है कि 'सात्वत धर्म या नारायण ऋषि का धर्म नैवम्य

१ विद्वानों का अनुमान है कि गीता का निर्माण धीकृष्ण के बाद तथा महाभारत से पहले ही हुआ था।

२ रामानुज श्रीस्वीक्षक मध्वाचाय चतुर्मुख ।

श्री विष्णुस्वामिन रडो निम्बादित्य चतु सन ॥

—पदमपुराण (धर्म के हिंदी विश्वकोष में)

३ देखिय तुलसीदास—भक्ति का विकास

४ देखिय रामचंद्र गुवन—सूरदास भक्ति का विकास

लक्षणा' है। इसमें भक्ति को पूरी प्रधानता न मिलने से ही भागवत पुराण कहा गया है।^१ आगे चलकर यही भागवत पुराण कृष्णोपासका क प्रेमलक्षणा भक्ति-योग का प्रधान ग्रंथ हुआ और उसमें प्रकाशित श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेम या भक्ति का आलवन हुआ।

विद्वानों ने भागवत का रचना काल ईसा की ६०० से ८०० शताब्दी के बीच माना है। इसमें कृष्ण का प्रेम के आलवन के रूप में स्वीकार किया गया है। मनोहर बालक प्रमी युवक राजनीतिज्ञ दार्शनिक और साक्षात् ईश्वर इन सभी रूपों में भागवत ने कृष्ण का चित्र प्रस्तुत किया है। यह युगान्तकारी ग्रंथ सिद्ध हुआ न केवल नये भाषा सिद्धान्त के कारण बरन् उत्कृष्ट साहित्यिक सौंदर्य के कारण भी। दश न शीघ्र ही इसके प्रभाव की प्रधानता स्वीकार करली। प्रत्येक प्रांत में पौराणिका ने इसके भावा और अभिव्यक्ति के रूपों को गावा के द्वार द्वार पर पहुंचा दिया। शुद्ध भक्त को भागवत में प्रति मनोहर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई।

भागवत पुराण के अनुसार कर्तव्युग में भक्ति द्राविड देश में ही पायी गयी। अनुमान किया जाता है कि द्राविड सत ११ वी शताब्दी के पूर्व ही चुके होंगे। कृष्णस्वामी घाणगर ने इन भक्तों के नाम समय क्रम से इस प्रकार दिए हैं—पोर्ण आलवार भूतत्तार पय आलवार नम्मालवार (पराकुश मुनि) परि आलवार, आण्डल तोण्डरडिण्पोल (विप्रनारायण), तिरुपत आलवार, तिरुमिसि आलवार। इनके अतिरिक्त मधुर कवि और कुलशेखर दो अन्य प्रसिद्ध आलवार भी हैं। विद्वानों के निष्पत्ति के अनुसार प्रथम आलवार का समय पाचवी या छठी शताब्दी माना गया है।

आलवारों के मत को उनके गीता से समझ सकते हैं जो 'प्रबन्धम्' में संगीत है। सहस्रगीत नाम का एक और प्रसिद्ध संग्रह आलवारों की भक्ति से

१ भागवत १. ३. ८ तथा १. ४. ६

२ भागवत १. ५. १२

३ यह भंडारकर महोदय का मत है।

संबंधित मिश्रता है। कहा जाता है कि ये गीत शठकोपहत हैं। आलवारों के उपास्य विष्णु या नारायण रहे हैं। डा० राधाकृष्णन का कहना है कि आलवारों ने ईश्वर को प्रेमी मान कर उपासना की है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि करने के लिए नम्माळवार की यह उक्ति उद्धृत की है—'ओ स्वर्ग के महत्त्वपूर्ण प्रकार, तुम मेरे हृदय में हो और मेरी आत्मा का भोग कर रहे हो। तुम्हारे साथ मेरी एकता कब होगी?' इस ग्रन्थ का लेखक इस मत से सहमत नहीं है कि आलवारों की भक्ति केवल माधुर्य-भाव की है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इस भाव को अपनी भक्ति में प्रधानता दी है।

आलवार-गीतों से मिश्र होता है कि वे विष्णु तथा उनके अवतार राम-वृष्ण की भक्ति-वात्सल्य तथा दास्य भाव से भी करते थे। वे भगवद्भक्तों की सेवा को भी भगवान की सेवा का ही एक अंग मानते थे। 'प्रपत्ति' और 'आत्म-समर्पण' उनकी भक्ति के मूल मंत्र हैं। इनके द्वारा कोई भी भक्त भगवान को प्राप्त कर सकता है। इस जाति, पद और मरुति का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

आलवारों के पश्चात् दक्षिण में कुछ आचार्यों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने आलवारों की भक्ति के सिद्धान्तों का वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता आदि के प्रमाणों से प्रतिपादन किया। इन आचार्यों में नायमुनि सबसे पहले थे। इनका समय ८२४ ई० और ९२४ ई० के बीच में माना जाता है। उनके बाद इस धर्म के प्रचारक और भी आचार्य हुए जिनमें पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र तथा यमुना-चार्य प्रसिद्ध थे। यामुनाचार्य ने 'प्रपत्ति सिद्धान्त' को पुष्ट एवं प्रचारित करने में अग्रणी प्रयत्न किया। वे सन् १००० ई० के आसपास विद्यमान थे। उन्हीं के प्रपौत्र रामनुजाचार्य थे। यामुनाचार्य के आदेश से ही रामनुजाचार्य ने महर्षि-वादगण के 'ब्रह्मसूत्र' पर अपनी टीका लिखी थी। इस दिशा में यादवप्रकाश ने उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया था। उन्हीं रामानुज ने भक्ति-ग्रन्थों को पूर्णतः दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करके विशिष्टार्थ 'मन' का पद दिया। रामानुज ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इनके अतिरिक्त दक्षिण के

आचार्यों म निम्बार्क, मध्व और वल्लभ भी बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं। इन्होंने अपनी प्रपत्ति रुचि और भावना के अनुसार उपासना की पद्धतियाँ चलायी।

निम्बार्क का उदय १२ वीं शताब्दी म हुआ बतलाया जाता है। वहाँ जाता है कि उन्होंने तैलंगाना मे सन् ११५० ई० के आसपास सनक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसम राधाकृष्ण की शुद्ध भक्ति पर जोर दिया। मध्वाचार्य का समय सन् ११६७ ई० से सन् १२७६ ई० तक माना जाता है। इन्होंने द्वैतवादी मान्य सम्प्रदाय की नींव डाली। इनके पश्चात् वल्लभ का उदय हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रंथो एव विवदतियों से ऐसा सवेत मिलता है कि वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी को ही सुशोभित किया और उसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के आधार पर अपने सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित किया। यह मान्यता है कि महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सत ज्ञानदेव, नामदेव, वेशव, त्रिलोचन, हीरालाल और श्रीराम विष्णुस्वामी के मत के ही अनुयायी थे।

भागवत सम्प्रदाय के आधार ग्रन्थों के रूप म पाचरात्र संहिताया का बड़ा महत्त्व है। शंकराचार्य ने इनकी उपासना-पद्धति के पाच भेद बतलाये हैं—

१. अभिगमन (मन बाणी और कर्म से आराध्य म केन्द्रित होकर उसके मंदिर म जाना),
२. उपादान (पूजा की सामग्री),
३. इज्या (पूजा),
४. स्वाध्याय (मनोच्चार आदि), तथा
५. योग-साधना, ध्यान आदि।

'ज्ञानामृतसार' मे हरिपूजा के ६ प्रकार बहे गये हैं—स्मरण, नामोच्चार, नमस्कार, पाद-मेवन, भक्तिपूर्वक पूजा और आत्मसमर्पण। भागवत पुराण मे श्रवण, सेवा और सख्य, ये तीन और जोड़ दिये गये हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि पाचरात्र का प्रामाण्य उपर्युक्त सभी आचार्यों को मान्य है परन्तु श्री वैष्णव मत पर पाचरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णव पुराणों म विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीभद्रभागवत की बल्लभ ने समाहृत किया। वैष्णवों के प्रधान ग्रन्थों म गीता को नहीं भुलाया जा सकता।

यह तो पहल ही कह जा चुका है कि भक्ति की नदी धारा को प्रामुख्य देने वाला ग्रन्थ भागवत पुराण था। इसम भाव-भक्ति का महत्त्व होते हुए भी राधा का कोई उल्लेख नहीं है। रामानुज के समय म भागवत का प्रचार हो गया

या और उन्होंने उस पर श्री भाष्य लिख कर उनकी मान्यता स्थापित की, किन्तु भागवत के कृष्ण के स्थान पर रामानुजीय भक्ति में विष्णु प्रमुख रहे हैं। लक्ष्मी जो उनकी परमप्रिया रही। भागवत में गोपियों की भक्ति माधुर्य भाव को तो ब्यवत करती है किन्तु सब गोपियाँ परकीया के रूप में ही चित्रित हुई हैं। इसमें सदेह नहीं कि राधा का उदय भागवत के उपरान्त भक्ति की नयी धारा के प्रवाह में ही हुआ है। भागवत में 'येनाराचितो भगवान् हरि' से यह संकेत तो मिल जाता है कि कृष्ण को एक गोपी अत्यन्त प्रिय है, किन्तु राधा का नाम नहीं मिलता। ८१० ई० के आसपास 'ध्वन्यालोक' में श्रीकृष्ण के साथ-साथ राधा की पूजा भी दिखायी गयी है और १५०० ई० के आसपास राधा कृष्ण की भार्या के रूप में दिखायी देने लगी है। धारा के राजा प्रमोदवर्ष के शिलालेख (१५०० ई० के आसपास) से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तरी भारत में राधा-कृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादन करने का पूर्व श्रेय निम्बार्कनाथों को ही है। उन्होंने अपनी 'दशश्लोकी' में सकल मनोवाछामो को पूर्ण करने वाली कृष्ण के वामांग में विराजित और सहस्रो सखियों से सेवित राधा की प्रार्थना भी कृष्ण की स्तुति के साथ की है जिसमें 'सुगलोपासना' के साथ-साथ माधुर्य तथा प्रेम-शक्ति स्वरूपाराधा की उपासना को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ।

“श्री मद्भागवत में कृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने में भक्ति-क्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य-भाव का द्वार खुल गया। सब सम्प्रदायों के कृष्ण भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की व्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेम-लक्षण भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। वे कृष्ण को केवल प्रेम-क्रीडा के एकान्त क्षेत्र में रख कर ही देखते रहे। यद्यपि कृष्ण का आविर्भाव भी लोक-कटक आनतायियों का पराभव करके धर्म की शक्ति और सौन्दर्य का प्रकाश करने के लिए कहा गया है, पर कृष्ण भक्तों ने भगवान् के स्वरूप में प्रायः सौन्दर्य को ही देखा।” इस का प्रभाव राम-भक्ति धारा पर भी पडा किन्तु अधिकांश राम-भक्तों ने राम की

मर्यादा को अक्षुण्ण रखने का हो प्रयत्न किया। जो निर्गुण एक निपाकार राम के उपासक थे वे कबीर भी 'माधुर्य-भाव' में अभिभूत हुए बिना न रह सके और 'राम की बहुरिया' बन बैठे। यह ठीक है कि उन्होंने कृष्ण की लीलाओं को नहीं अपनाया किन्तु गोपी-कृष्ण की प्रेम-प्रकृति को उन्होंने बड़ी तत्परता से स्वीकार किया।

यह दुहराना अप्रामाणिक न होगा कि दक्षिण के आचार्यों में भक्ति के क्षेत्र में रामानुज का नाम तो इसलिए अमर रहेगा कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को एकदम भारतीय रूप देकर और श्रुतिमन्मन बनाकर प्रस्तुत किया है और निम्बार्काचार्य का नाम इसलिए प्रसिद्ध रहेगा कि उन्होंने राधाकृष्ण की भक्ति में 'माधुर्य भाव' भर कर उसका उत्तर में प्रचार किया। रामानुज ने कट्टर वैष्णव की भाँति लक्ष्मीनारायण की पूजा चलायी और निम्बार्क ने कृष्ण की। निम्बार्क की चलायी हुई भक्ति-धारा अपने माधुर्य-भाव की लहरों में अब तक लहराती चली आ रही है। राम-पूजा का श्रेय रामानुज को नहीं है वरन् महात्मा रामानन्द को है जो रामानुज की सिष्य-परम्परा में १४ वीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। यों तो मध्व ने भी राम-पूजा की ओर रुचि दिखायी किन्तु उनको उसके प्रचार में रामानन्द की मौल सफलता न मिल सकी। रामानन्द ने वैष्णव-धर्म में तीन बड़े सुधार किये—एक तो उन्होंने भक्ति-मार्ग में जाति-भेद की सकीर्णता मिटायी, दूसरे सस्कृत की अपेक्षा जनता की भाषा में उपदेश देना प्रारम्भ किया और तीसरे लोकमर्षादानुकूल सदाचारमूलक राम-भक्ति पर जोर दिया।

यह रामोपासना आगे चलकर दो धाराओं में विभक्त हो गयी। कबीर, दादू, नानक आदि सन्तमत के महात्माओं ने निर्गुण ब्रह्म को राम और राम को निर्गुण ब्रह्म कहकर भजन किया और रामानन्दी वैष्णव वैरागियों ने सगुण साकार राम की उपासना को चलाते हुए प्राचीन परंपरा को पुष्ट किया। रामानन्द पर योगि-सम्प्रदाय का प्रभाव होते हुए भी उनकी सगुणोपासना-पद्धति अक्षुण्ण थी किन्तु बाद में रामोपासना को निर्गुण निराकारोपासना की धारा में बहा से जाने में योगिसम्प्रदाय के साथ सूफी-सम्प्रदाय भी कारण बना। परिणामतः रामोपासना की निर्गुणद्वारा में ध्यान की एकाग्रता पर बल दिया गया।

रेर की निर्गुण-राम-भक्ति में ये सब लक्षण विद्यमान हैं।

एक नयी कड़ी—कबीर की माधुर्य-भाव की भक्ति के लिए रामानन्द के सिद्धान्तों में भी बीज-न्यास हो चुका था। यद्यपि रामानन्द ने 'माधुर्य-भाव' की भक्ति का कोई विवेचन प्रस्तुत नहीं किया और न ऐसा सकेत ही दिया है जिससे उनकी प्रवृत्ति इस प्रकार की भक्ति-पद्धति की ओर प्रकट हो। फिर भी उन्होंने भक्त और भगवान् के बीच भार्या-भर्तृत्व-संबंध एवं भोग्य-भोक्तृत्व-संबंध को स्वीकार करके 'माधुर्य-भक्ति' के अस्तित्व एवं महत्त्व को तो स्वीकार किया ही है। इसलिए कबीर के माधुर्य-भाव में केवल सूफियों का प्रभाव ही नहीं खोजा जा सकता अपितु भारतीय परम्परा का प्रभाव भी देखा जा सकता है जिसके लिए निम्नांक ने पहले से ही भूमि तैयार कर दी थी जिसको रामानन्द ने भी अस्वीकार नहीं किया।

कबीर की निर्गुणोपासना में जो माधुर्य-भाव है उसमें लीला-पक्ष का अभाव है और ध्यान-पक्ष प्रबल है और ध्यान भी निराकार ईश्वर का। अतः पति के रूप का मूल में ही आरोप करना पड़ता है। कृष्ण-भक्ति-मार्ग में जो वृष्ण लिये गये हैं वे वास्तव में शृगार के आलवन रहे हैं, परन्तु सूफी-मत में प्रियतम का आरोप मात्र है। इस कारण सूफी-भक्तों में माधुर्य-भाव रहस्यवाद का एक अंग बन गया है।

वैष्णव भक्ति की परंपरा में कबीर की भक्ति—कबीर की राम-भक्ति वैष्णव भक्ति है चाहे उनके राम रहीम के वाचक ही मंत्री। उन्होंने शुक, उदब, अकूर, हनुमान, ध्रुव, अवरुप, प्रह्लाद, विदुर आदि जिन भक्तों के उदाहरण दिये हैं वे सब वैष्णव भक्ति की धरोहर हैं। इसके अतिरिक्त 'चक्रमुदसन धारयो' आदि अनेक वाक्यों से भी वही प्रमाणित होता है कि कबीर की प्रवृत्ति वैष्णव भक्ति मार्ग की ओर ही थी विष्णु ध्यान सनान करि दे' में भी वैष्णव भक्ति की ओर ही कबीर के भाव का पलड़ा भुका दिखायी पड़ता है चाहे कबीर की दृष्टि में विष्णु का पुराण प्रतिष्ठित रूप भले ही न रहा हो। 'वैष्णव की छपरी भली' अथवा 'वैष्णव की कूरि भली' आदि उक्तियों से भी वैष्णवों के प्रति कबीर

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २१६, ३०२, ३१६, ३२०
२. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २१८

की आदर भावना प्रकीर्णित हाती है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि कबीर कितनी भी वैष्णव वा सम्मान करते हैं। पाराडी वैष्णव का सम्मान उनके हृदय में बिल्कुल नहीं है। इसीसे वे सुना भी दत हैं—

‘वैष्णव ठुग्रा त क्या भया, माला मेली चारि ।

बाहर कवावा रहा, भीतरि भरी भगारि’ ११

वैष्णव भक्ति की एक विशेषता यह रहा है कि उसमें भावना को अधिक महत्त्व दिया गया है। दवाना मानसी सृष्टि’ मादृशी भावना यस्य, ‘सातु परमप्रभरूपा यथा वज्रगोपिवानाम जाकी रही भावना जैसी तिन देखी प्रभु मूरति तैसी आदि उक्तियाँ भी हमारी आखा के सामने वैष्णव भक्ति में भावना का स्थान ला देती हैं। कबीर न भी अपनी भक्ति में भावना की प्रधानता को गिरने नहा दिया। कबीर ने भाव भक्ति पर ही विशेष बल दिया है। उसके बिना यमपुर से बचना असंभव है। भक्ति नारदी रिदं न आई’ से वैष्णव भक्ति और भावना की प्रधानता दाना सिद्ध है। इसका प्रतिरिक्त नारद ने भक्ति-मूत्र में जिन तेरह आसक्तियाँ का निरूपण किया है वे भावाश्रित हैं। उनमें से विरहभक्ति तो भावना का चरमोत्कृष्ट है।

विरहभक्ति के इस चरमोत्कृष्ट को देख कर बहुत से लोग का ध्यान कबीर पर सूफियों से आय हुए प्रभाव की ओर चला जाता है और यह कोई विस्मय की बात नहीं है। निस्तन्देह कबीर की विरह-तीव्रता में सूफी प्रभाव है किन्तु इसे एकान्तत सूफी प्रभाव कहना भी अधिक न्याय संगत प्रतीत नहीं होता। कबीर की विरह भावना में तीव्रता चाहे सूफियों से आयी हो किन्तु उसकी प्रतिष्ठा भारतीय माधुय भावना’ के अनुकूल है। वह एक ऐसा सगम है जिसमें भारतीय और अभारतीय दोनों धारायाँ को देख सकते हैं। जो ही इससे कबीर के भक्ति माग का रूप खडित नहीं होता। नारदी भक्ति अथवा दशधा भक्ति’ जैसे पदा से कबीर की भक्ति में आसक्ति का स्थान स्पष्ट हो जाता है। ईश्वरभक्ति कबीर की भक्ति का प्राण है जो विरह-दशा में उत्कट रूप

१ कबीर प्रयावली, परिशिष्ट साखी १३६

२ कबीर प्रयावली पृष्ठ ३२४

धारण कर लेता है। कबीर की भक्ति जिसे उन्होंने 'भाव भक्ति' से प्रकट किया है, 'प्रेमा भक्ति' है जिसमें सम्योग के चित्र भी प्रकट हुए हैं। सम्योग और वियोग, दोनों दशाग्रो के चित्रों को मिला कर देखने पर भी यह कहना कि कबीर का भक्ति-मार्ग वैष्णव भक्ति-मार्ग नहीं है, अनुचित ही होगा।

कबीर ने वैष्णव भक्ति की श्रृंखला को सुरक्षित रखते हुए भी एक कड़ी को बदल कर दूसरी को लगा दिया है और वह कड़ी है निराकार और निर्गुण की उपासना। कहने की आवश्यकता नहीं कि गीता ने जिस भक्ति को प्रस्तुत किया था उसमें सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार, दोनों की उपासना के लिए अवकाश था किन्तु उसने साकारोपासना के भविष्य के लिए कुछ अधिक आकर्षक धरातल निर्मित कर दिया था। वैष्णव पुराणों ने उसका अधिक उपयोग किया। परिणाम यह हुआ कि निर्गुण-निराकारोपासना सगुण-साकारोपासना की पृष्ठभूमि में चली गयी। फिर भी इस तथ्य का कोई भी पुराण न दबा सका कि भक्ति की चरम परिणति निर्गुण एव निराकार की उपासना में होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि सगुण और साकार की उपासना के रूप में पुराणों ने उपासक को जो सीढ़ी दी थी वह वास्तव में प्रारम्भिक सीढ़ी थी और भक्ति-भावना को दृढ़ करने में उसका अपना महत्त्व था, किन्तु अद्य भक्तों के संबंध में उसने अपने महत्त्व को खो दिया और कबीर के समय के आसपास भक्ति समाज की प्रगति में बाधा बन गयी। जो भारतीय मानस के लिए वरदान बन कर अवतीर्ण हुई थी वही समाज के लिए अभिशाप बन गयी। जिस प्रकार महात्मा कृष्ण ने अपने उपदेशों से वैदिक धर्म में प्रविष्ट हुए विकारों का वहिष्कार किया, उसी प्रकार के एक महापुरुष की आवश्यकता भक्ति को विकारों से मुक्त करने के लिए थी और वह महापुरुष भारतीय जनता को रामानन्द के रूप में मिला जिनके मार्ग का और भी अधिक परिशोध महात्मा कबीर ने किया। महात्मा कबीर का महत्त्व रामानन्द से भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि उन्होंने भक्ति के द्वार को किसी भी धर्म के मानने वाले के लिए खोल दिया। चाहे उसमें परंपरा वैष्णव भक्ति की थी, किन्तु उसके परिष्कृत रूप में जिसका श्रेय कबीर को था, किसी भी व्यक्ति को आपत्ति के लिए स्थान नहीं था।

* कबीर की भक्ति-प्रवृत्ति का अध्ययन करते समय यह न भूला जाना चाहिये कि साकार-चर्या-विधान ने भक्ति का द्वार न केवल निर्गुणों के लिए

बन्द कर रखा था, अपितु धूँदा के लिए भी बन्द था। रामानन्द ने उसे राव के लिए खोल कर एक बहुत बड़ा बराम रिया था, किन्तु चर्या-विधान फिर भी विद्यमान था जिमसे समाज के शरीर में एक काम जंगी दर्द देने वाली चीज घुसी हुई थी। कबीर जैसा प्रतिभाशाली समाज-सुधारक किमी ऐसी धर्म-काण्ड को समाज के अग्र में चुर्भा नहीं रहने दे सकता था जो भीतर ही भीतर विगलन पैदा करके समाज को अग्र-भग करने का प्रयत्न करे।

इसलिए उन्होंने भक्ति का वह रूप चुना जिमें किमी भी स्थान या समाज में स्वीकृत किया जा सकता था। उनकी भक्ति का रूप वैष्णव भक्ति का था, किन्तु उसको निर्गुण और निराकार में अवधित करके विशेष से निविशेष बना दिया। साथ ही उसे सामाजिक या धार्मिक रुझानों से मुक्त करके प्रत्येक उपासक के लिए सुलभ कर दिया। बाह्यघाटबारी में मुक्त होकर कबीर ने भक्ति को सरल भी बना दिया, चाहे वह प्रारम्भ में दुरह ही क्या न प्रतीत होती हो। इसी कारण कबीर के राम में वात्मीक के राम में बहुत बड़ा अन्तर दिखायी देता है। कहना न होगा कि दोनों के राम में नाम के सिया और कोई सादृश्य नहीं है। कबीर के राम में जिस प्रकार 'अस्ताह' का रूप भी दीख सकता है उसी प्रकार 'अस्ताह' में कबीर राम को भी देखते हैं। कबीर का राम या अस्ताह किसी स्थान या धर्म के बधन में नहीं है। वह सबमें है और सब उसमें है। उसका 'जलवा' हर कही है, किन्तु उसको वही देखता है जिसके अन्तश्चक्षु खुले हुए हैं क्योंकि वह अन्तर्लोचनी से ही दिखायी देता है। इसलिए कबीर उसे अपने अन्तर में शोजने का उपदेश देते हैं। भीतर कोई और राम है और बाहर कोई और, ऐसा न कोई समझ ले, इस सबध में सचेत करते कबीर कहते हैं कि 'जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है'।

रामानन्द के शिष्य होने के कारण भी कबीर की भक्ति में वैष्णव तत्त्वों का ही प्राधान्य स्वाभाविक था। उन सब तत्वों में प्रमुख था 'राम-नाम'। जिस प्रकार कबीर के लोचनों में राम की—अपने राम की तस्वीर थी उसी प्रकार 'राम-नाम' के अग्रध में भी उनका अपना सादर्श था। रामानन्द के राम

‘दाशरथी राम’ और ‘परब्रह्म दाना के द्योतरु हं, किन्तु कबीर ने राम नहीं हं। ‘ना जसरथ धरि श्रोतरि आवा’ कह कर उन्होंने इसी बात को सकेतित किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि नाम’ भक्ति माग का एक अग्रगण्य अस्त्र है किन्तु रामानन्द ने राम नाम को लेकर जो आन्दोलन प्रवर्तित किया वह अभूतपूर्व था और कबीर ने राम नाम की महिमा को उनमें भी आगे बढ़ाया। आने गुरु की भाँति कबीर भी राम नाम में अद्भुत शक्ति मानते हैं किन्तु उनका सवध उहाने विशेष स्मरण और ध्यान से जोड़ा है। कबीर का कहना है कि जिस प्रकार खाँड़ कहने से मुह मीठा नहीं होता उसी प्रकार राम कहने से उद्धार नहीं होता। राम-नाम को तल्लीन होकर अपने या स्मरण करने पर ही कबीर विशेष जोड़ देते हैं। जिस नाम-स्मरण में मन लीन नहीं होता वह किसी काम का नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं—

राम नाम बहु क्या करे,
जे मन के औरें काम’ ॥’

राम-नाम को योग्य न हँसी ऐत ममक रखा है। कबीर उसके निर्वाह को इतना मरन नहीं समझते और कहते हैं—

कबीर कठिनाई खरी, मुमिरता हरिनाम।
सुली ऊपरि नट दिशा, गिहृत नाहीं काम’ ॥”

कबीर के नाम-स्मरण का आदेश है मन को राम के साथ इस प्रकार जोड़ देना कि दोनों में अभेद हो जाये। कबीर स्मरण की इस स्थिति का प्रचार करते हैं —

- १ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६-१०
- २ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७ २६
- ३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७ ३१

“मेरा मन गुमिरं राम कू मेरा मन रामहि चाहि ।
अब मन रामहि ह्वै रहया, सोस नचाबो काहि ॥”

यह है राम-नाम के स्मरण का ठीक प्रकार जितका कबीर उपदेश देते हैं। राम-नाम क इम महत्व को धागे भी निभाया गया। तुलसीदास ने ‘नाम’ का निर्गुण और मगुण दाना ब्रह्म रूपा से बना बतलाया है—

“अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सख्या । अजय अगाय अनादि अरूपा ।
मोरें मत बड नाम दुहु तैं । किए जेहि जुग निज बस निज बूतें ॥”

× × × ×

‘एक रामान देविय एक । पावक मम जुग ब्रह्म बिदेकू ।
अभय अगम जुग सुगम नाम तैं । कहेउ नाम बड ब्रह्म राम तैं ॥”

तुलसीदास ने ‘नाम’ की महिमा को बढ़ाने में अवश्य ही एक बंदम आगे रखा उसके मूल्य को भाव और बुनाव’ अथवा विमो भी दसा में कम न होने दिया। इससे तुलसीदास पर एक पंपरा’ का प्रभाव स्पष्ट है। कबीर ने ऐसी बात कभी नहीं कही।

कबीर ने रामानन्द द्वारा परिपुष्ट ‘बाह्य चर्या’ को अपनी भक्ति-मदति में बिल्कुल नहीं अपनाया। उन्हान न तो मंदिर और मूर्ति को मायता दी, और न पूजा के विधि विधान को ही रचीकार किया। अवतारों को भी उन्होने कोई मान्यता नहीं दी। उन्हाने उपासना की जिस विधि का प्रवर्तन किया वह उनके सम्पर्क से नये रूप में प्रकट हुई। इसलिए कबीर की निर्गुण भक्ति में मानसी उपासना का एक विशेष स्थान है। कबीर ने अर्चन-चर्चन से उद्वेग रखने

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-८

२. रामचरितमानस, बाल-काण्ड, नाम-महिमा

३. ‘भाव कुभाय अनख भालत हू।

नाम जपत मगत दिनि बसहू ॥’

—रामचरितमानस, बाल-काण्ड, नाम महिमा

४. अध्यात्म रामायण, सु० का०, सर्ग ११, श्लोक ५७

वाली बंधी भक्ति पद्धति को अपने पंथ में कोई स्थान नहीं दिया जहां कहीं आराधना आदि का जिक्र आया है, वहाँ भी उन्होंने उसका मानसी रूप ही समझाया है। इस प्रकार कबीर ने उन भक्तों को जो मूर्त एक भाव के रूप में प्रादुर्भूत हुई थी बाह्य स्तुति से मुक्त करके फिर मूर्त भाव भक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

मध्य में यह कह देना अनुचित न होगा कि भारतीय भक्ति श्रृंखला की कड़ी के रूप में कबीर की भक्ति एक अनुसम अनुदान है— ऐसा अनुदान जिसने भक्ति को न केवल विचार मुक्त ही किया अपितु उसके द्वारा सामयिक परिस्थितियों के मुनभान की दिशा में भी एक महत्वपूर्ण कदम बढ़ाया। सब तो यह है कि समाज को आम साधन के निमित्त एक अनोखी प्रीति जिसे कबीर ने राम रमायन कहा है प्रदान की। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर भक्ति का मनुष्य के अनिष्ट निवारण एवं रक्षा के दृष्टान्त मानते हैं। यदि मनुष्य की रक्षा का कोई प्रतिम साधन है तो वह कबीर की दृष्टि में भक्ति है। कबीर की भक्ति व्यक्तिगत साधना की चाञ्छ होती हुई भी सामाजिक संस्कार का भी अद्भुत साधन है। उसे ऐकान्तिक कह कर कबीर को पलायनवादी बतलाना एक महापुरुष के साथ भारी अन्याय होगा।

भक्ति के अनेक तत्व—भक्ति के आचार्यों ने भक्ति के दो भेद किये हैं— बंधी और रागातुगा। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि बंधी भक्ति बाह्य विधि विधानों से राख रखती है। अचना चचना व्रत उपवास आरती देव दान तिलक चण्डभूषा तीर्थाटन आदि के बाह्य नियम बंधी भक्ति ही के अन्तर्गत आते हैं। बंधी भक्ति का उद्देश्य रागात्मिक भक्ति का उद्भव है किंतु भावमयी क्रियाएँ ही ईश्वर प्रेम के उद्भव को संभव बनाने में सहायक हो सकती हैं। बंधी भक्ति अपनी बाह्य जटिलता में भाव से विनारा कर सकती है और उसकी भीना अथ श्रद्धा तक पहुँच सकती है। विधि और निषेध के चक्कर में पड़ कर चर्चा भाव भूमि को छोड़ कर घास-पत्तों में पड़ सकती है। आचार्यों का कहना है कि बंधी भक्ति को निर्दोष रूप में निभाना यदि असंभव न हो तो दुष्कर अवश्य है किंतु परिणाम यह होता है कि या तो साधक के प्रयत्न दृढ़ और सनिष्ठ स्वल्प प्रवृत्त हो जाते हैं या वह अपनी भूतों और श्रुतियों के लिए आराध्य से क्षमा-याचना

वन्ता हुआ अपने वा उसके अधिकाधिक समीप ले पहुँचता है । यही वैधी भक्ति गगात्मिका के क्षेत्र में जा पहुँचनी है ।

पिछले पृष्ठों में कई रयाना पर यह कहा जा चुका है कि कबीर को भक्ति का जटिल रूप, जो वैधी भक्ति के रूप में प्रस्तुत हुआ था प्रिय नहीं था । जटिलता का वे आडंबर समझते थे । इस के अतिरिक्त मूर्तिपूजा, निलक छापा आदि विधि चर्याओं का मय घमा के मानन जाने स्वीकार नहीं कर सकते थे । उनसे समाज के पड़ित होने की भक्ति मनावना थी । कबीर एव ऐसा भक्ति का प्रवर्तित एव विवक्षित करता चाहते थे जो व्यक्ति को प्रेम के चरमोत्तरपै तक पहुँचा कर समाज को दृढ़ आधार-भूमि प्रदान करनी । इसी को ध्यान में रखकर रामानन्द के परम सवत्पवान् शिष्य न वैधी भक्ति भी तीव्र आलोचना की ।

कबीर परम आस्तिर एव श्रद्धावान् व्यक्ति थे । उनके हृदय में अगाध ईश्वरानुराग तरंगित था । कभी-कभी तो वे अपने वाणी में प्रेमोत्सुक के रूप में व्यक्त होते हैं और लोकरुबाह्य तक दीखने लगते हैं । कबीर की भक्ति को किसी आचार्य की शास्त्रीय वाणी में स्थान मिले या न मिले, किन्तु उनका स्वरूप गगानुगा भक्ति का है । उसका मवस्व भगवत्प्रेम है । इसका उद्रेक किन अस्थायों में किस प्रकार हुआ ? इस मवध में निश्चित रूप में कुछ कहना तो ठिक है, किन्तु भक्ति-मनीषिया न, जिनमें श्री कृष्ण का नाम सर्वोच्च है, उनके चार कारण बनलाय हैं । कभी तो लाख-सकड़ों से आर्त हाकर मनुष्य भगवत्प्रेम की ओर प्रवृत्त होता है, कभी मनुष्य की जिज्ञासा-प्रवृत्ति उसे धनायास ही प्रेम-पथ पर लजानी है, कभी अर्थार्थी बनता-बनता मनुष्य उसके प्रेम का याचक बन जाता है और कभी तत्त्वज्ञान वा पूर्ण अनुभवो मनुष्य भावत्प्रेमी हो जाता है* ।

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७४, पद २५२

२ कहि कबीर सेवा करहु मन-मरि सुचारि ॥

—कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट पद २०५

३. कहत कबीर राम गुन गायो । हिन्दू तुरक दोऊ समभावो ॥

—कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट पद २१५

४ अनुविधा भजन्ते माम जना सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थो ज्ञानी च भरतर्षभ ॥—गीता ७-६

अपनी-अपनी शक्ति और तमज के अनुसार मनुष्य परमात्मा के प्रति धृष्ट होता है। कोई उसके रूप पर मुग्ध होता है, कोई गुणों पर और कोई उसकी महिमा पर। कोई उनका दान बनना चाहता है, कोई मिन और कोई प्रियतमा। अपनी प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुकूल मनुष्य में जिस प्रकार की आसक्ति का उदय होता है उसी के आश्रय में वह भगवत्प्रेम के मार्ग में अग्रसर हो सकता है। महर्षि नारद ने ११ प्रकार की आसक्तियों^१ का निरूपण किया है—(१) मुखमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणसक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सरयासक्ति, (७) वात्सल्यासक्ति, (८) वान्तासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति (१०) तन्मयासक्ति और (११) परमविरहासक्ति।

इनमें से कोई भी आसक्ति मनुष्य को रागात्मिक भक्ति का पूर्ण माधुर्य प्राप्त करा सकती है। यदि इनमें से कोई आसक्ति न भी हो तो भी अन्य उपायों से भी हृदय में भगवत्प्रेम का उद्रेक हो सकता है। माधु-मेवा, धर्म-श्रद्धा, हरि-गुण कीर्तन आदि साधन ऐसे हैं जो कालान्तर में प्रेमोदय के प्रेरक होते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने ऐसे उपायों से सबंधित रागात्मिक का भक्ति की भूमिकाओं में निम्नलिखित नाम लिये हैं —

(१) महत्प्रेम, (२) तद्वापायता, (३) तद्धम-श्रद्धा, (४) हरिगुण-श्रुति, (५) रत्नकुरोत्पत्ति, (६) स्वरूपाधिगति, (७) प्रेमवृद्धि, (८) परानन्द-स्फूर्ति, (९) स्वतः भगवद्धर्मनिष्ठा, (१०) तद्गुणमालिनी और (११) प्रेम-पराकाष्ठा।

इन सभी भूमिकाओं में श्रद्धा और विश्वास का आधार तो अवश्य ही होता है अन्यथा रागात्मिक भक्ति का उद्रेक घमभव है। श्रद्धा भगवान् की ओर प्रेरित करती है और विश्वास प्रेरणा का निष्ठा का रूप देता है।

हृदय के प्रायः सभी भाव भक्ति में परिणत किए जा सकते हैं जिनमें से तत्ति भाव शक्ति प्रवृत्ति और रागात्मिक भक्ति के अर्थ में अनुसूचित है। यही

कारण है कि भक्ति के प्रकारों में इसको विशेष महत्व दिया गया है। प्राचार्यों ने ईश्वर-रति-भाव से दास्य, सख्य, वान्छल्य, शान्त और मधुर—इन पाँच रसों की निष्पत्ति बतलायी है। अपनी अपनी रचि के अनुरूप भक्त लोग इन रसों का आत्वादन करते हैं। रस की चर्चणावस्था के अन्तगत भावातिरेक की दशा में उपास्य और उपासक का अमेद हो जाने पर महाभाव की अवस्था की प्राप्ति होती है। यह महाभाव मोहन और मादन, दो प्रकार का होता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति में विरह का विशेष महत्व है। मद्योग की अपक्षा वियोग की दशा में भाव में भक्ति तीव्रता होती है। विरह-व्यग्र भक्त का आकर्षण अति प्रबल होता है जिससे वह भाव-लोक में परमात्मा का सानिध्य प्राप्त कर लेता है। इसी को विरह-सयोग (Unity in Separateness) की अभिधा दी जाती है। विरह-सयोग में भक्त को जो अनिर्वचनीय शान्ति मिलती है वह बड़ी मधुर होती है। इसी कारण परम भक्त मायुज्य-मुक्ति की कामना छोड़ कर भेद-भक्ति को अपनाते हैं क्योंकि उसमें आकर्षण का प्रानन्द होता है।

भक्तों के जो चार भेद बतलाए हैं। उनसे भक्ति के दो मूल रूप सामने आते हैं—एक तो स्वामी भक्ति और अन्य निष्पन्न भक्ति। जो भक्ति किसी तौकिक कामना की पूर्ति के लिए की जाती है वह नाम के लिए भक्ति होती है, वास्तव में तो वह एक व्यवसाय है, किन्तु जहाँ कामना की पूर्ति भगवान् में होती है वहाँ सच्ची भक्ति का उदय होता है। भक्ति के इस आदर्श को तुलसीदास ने इन शब्दों में देस सकते हैं—

“कामिय तारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥”

अतएव वैराग्य भक्ति का प्रधान अंग है। सर्व्व भक्ति में लोभ के प्रति भक्ति नहीं रहती। और तो और, कायिक आसक्ति तक नष्ट हो जाती है। अब कुछ इष्टदेव का ममभने और सब में इष्टदेव ही को देवता की क्षमता

विवेक में मिलती है, अतएव विवेक और वैराग्य एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते । विवेक और वैराग्यमय भक्ति ही सच्ची भक्ति होती है और विवेकी एव विरक्त भक्तों को ही नामदास ने भक्ति और भगवान से अभिन्न बतलाया है :—

“भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक ।”

गुरु को भगवान् का स्थान देने की परम्परा का विकास बहुत पहले ही हो चुका था और ‘गुरुब्रह्मा, गुरुविष्णु’ आदि वाक्यों में इसका प्रमाण मिलता है । कबीर ने इसको और आगे बढ़ाया और गुरु को ‘गोविन्द’ से भी ऊँचा उठा दिया ।^१ तुलसीदास ने इसको और भी आगे बढ़ाया और गुरु का नहीं, उन्होंने तो ईश्वर के दास का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा कर दिया—

“भोरे मन प्रभु अस विस्वासा ।

राम ते अधिक रामकर दासा ॥”

भक्ति के आचार्यों ने नवधा भक्ति के नाम पर विशेष जोर दिया है । नवधा भक्ति के अन्तर्गत नौ प्रकार की भक्ति का वर्णन किया जाता है । भागवतपुराण के सप्तम स्कन्ध में नवधा भक्ति का निरूपण इस प्रकार किया गया है —

“श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।

अर्चनं बन्दनं दास्य सख्यमात्मनिवेदनम् ॥”

भगवद्विषय का सुनना ‘श्रवण’ है, भगवद्गुणा का कथन ‘कीर्तन’ है, और भगवद्-गुणों की स्मृति ही ‘स्मरण’ है । भगवच्चरणा का सेवन ही ‘पाद-सेवन’ है । भगवच्छरीर (प्रतिमादिक) का प्रसाधन ‘गर्जन’ है । भगवान की स्तुति में

१. “गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागू पाँव ।

बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय ॥”

—कबीर यथावनी, मं० बा० सं० १, पृष्ठ २

बन्दन कहा जाता है। भगवान् क प्रति 'सध्य-भाव' रस कर अपने को सब-रूप में स्वीकार करना 'दास्य-भाव' है तथा भगवान् को सखा (मित्र) रूप में स्वीकार करना 'नर्य भाव' है और भगवान् का ध्या मसमर्पण कर दान 'आत्मनिवेदन' है।

गहा जाता है कि श्रवण, बानन और स्मरण द्वारा धर्या की वृद्धि हा सकनी है, पाद-सेवन और प्रवण विदवान् का दृढ़ बाने म सहायता होते हैं। इसके उपरान्त दास्य सर्य और आत्मनिवेदन से रागानुगा भक्ति का ज्ञानन्द प्राप्त हा सक्ता है। कहना न होगा कि नवधा भक्ति के म भेद बंधी और रागात्मिका, दोनो प्रकार की भक्तिया को अपने म समाविष्ट कर लेते हैं। जिन ध्याचार्यों ने केवल रागात्मिका भक्ति पर ही विशेष ध्यान दिया है उन्हाने 'नवधा भक्ति' म अपने ढग से संस्कार किया है। इम सवप म अध्यात्मरामायण गत 'नवधा-भक्ति-वणन' दसने योग्य है।

रागात्मिका भक्ति म मन वाणा और क्रिया का गन्वा उपधाण हाना चाहिये इनलिए इस भक्ति क अनुयायी मन म प्रेम, वाणी म जप और कीर्तन तथा क्रिया से सन्नग और समाचरण का समयन करते हैं। रागात्मिका भक्ति क य तीन मूल साधन हैं बयोकि इन तीना के सहयोग के बिना यह (रागानुगा भक्ति) सिद्ध नहीं होती।

कबीर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप—इस विवचन के आधार पर कबीर की भक्ति का तात्त्विक स्वरूप देखा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर ईश्वर क सन्ध प्रेमी थे। व प्रत्यक वस्तु और प्रत्यक स्थान म परमात्मा को सत्ता का अनुभव करने थे।

परमात्मा का स्वरूप—वह एक मात्र सत्ता ही सत्य है। आत्मा उम परमात्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु धम के कारण हम अन्तर दीख पडता है। सिद्धान्तत कबीर परमात्मा का अद्वैत तत्त्व मानते हैं जिससे आत्मा अभिन्न है, किन्तु उस 'अभिन्नानुभूति' की सिद्धि के लिए ही वास्तविक स्वरूप के प्रति आकर्षण की स्थिति आवश्यक है। आर्कषण से ही सायुज्य एव धभेद सिद्ध हो सकता है। भगवान् के प्रति भक्त का यह आनर्पण ही प्रेम या भक्ति है। इम

प्रेम के प्रादुर्भाव के लिए अनेक साधना की आवश्यकता होती ही है, किन्तु नगवत्कृपा के बिना यह प्रेम संभव नहीं होता।

साधुग्रहता—कबीर परमात्मा को अनुभवयोग्य एवं अनुपम बतलाते हैं और उससे अनुभव से ही अपना उद्धार संभव समझते हैं जिमके लिए उनकी अमोघ कृपा परमावश्यक है —

राम राइ तू ऐमा अनुनत अन्नपन, तेरी अनभं धं निस्तरिये ।
जे तुन्ह कृपा करी जगजीवन, तौ कलइ भूलि न परिये ॥'

निर्गुण और निराकार—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कबीर निर्गुणोपासक और मूर्ति पूजा के विरोधी थे क्योंकि मूर्ति-पूजा तत्कालीन सामाजिक एकता में बाधक थी। इसके अतिरिक्त सगुण-साकार की उपासना से आत्मा में वास्तविक स्वप्न की जो निर्गुण और निराकार है, उनकी दृष्टि में, सिद्ध करना असंभव है क्योंकि भेदक अपने सेव्य को प्राप्त होता है। इसलिए कबीर कहते हैं —

'जास का सेवक तास कौ पाइहै,
इष्ट कौ छाडि आनं न जाहीं ।
गुणमई मूरति सेइ सब भेष मिलि,
निरगुण निज रूप बिधास नाहीं ॥''

भाव-भक्ति—कबीर भक्ति के क्षेत्र में जप, तप, व्रत एवं तीर्थ-स्नान को कोई महत्त्व नहीं देते। मध्यम तक उनकी भक्ति में कोई स्थान नहीं पाता। यदि उनका कोई मूल्य हो सकता है तो 'भाव भक्ति' के माध्यम।

विश्वास—ममार आवागमन के चक्र पर चढ़ा हुआ है। जन्म और मृत्यु की सीमाओं में उसे अनेक सुख दुःख का सामना करना पड़ता है। मनुष्य दुःख

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५६, पद १६६

२. 'इय जप थया तप सज्जमा, यथा तीरथ व्रत अस्नान ।
जौ पै जुगति न जानियै, भाव भंगति भगवान ॥''

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६, पद १२१

और बाल-याश से बचना चाहता है। कबीर इनसे बचाने का शक्ति परमात्मा के सिवा और किसी में नहीं पाते। इसलिए वे भक्ति-मार्ग पर जाने के लिए उससे प्रार्थना करते हैं —

“बाधा करहु कृपा जन मारगि लायो, जू नय लयन छूटे ।
जुरा मरन दुख फेरि करन सुख, जोय जनम धे छूटे ॥”

कबीर का विश्वास है कि जिसने प्रेम में लीन होकर परमात्मा को भजा है वही इस आवागमन से मुक्त हो गया है^१। उमर्कों कृपा से क्या नहीं हो सकता? उसकी कृपा को समझ जाने के लिए कबीर ‘अवम भील’ और ‘अजाति गगिका’ के उद्धार की कथा का स्मरण दिला देते हैं और ध्रुव की ‘अटल पदवी’ का सामन ले जाते हैं। मृत्यु का भय, जीवन की निस्मारता और मुक्ति की कामना से कबीर भक्ति की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

जीवन और भक्ति—मानव जीवन या कबीर एवं ईश्वर-प्रदत्त अवसर मानते हैं जिनमें वह भव-बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न कर सकता है। यदि मनुष्य सामाजिक विषयों में ही रत रहता उसने जीवन का—इस महान् अवसर का व्यर्थ कर दिया। इसी कारण उन्होंने कहा है —

‘कबीर हरि की भक्ति करि, तजि विषया रत चोज ।
बार बार नहीं पाइए, मनिया जन्म की मौज ॥”

इस मानव जीवन का सदुपयोग कबीर सदाशरण में मानते हैं और शोध-सेवा एवं भगवद्-गुरु-भजन से बढ़कर भला और क्या सदाशरण हो सकता है, अतएव कबीर इन्हीं का उपदेश देते हैं। उनकी दृष्टि में शोध-सेवा भी भक्ति का ही एक अंग है।

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८८, पद १७६

२ प्रेम प्रीति हयो लीन मन, ते बहुरि न प्राया ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १=१

३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २४-३१

“कबीर यह तन जान है, सकं ती ठाहर लाइ ।
कैसेवा करि साध को, कं गुण गोबिंद के गाइ ॥”

भक्ति की आवश्यकता—कबीर को यह पूर्ण विश्वास है कि इस दुनिया में भगवान के सिवा सगा कोई नहीं है। यहा तो सब स्वार्थ के ही सगे हैं। कोई किसी का साथ नहीं देता। पुत्र-कलत्र तक स्वार्थ में बंधे हुए हैं। इन सबके प्रेम में स्वार्थ भरा हुआ है इसलिए इनके प्रेम को पवित्र प्रेम नहीं कह सकते। सम्पूर्ण मेदिनी पर स्वार्थ छा रहा है। जो भक्त दिखाई पटते हैं वे भी स्वार्थ के दाम हैं। फिर उनके प्रेम को भक्ति का नाम देना भक्ति को बदनाम करना है। जिस प्रेम में मंत्रव राम के सिवा और किसी वस्तु या व्यक्ति से नहीं है वही भक्ति है। ऐसे प्रेम में विभोर होकर भक्त शरीर तक की चिन्ता और ध्याना छोड़ देता है —

“आप सवारथ मेदनी, भगत सवारथ दास ।
कबीर राम सवारथी, जिनि छाडी तन की आस ॥”

कबीर सच्ची भक्ति के क्षेत्र में लेशमात्र भी स्वार्थ स्वीकार नहीं करते, किन्तु भक्ति के कारण दुःख स्वतः विलीन हो जाता है, ऐसा उनका विश्वास है।

यहाँ दोनों बातों की मगति बँटाना दुष्कर प्रतीत होता है, किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर असंगति नहीं दिखायी पड़ती। सच तो यह है कि सच्ची भक्ति अपने आप में मुक्ति है। मुक्ति भक्ति का फल है, उसका लक्ष्य नहीं है। इस फल को सामने लाने के लिए ही वे अनेक परिस्थितियों के चित्र प्रस्तुत करते हैं। वे भक्ति को साधन बनाकर उसमें कामना निहित करने को (चाहे वह मुक्ति की ही कामना क्यों न हो) प्रेरणा नहीं देते। कबीर को भक्ति अज्ञानभक्ति भाव का प्रतिपादन करती है। जिसका खडन भक्ति के फल या उसकी शक्ति का निरूपण करने से कदापि नहीं होता। प्रेमा-भक्ति का एक

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४-३६

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-४१

अर्द्ध क्षण भी जीवन क लोह का बचन बना सकता है किन्तु परोटा बल्ला तब भक्ति के बिना जीना व्यर्थ है —

‘अरघ दिन जीवन भला, भगवत नगति सहैत ।
कोटि कल्प जीवन विद्या नाहि न हरि सू हैत’ ॥

निष्काम भक्ति—कबीर ईश्वर भक्ति में आशा या वांछना की कभी स्थान नहीं दते यह बात उनकी वाणी में पद पद पर व्यक्त होती है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि भगवान पर भरोसा करत हुए मनुष्य को न तो स्वर्ग की कामना कभी चाहिए और न नरक से भयभीत होना चाहिए। आशा व्यर्थ है जो हो रहा है सो हो रहा है और वह उसी की इच्छा से हो रहा है —

“हरण लोक न चाछिये, हरिये न नरक निवास ।
हूँ ना या सो हूँ रह्या, मनहु न कीजै भूढी कासै ॥”

सच्ची भक्ति जिस प्रकार आशा निराशा को कोई स्थान नहीं देती वैसे ही सुख-दुख को कोई स्थान नहीं देती। सुख दुख मन की अनुभूतियाँ हैं और वे तब तक होती हैं जब तक मन ईश्वर-लौकिक नहीं होता। मन के तल्लीन हो जाने पर सुख और दुख दोनों का ही भान नहीं होता। दुख और सुख की स्थिति का भक्त के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रायः लोग दुख में भगवान का स्मरण करत हैं और सुख में भूल जाते हैं। इसी से उन्हें दुख भोगना पड़ता है। यदि वे दुख-सुख दोनों दशाओं में विश्वासपूर्वक भगवान से मन लगाय रहें तो, कबीर का विश्वास है, दुख कदापि न हा —

‘दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न दोइ ।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख फाटे को होइ ॥’

इतना ही नहीं वे तो भगवदभक्त को भ्रमर निवास को ‘गारटी’ कहते हैं —

१. कबीर प्रवाचनी पृष्ठ २२६, पद १२१

२. कबीर प्रवाचनी पृष्ठ १०८ पद १०१

‘काम परे हरि सिमिरिये, एसा सिमरौ नित्त ।
अमरापुर बासा करहु हरि गया सहोरै वित्त’ ॥’

काम पढ़न पर भगवान को याद करना तो लेन-देन या व्यवसाय की बात रही। उसे भक्ति नहीं कह सकते। जहां भक्ति में स्वाध मिला हुआ है वहाँ भक्ति का निमल रूप प्रकट नहीं होता। निमल एव निष्कलुष प्रेम तो वहाँ होता है जहां स्वाध का लेश भी नहीं होता। भक्ति का यह प्रमुख लक्षणा है —

‘स्वारथ को सबको रागा जग सगताही जाणि ।
बिन स्वारथ आदर कर सो हरि को प्रीति पिछाणि’ ॥

भक्ति की प्ररणा—भक्ति प्ररणा^१ व अनक मूत्रा म से भगवत्कृपा प्रमुख है। जिस पर भगवान का अनुग्रह होता है उसी को भक्ति का वरदान मिलता है और जिसको वरदान मिलता है वही भक्ति-भाग पर चल भी सकता है। वह अपन पथ को भूरा नहा सकता और कोई भी कारण उसे भ्रान्त नहीं कर सकता —

जिसहि चलाव पथ तू, तिसहि भुलावै कौण^२ ।

हमारा कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता जब तक कि भगवान का अनुग्रह न हो। अतएव भगवदनुग्रह न केवल प्ररणा का काम करता है अपितु साधन भी बन जाता है, नहीं तो भक्ति का निमाना कोई सरल काम नहीं है —

एक स्रड ही लह और स्रडा बिलचाइ ।
साईं धेरा सुलपना, मूता देइ जगाइ ॥’

१ कबीर प्रथावली पृष्ठ २१० २३

२ कबीर प्रथावली पृष्ठ १२ १५

३ अपनी भक्ति आप ही दुगिड़ी ।

—कधार प्रथावली पृष्ठ २६६ ८

४ कबीर प्रथावली पृष्ठ ६२ १

५ कबीर प्रथावली पृष्ठ ६२ ४

भक्ति-प्रेरणा का दूसरा सूत्र गुरु है। प्रेम के भाव को जगाकर शिष्य को भक्ति मार्ग पर गुरु ही प्रेरित करता है। "सतिगुरु ते सुधि पाई" कह कर कबीर ने भक्ति-प्रेरणा के स्रोत की ओर संकेत किया है और 'गुरुदेव ग्यानी भयो लगनिया सुमिरन दोन्हों हीग' से तो कबीर ने बड़ी दृढ़ता से घोषित किया है कि गुरु भक्ति का प्रेरक होता है।

भक्ति की प्रेरणा एक तीसरे स्तर में और मिलती है और वह है जगत् की अनित्यता और व्यर्थता का सम्यक् ज्ञान। इसी के साथ ही सत्य की खोज भी प्रारंभ हो जाती है और जब अन्तिम एव एकमात्र सत्य परमात्मा में मिल जाता है तो मनुष्य उसकी शक्ति और कृपा की ओर आवृष्ट होने लगता है। जगत् की व्यर्थता का ज्ञान वैराग्य पैदा करता है और परमात्मा की सत्ता और सामर्थ्य का ज्ञान परमात्मा की ओर आकर्षण पैदा करता है। विस्वास के साथ-साथ प्रेम के दृढ़ होने पर भक्ति अपने सच्चे रूप में प्रकट होती है। यही भक्त की मुक्ति है और यही आनन्द है। यही तो आवागमन के चक्कर की श्रृंखला भंग हो जाती है।

इनके अतिरिक्त भक्ति-रस का माधुर्य भी भक्ति का प्रेरक होता है। मनुष्य के सामने प्रत्यक्षत दो रस हैं—एक तो विषय-रस और दूसरा भक्ति-रस। विषयो का परिणाम कटु होता है और भक्ति का मधुर होता है। विषयो से क्षणिक सुख और अमित दुःख उत्पन्न होता है, किन्तु भक्ति में दुःख का नाम भी नहीं होता। वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। भक्ति की परमावस्था में भक्ति, भवन और भगवान् में अभेद हो जाता है। सब लोक प्रायः मधुर रस पसंद करते हैं किन्तु यहाँ एक विपरीत बात दिखायी पड़ती है। लोक परिणामकटु विषय रस में लीन हैं। अपने सामने जाने वालों की दुर्दशा को देखते हुए भी लोग विषयो से निर्विषण नहीं होते, वदाचित् इसलिए कि वे भक्ति के माधुर्य से अवगत नहीं हैं। इसलिए भक्ति की मधुरता का सबेते देते हुए कबीर कहते हैं —

‘राम की नाव अधिक रस मीठी,
बारबार पीके रे’ ।’

वे राम राम के पाने का डग भी बतलाते हैं —

“रसना राम गुन रसि रस पीजे’ ।”

या मनुष्य राम राम के होते हुए भी विषय-लीन है उसको कबीर श्रमणा कहते हैं और फटकारते हैं कि विष तजि राम न अपति श्रमणे’ ।’ कबीर नारदी भक्ति में सम्पूर्ण शरीर को समर्पण करने का उपदेश करते हुए कहते हैं —

‘भयति नारदी मगन सरीरा,
इहि विधि भव तिरि कहे कबीरा’ ।’

इससे वे देह शक्ति भी मुक्त हो जाते हैं। यही जीवन-मुक्ति है। यही भक्ति का फल है और यही स्वयं भक्ति भी है। कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर नारदी भक्ति और भव-सत्तरण को महत्त्व मानते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य प्रेम प्रीति पूवक भगवद्भजन करना है। अन्य सब लक्ष्य व्यर्थ हैं। जिसका मन राम में लीन हो जाता है उसी को स्वरूप ज्ञान हो जाता है और स्वरूप-परिचय में ही भव उधन में मुक्ति निहित है। इससे स्पष्ट है कि कबीर का लक्ष्य भक्ति है और साधन भी भक्ति है। यही भारतीय भक्ति का वास्तविक स्वरूप है। कभी कभी कबीर के शब्दों में ऐसी प्रतीति होने लगती है कि वे भव मुक्ति के निमित्त भक्ति को एक साधन मानते हैं। यदि भाव में प्रविष्ट होकर कबीर के अभिप्राय को खोजा जाय तो वस्तु स्थिति सामने आ जाती है।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६३, पद ३१०

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१३, पद ३७५

३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २१३, पद ३७५

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८३, पद २७८

. ‘प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे ॥”

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७, पद २६०

बबीर की भक्ति के सबंध में दा बाने बिल्कुल स्पष्ट हैं—एक तो यह है कि बबीर का वैराग्य भक्ति को प्रेरित करने के लिए है वह पलायन-वादिता का निराशावाद नहीं है। व सत्कार को छोड़ भागने का उपदेश नहीं दल वरन् उनकी अर्थना को समझ कर उसके प्रति अनासक्ति-भावसे आचरण करने की बात कहते हैं। सत्कार के प्रति आसक्ति का अर्थ है व्यर्थ एव अनित्य वस्तु के प्रति आर्पण जो कभी भी ज्ञानजन्य नहीं हो सकता। इस आर्पण को बबीर अनित्य से नित्य की ओर मोड़ कर जीवन का सार्थक एव सफल बनाने की बातें कहते हैं। दूसरी बात यह है कि भक्ति के सिवा बबीर की भक्ति का कोई अर्थ लक्ष्य नहीं है। उनकी प्रेमा भक्ति स्वतः आनन्दमयी है। वह साधक को दुःख से मुक्त कर देती है क्योंकि उगम स्वरूप-ज्ञान हो जाता है जिससे अज्ञान या भ्रम स प्रतीत होने वाला दुःख विनीत हो जाता है। उस बात का समर्थन तुलसीदास के इन शब्दों में भी पाते हैं—

‘सोइ जानइ जेहि देहु अनाई । जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥

तुम्हहिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन । जानाह भगत भगत उर अन्दन ॥’

इन चौपाइयों में दूसरा गढ़ावि जानत हो जाई ध्यान-पूर्वक देखने योग्य है। इसमें भक्ति व साधन और साध्य दोनों रूप निहित हैं। भक्ति साधन रूप में भगवान के स्वरूप का ज्ञान कराती है और साध्य रूप में वह स्वयं भगवान या भक्त स अभिन्न होती है। तिन ती निज सरूप पहिचाना कह कर बबीर इसी भाव को अभिव्यक्त कर चुके थे।

भक्ति की भूमिकाएँ

१. श्रद्धा और विश्वास—भक्ति ग्रन्थों में भक्ति की अनन्त भूमिकाएँ बतलायी गयी हैं। बबीर ने भी उनका अपने ढंग से निरूपण किया है, सात्त्विक ढंग से नहीं। मैं समझता हूँ श्रद्धा और विश्वास का प्राकुरण भक्ति की पहली भूमिका है। श्रद्धा भक्ति में आर्पण निहित करती है और विश्वास दृढ़ता प्रदान करता है। यही से भक्ति का बीज जमता है। ‘भाव प्रेम की पूजा’ में बबीर ने श्रद्धा और विश्वास दोनों का समावेश कर लिया है। विश्वास क

१ रामचरितमानस, अयो० का०, राम के प्रति वाल्मीकि की उक्ति।

एक मध्यम वर निवारण नहीं होता और अन्तक संग्रह और भ्रम रहता है तबतक भक्ति भाव का उत्पन्न संभव नहीं है। इसलिए कबीर कहते हैं —

पद गाये लंघेन ह्वै फटि न सस घास ।
मई पिछाडे योथरे एक बिना बेसास ॥^१

कबीर तो विश्वास में ही राम का निवास मानते हैं —

गाया तिन पाया नहीं अण गाया थ दूरि ।
जिनि गाया बिसवाससू तिन राम रह्या भरपूरि^२ ॥

विश्वास के बिना भक्ति में अनन्यता नहीं आती। जिस प्रकार पहा जाऊँ, वहा जाऊँ कहाँ जाऊँ के चक्कर में पड़ा हुआ पथिक कहीं जाने का नियम न कर मकान के कारण कहीं नहीं पहुँच पाता इसी प्रकार विश्वासहीन मनुष्य की कोई स्थिति नहीं बन पाती। कबीर ने ठीक ही कहा है —

बार बार की खबरि न जानीं फिरपौ सखल बन एस ।
यहु मन बोहिय के कडवा ज्यों रह्यो ठग्यो सो नंस^३ ॥

सूरदास ने भी जिस उडि जहाज की पछी पुनि जहाज पै आव कहकर भक्ति में विश्वास की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। अविश्वास अनिष्टकारी एवं दुःखद होता है और विश्वास का फल मधुर होना है इसलिए कबीर विश्वास पर जोर देते हैं। भक्ति में जड़नक दडता नहीं आती तबतक अनन्यता भी नहीं आती और दडता का मूल विश्वास है। इसलिए कबीर को कहना पड़ा है —

तजि बावै दाहिए बिकार हरिपद दिड करि महिये^४ ।

कबीर ने भाव भक्ति पर जोर देने के साथ-साथ विश्वास पर भी बहुत जोर दिया है मन्त्र तो यह है कि विश्वास भक्ति का अनिवार्य अंग है और इसके

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १६ १६

२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ५६ २१

३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १३१ पद १३३

४ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १३१ पद १३३

बिना भक्ति चल नहीं सकती है। यही वान कबीर न इस पवित्र म प्रकट की है —

‘नाव भक्ति दिसवास दिन, कटै न ससै मूल’ १”

विश्वानभय भक्ति का अभिप्राय है अनन्य भक्ति। विश्वास का विभाजन प्रस का विभाजन कर देना है और विभक्त दगा म प्रेम अपनी गभीरता और दृष्टता छाड़कर व्यभिचार बन जाना है। अतएव कबीर कहत हैं कि ‘एव राम की ही उपामा करो’ जही इवाविदेव है क्यारि एरहि सार्थ सब सार्थ सब साथे सब जाहि ।’

२. साधु-सेवा—भक्ति की दूसरी भूमिका साधु-सेवा है। साधु-संगति भक्ति को प्रेरणा ही नहीं देती अपितु उम दृढ भी करती है। साधु लोग अपने साथ म रहन वाले को अपना जैसा ही बना लेते हैं —

‘आप सरोखे करि लिए, जे होते उन पास ।’

कबीर साधुओं से मिलन के लिए बडे उत्सुक रहते हैं क्योंकि उनकी संगति के बिना इस लोक में कही चैन नहीं है —

‘कबीर तास मिलाइ, जास हियालो तू बसै ।

‘नहि तर बेगि उठाइ, नित का गजन को सहै’ ॥”

कबीर राम और भक्तन म कोई भेद नहीं समझत। राम या राम-भक्त, किसी के भी मिल जाने से भक्ति सिद्ध हो जाती है —

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४५, पद ४

२. वो है दाता मुक्ति का वो मुमिरावै नाम ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६-८

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५०-७

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५०-१०

५. ‘सत राम है एको’—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७३-३०

‘कबीर बन बन में फिरा, कारण अपणै राम ।
राम तरीखे जर मिले तिन सारे सब काम’ ॥’

कबीर को जिस प्रकार यह विश्वास है कि राम-भक्ति में अमोघ शक्ति है उसी प्रकार यह विश्वास भी है कि साधु-संगति और साधु-सेवा में भी अमोघ-शक्ति है। साधु-संगति कभी निष्फल नहीं जाती —

‘कबीर संगति साथ की, कदे न निरफल होइ ।
चदन होसी दावता, नीव न कहसी कोइ’ ॥’

जिस प्रकार भगवान् की वृषा से ही भगवान् की प्राप्ति होती है वैसे ही साधु-जनो की प्राप्ति भी भगवद्रूपा में ही होती है। साधु-संगति को ही कबीर बँकुठ मानते हैं। उनके ये शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं —

‘साध संगति बँ कुठ चाहि’ ॥’

वे साधु-संगति के महत्त्व को भली भाँति जानते हैं। उनके पावन प्रभाव से वे झण्डी तरह परिचित हैं और तभी वे कहते हैं —

‘सत की गँल न छाडिये, मारगि लाग जाउ ।
पेखत हो पुनीत होइ, भेटत जपिये नाउ’ ॥’

साधु की सेवा के बिना हरि सेवा भी नहीं बन सकती। जिस पर में साधु की सेवा और हरि की सेवा नहीं होती वह इमरान से कम नहीं है —

‘जा घर साध न सेविषहि, हरि की सेवा नाहि ।
ते घर मरहट सारखे, भूत बसहि तिन माहि’ ॥’

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६-५
२. कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ४६-२८१
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६३, पद ६८
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २६०-१४२
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २५५-८४

यह तो यभी कहा गया है कि गुरु भी साधुओं में से एक है । जिस प्रकार साधु और राम में भेद नहीं है उसी प्रकार गुरु और भगवान् में भी अभेद है । जिस प्रकार कबीर ने 'शिव राम है एवों' कहा है उसी प्रकार 'गुरु गोविंद तो एक है' भी कहा है । गुरु-मेवा भी भक्ति की ही एक भूमिका है ।

३. नाम-स्मरण—भक्ति की तीसरी भूमिका नाम-स्मरण है । कबीर उसको 'तत्सार' कहते हैं और 'तत्तिलक' बतलाकर उमके महत्त्व को प्रतिष्ठित करने हैं । यह 'राम' नाम दो अक्षरों से मिलकर बना है । कबीर इन दोनों में शिवन अक्षरों का तत्त्व निहित मानते हैं । अलठ, अलय, निरंजन विष्णु, कृष्ण आदिक भगवान् के अनेक नाम हैं । इन सबको कबीर भगवद्गुणों का प्रतिनिधि बतलाते हैं । वह 'अपरपार' है और उमके अनन्त नाम हैं । उमका बोध किसी भी नाम से हो सकता है —

“अपरपार या नाउ अनन्त, कं कबीर सोई भगवन्तं ।”

‘हरि का नाम त्रिगुण-तत्त्व का सार है । जो श्मम लीन हो जाते है उमका उद्धार हो जाता है’ और ‘जिसका मन श्मम लीन हो जाता है वही आत्म स्वरूप से परिचित हो जाता है । राम-नाम के कहने से भक्ति दूढ होती है और सहज ही में राम-नाम में मन लीन हो जाता है ।’ सच तो यह है कि “भगवान् का नाम ससार-सागर से तरने के लिए उत्तम जलयान है । परमात्मा की बड़ी कृपा हुई जो उमने ससार के लोगों को यह जलयान दिया अन्यथा बड़ी दुर्दशा होती । जिन लोगो ने इस बड़े की दृढता से पकड़ा है वही

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ३-२६
२. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ५-२
३. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ५-३
४. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १३६-१४८ तथा पृष्ठ १८३-२७६
५. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १६६-३२७
६. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १६६-३२७
७. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २१४-३८०
८. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २२७, पद ६-७

भक्त-सागर से पार होकर आनंद को प्राप्त हो गये हैं किन्तु जिनके मन की अस्थिरता के कारण यह हाथ ने छूट गया है वे बुरी तरह से उबे हैं। यह वेडा सबसे पहले मतों के हाथ लगता है जो इसे स्वयं दृढता में पकड़ने हैं और दूसरों को इसका आश्रय प्रदान करते हैं।”

कबीर को राम नाम में पूर्ण विश्वास है। वे ‘वे हरि-नाम-भजन को ही भक्ति बतलाते हैं” और केवल उसी के जाप के लिए आदेश करते हैं। “राम-नाम में लगी हुई जो आवागमन से मुक्ति प्रदान कर देती है।” वे राम-नाम को अत्युत्तम नमनी मानने हैं और उसीमें वे परमात्म-तत्त्व की ऊँचाई पर पहुँचने की घोषणा करते हैं। यह उत्तम वस्तु कबीर को अपने गुरु से मिली है और उसे वे बहुत संभाल कर रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि राम-नाम कबीर का नवस्व है —

“सो धन मेरे हरि का नाउ , गाठि न बाघीं बेंचि न खाउ ॥
नाउ मेरे लेती नाउ मेरे बारी, भगति करौं मैं सरनि-तुम्हारी ॥
नाउ मेरे सेवा नाउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानौं दूजा ॥
नाउ मेरे बधध नाउ मेरे भाई, अत की बिरिया नाउ सहाई ॥
नाउ मेरे निरधन ज्यू निधि पाई, कहै कबीर जंमं रक मिठाई” ॥”

कबीर नाम को एक ऐसा हीरा मानते हैं जिसको हृदय में धारण करने में न केवल अज्ञान निमिर नष्ट हो जाता है बरन् त्रिविध तम भी विनष्ट हो जाते हैं। साथ ही तीनों लोको में उससे शोभा बढ़ जाती है —

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४१, पं १६-२४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६७-८
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११६-३२०
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२२-१०८
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२२-१०८
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०१-३३३

राम नाम हृद घटि निरमोलिव होरा ।
सोभा तिहू लोक तिमर जाय त्रिविधपोरा ॥'

राम रस अति मधुर है । इसके समान मधुर और कोई वस्तु है ही नहीं ।
इसी कारण वे उसी रस क पान करने का उपदेश देते हैं —

ईहि चिति छाखि सब रस दीठा ।
राम नाम सा और न मोठा ॥

कवार राम नाम की प्राप्ति को बड़ भाग्य की बात मानते हैं और उस
वे चित्तमणि की उपाधि देते हैं क्योंकि उसको प्राप्त करके और कुछ प्राप्तव्य
उही रह जाता । इससे वे बार बार राम जपने के लिए ही उपदेश देते हैं —

'राम भणि राम भणि राम चित्तमणि ।
नाम बड पापी छाड' जनि' ॥

जिस प्रकार राम विश्व में व्याप्त है उसी प्रकार नाम भी विश्व में
व्याप्त है । उस खोजन के लिए फिरन की आवश्यकता नहीं है । इसके जपन के
लिए एक विषय ढंग की आवश्यकता है । राम का जाप इस प्रकार करना चाहिये
जिससे जीवन के अन्त की परिस्थिति उद्धारम हो । मन वाणी और नम से राम
का स्मरण ही साधक हाता है । सब वितामा का छोड़ कर भक्त तो एक हरि नाम
का ही चिन्तन करता है । अभ्यास में नाम में अविरल प्रीति हो जाती है । इस
अविरल प्रीति में विश्वास अनिवाय है जा राम-नाम के स्मरण का स्वतः फल है ।'

१ कवार प्रयावली पृष्ठ १८७ ३२७

२ कवार प्रयावली पृष्ठ १३६ १४८

३ कवार प्रयावली पृष्ठ १२७ १२९

४ कवार प्रयावली पृष्ठ ८२ ८

५ राम नाम सीधा श्रमो, फल लाग्य ब सास ॥

—कवार प्रयावली पृष्ठ ७ ३७

६ कवार प्रयावली पृष्ठ ५६ १६

प्रतिपूर्वक मन लगा कर अपने से राम का नाम अपने वाले को राम बना देना है। कबीर ने कहा भी है —

‘तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।’

‘राम-नाम का स्मरण करने से राम स विभोग नहीं होता।’ राम-नाम के मंत्रध में कबीर दो बातें कहते हैं जो देखने में विरोधी लगती हैं—एक तो यह है कि ‘राम का नाम लूट का मात है और जिसमें लूटने की शक्ति है वह लूट सकता है।’ दूसरी बात यह है कि ‘राम-नाम का स्मरण में एक कठिनाई भी होती है और वह है बिल्कुल उम नट की रत्ता के समान जो गूली के ऊपर उसका प्रदर्शन करता है।’ जिस प्रकार पतन की दशा में उमका बचना कठिन है उसी प्रकार जो राम-नाम से पतित हो जाता है उसकी भी रक्षा नामव नहीं है। वह भी विनाश को प्राप्त हो जाता है। ये दोनों बातें एक दूसरी की संगति में हैं। राम के नाम की प्राप्ति कठिन नहीं है, किन्तु उसके स्मरण का समुचित निर्वाह बहुत कठिन है। कबीर एक रूप में ‘नाम’ को जहाज बतलाकर और उसका केवट साधुओं को कह कर नाम-स्मरण एवं नादु-भक्ति के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश डालते हैं।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि नाम के प्रति कबीर का दृष्टा आग्रह है अतएव वे लोगों को उपदेश देते हुए कहते हैं—‘आप लोगों का कर्तव्य केवल अपने आप ‘राम-राम’ कहना नहीं है।’ कबीर को विश्वास है कि राम-नाम से मनुष्य का उद्धार होता है और जितने अधिक लोगों का उद्धार हो उतना

१. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ५-६
२. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ७-२८
३. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ७-२५
४. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ७-२६
५. ‘नाव जिहाज खेवाइया साधू।’

—कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १५२-१८६

६. कबीर ग्रथावली, पृष्ठ ६-२३

ही अच्छा है। "वह कबीर तो बच्चे घट्टे के समान है और किसी और से चोट खाकर नष्ट हो सकता है। ऐसी चोटों का इस पर आघात न हो, इसके लिए कबीर एक ही उपाय सनभ्रते हैं और वह है 'राम-नाम'।" अशुभ कर्मों को नष्ट करने की और साधक व रक्षक की जितनी श्रमोप रक्ति राम नाम में है उतनी और किसी में नहीं है। अनेक पुण्य कर्म भी भनुप्य का उद्धार करने में समर्थ नहीं होते। क्षण भर का राम-नाम स्थिति को बिल्कुल बदल देता है। इसीलिए कबीर कहते हैं कि राम-नाम के बिना मुक्ति का कोई सटारा नहीं है, किन्तु विवेक स्मरण का सञ्चर होना चाहिये। कबीर का यह कहना है कि 'बोर्ड भ्रम पैनी पनक र्म, जे रचक घात्रै नाउ', किन्तु व यह भी कहते हैं कि 'उस कीर्तन का जिससे विवेक नहीं है, कोई मूल्य नहीं है। वह तो बेबल दिखाया है'। इस कारण 'राम' मंत्र के जाप के साथ उसके ध्यान पर भी जोर देते हैं जिससे मन राम में रम जाय। भक्ति की यह भूमिका भी बड़ी मोहक है क्योंकि कबीर को नाम के सिवा और किसी में शक्ति ही दिखायी नहीं देता। नाम का मर्म परिचय के बिना ज्ञात नहीं होता। "कहने के लिए तो कोई भी राम-नाम कर सकता है किन्तु जो उसके मर्म को जानते हैं ऐसे व्यक्ति थोड़े ही हैं।"

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २४-३८

२. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ६-२०

३. "मुक्ति नहीं हरि नाव बिन, यो कह बास कबीर।"

—कबीर प्रथावली, पृष्ठ ३७-१६

४. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ६-२१

५. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ३८-५

६. कबीर प्रथावली, पृष्ठ ७-३०

७. "आसति कहूँ न देखिहुँ बिन नाव तुम्हारे।"

—कबीर प्रथावली, पृष्ठ १५२-१६०

८. 'राम नाम सब कोई ब्रह्मार्ज, राम नाम का भ्रम न जाने।
कहे कबीर कसू कहत न आवे, परचें बिना भग्म को यावे ॥'

—कबीर प्रथावली, पृष्ठ १६९-२१८

५ गुण-कीर्तन—भक्ति की चौथी भूमिका हरि-गुण-कीर्तन है। कबीर के राम सिद्धान्तत निर्गुण एव निराकार हैं, किन्तु भक्ति क्षेत्र में भवध-कल्पना करनी पड़ती है। उस निर्गुण में वे गुणों का आरोप करते हैं। गुणों के उस आरोप में परमात्मा का निर्गुणत्व समाप्त नहीं कर दिया जाता। वह अपने आप में माया के तीनों गुणों से परे है और आरोपित गुणों से उनमें किसी विक्रिया के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी आरोपित गुण भक्त को भगवान् के नाश्विध्य में ल जाने में बड़े सहायक होने हैं। भगवान् के हम जैसे गुणों का भजन करते हैं हमारे भीतर भी वैसे ही गुणों का विकास होता चला जाता है। एक समय ऐसा आता है जब कि हमारे भीतर विकसित सात्त्विक गुण भी विलीन हो जाते हैं और हम तद्रूप हो जाते हैं। इमों का परिचय कबीर ने यह कह कर दिया है—

“गुण गाये गुण नाम कटे, रटै न राम विबोग”^१।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति एक भाव है जो हृदय की तरंग है। इसी तरंग से प्रेरित होकर कबीर ‘राम’ के रिभाने तक की बात कह जाते हैं। यही ‘अलौकिक’ में ‘लौकिक’ का आरोप है। जिस प्रकार हम अपने गुणों को किसी गायक से सुन कर उस पर रीझते हैं उसी प्रकार परमात्मा भी उपासक के मुख से गुण-वर्णन सुन कर रीझता है। हम अपनी प्रशंसा के कारण रीझते हैं जो दुर्बलता है, किन्तु वह गायक पर इसलिए रीझता है कि वह उनमें मुक्ति की प्रवृत्ति देखता है। परमात्मा के गुणों में ‘अमृतत्व’ बतलाकर कबीर ने इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। कबीर के निम्नलिखित शब्द इसी रहस्य को स्पष्ट करने देख पड़ते हैं—

“कबीर राम रिभाइ लें मुख अमृत गुण गाई”^१।

भाव की लहर में किन्तु भाव ही की रक्षा के लिए कबीर ‘निर्गुण’ में गुणों का आरोप अवश्य करते हैं, किन्तु वे मर्यादीत हो सकते हैं। क्योंकि परमात्मा अनन्त और असीम है। इसलिए उनमें अनन्त गुणों की कल्पना उनके

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७-२८

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७-३१

मनुष्य ही है। भावना अपन किसी कारण से भावान् म गुण दल सकती है और भावुक उसी गुण व साध म टलता जाता है। इसी बात की पुष्टि कबीर की इस उक्ति म मिलती है—

“जिहि हरो जैता जाणिया तिनकू तैसा साभ ।

कबीर की भावना परमात्मा की अनन्तता से अभिभूत है क्योंकि उन्होंने उसम अनन्त गुणों का वैभव देखकर विस्मय भरे शब्दों म कहा है—

‘सात सभद की मसि करौ, लेखत सब बनराई ।

धरती सब बागद करी तऊहरि गुण लिख्या न जाई’ ॥’

भक्त परमात्मा के किन गुणों का गान कर इस विषय म कबीर किसी प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करते। जिसको जो गुण अच्छा लगे वह उस अपना सकता है क्योंकि मीठे की कोई परिभाषा नहीं है। जिस का जो मिठाई भाती है उसका लिए वही मिठाई है—

‘मंठो कहा जाहि जो भावं ।

दास कबीर राम गुन तावं’ ॥

राम गुण की मिठाई हर किसी का अच्छा नहीं लगती। “बापों का तो राम बिल्कुल ही अच्छा नहीं लगना। बहता विषय विकारा मही लीन रहता है”।^१ किन्तु ‘साधु उनक गुणों को कभी नहीं भुला सकता क्योंकि वह परमात्मा का बड़ा आभारी है जिसने उस नेत्र, नासिका, दान आदि अमूल्य वस्तुएं प्रदान की हैं और जिनके उनका भोजन वस्त्र दिए हैं’।^२ वह ना उसक गुणों का स्मरण करना अपना कर्तव्य समझता है। ऐसे शब्दों से कबीर परमात्मा म ‘वतृत्व’ की भाँ बल्पता कर लेते हैं और यह बल्पता उनकी अति भावना की एक दृढ़ भूमिका

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-५

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३६-१४७

३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२०-२२८

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७७-२२१

को तैयार करती है। कबीर का विश्वास है कि जो हरि-भजन करने वाले हैं वे विकारी का परित्याग कर देते हैं क्योंकि उनमें भगवद्गुणों का उदय हो जाता है। ऐसे ही मनुष्य वास्तव में पवित्र होते हैं। कबीर उन लोगों को पवित्र नहीं मानते जो 'छुआ-छूत' का विचार करते हैं।^१

कबीर उन एक को अनेक भावा में देखते हैं। बीज एक है किन्तु उनसे वृक्ष की अनेक शाखा प्रशाखाएँ प्रकट हुई हैं। वह मूल बीज सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में परे हैं। उसे तो विवेकी ही नमस्कृत करता है। इस के अतिरिक्त मनुष्य के अनेक भाव परमात्मा को उसके हृदय में अनेक रूपों में प्रतिष्ठित कर लेते हैं।

परमात्मा के गुणों के ध्यान में सेवा भाव परमावश्यक है। जहाँ सेवा का भाव है वही गुरारी की मत्ता है। मन लोग सेवा भाव में शोचप्रोत होते हैं अतएव इसके प्रादुर्भाव के लिए सत्त्व की 'उपेक्षा बदापि नहीं की जा सकती'।^२

जो लोग भगवान् के गुणों को भूल गये हैं वे कबीर की दृष्टि में भगवान् के चोर हैं क्योंकि भगवान् की दी हुई नियामतों का वे उपयोग न करके उनको व्यर्थ कर रहे हैं। ऐसे मनुष्यों की तुलना वे चमगावड़ों से करते हैं। कबीर तो उसी को गुणी और पवित्र कहते हैं जो दूसरों के साथ मिल कर हरि-गुणमान करता है^३।

५ विनय-सैन्य-प्रकाशन—यह है कबीर भक्ति की पाँचवीं भूमिका। इस भूमिका पर स्थित भक्त अपनी दुर्बलताओं को भगवान् के सामने खोल कर गिड़गिड़ाना प्रकृत होता है। वह अपने को विगी भी हीनावस्था में प्रकट करने के लिए उद्यत रहता है। कबीर के शब्दों में उनकी एक ऐसी ही अवस्था का अवलोकन कीजिये —

“कबीर कृता राम का, मुतिया मेरा नाउ ।
गलँ राम की जेवड़ी, जित खँचँ तित जाउ” ॥^४

- १ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७३-२५१
- २ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२७-१२९
- ३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३-२८
- ४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८६
- ५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०-१४

इस सारी स यह स्पष्ट है कि जो कबीर साधारणतया रूप-रूप से प्रतीत हान है वही विनय की चरम सीमा पर आ पहुँचे हैं। ऐसा विनय प्रमाण कबीर हर किमो के सामन नहीं करत। किसी भी राजा को व बोरी-कारी सुना देत है किसी भी अभिमानी के अभिमान पर व बाणों का कठोराघात कर दते हैं किन्तु भगवान् और भगवद्भक्ता के सबध म व बड नम्र हा जाते हैं। जिसव पत्र स राम का नाम निबल पन्ता है उसरा व बहुत विप्र मानत है और अपन गरीर के चम को उसके पैरा की जूती बना देत तत व निर तैबार हा जाते हैं।^१

कबीर आवागमन के नाच से परेशान हा गय हैं। वे जानते हे कि नृम वाय के अनुरूप होना है। परमामा के वादन (इच्छा) के अनुरूप नाचने-नाचते कबीर बहुत दुखी हो चुके हैं। अतएव वे उसस अधिक न नचाने की प्रार्थना करते हैं और कहते हैं— ह राम ! मरी इनती सी विनय है कि अब नचाना बन्द करव मुझे अपन चरणा वा दानन देने की कृपा कीजिय ।^२

विषय वामनाएँ मरा पीछा नहीं छोड़ रहीं हैं। मैं उन को छोड़ना चाहता हूँ, किन्तु छाड़ नहीं पा रहा हूँ। चाहे घन छाड़ दू, वनछड म जा रहूँ और कट मूल पर निर्वाह करता रहूँ फिर भी मन गदगी स मुक्त नहीं हा रहा है। मैं जितना मुनभान क लिए प्रयत्न करता हूँ उतना ही उलभता जाता हूँ। हे केशव ! आप ता घट घट वासा हैं और अब कुछ जानत हैं। मैं पापी हूँ, इसमे कोई सन्देह नहीं है, किन्तु आप जैसा कोई दाता भी ता नहीं है। अब ता आप को ही मरी रक्षा करना होगो।^३

कबीर कहत हैं—' ह दामोदर ! म नहीं जानता कि मैं इस तसार न किस कारण से जन्म लिया है और मैं यह भी नहीं जानता कि पैदा होकर येन कोई मुस भी पाया है, किंतु मुझे अपना अपराध अवश्य जान है। मैंने प्रेमपूर्वक आप की भक्ति नहीं की। आप तो बड कृपालु हैं, और भवहारो भवतवलन हैं।

१ कबीर प्रधावली, पृष्ठ २६१-२५६

२ कबीर प्रधावली, पृष्ठ ११३-७८

३ कबीर प्रधावली पृष्ठ १४८-१७८

अब आप कृपा करके मेरी बुद्धि को प्रेरणा दीजिये और उमे दृढता प्रदान कीजिये।" 'गायत्री मंत्र में वैदिक ऋषि की भी इन्ही प्रार्थना की शार्थता है।'

कबीर सांसारिक पीडाओं से बड़ आर्त हो रहे हैं। वे साफ-भाफ स्वीकार कर लेते हैं कि उनका मन राम की ओर इसलिए मुड़ा है कि लोक में उन्हें दुख ही दुख दिखाई दिया है और उसमें वे बड़े भयभीत हैं। जननी के जठर में जन्म के पहले ही दुख भोगना पड़ा। वह भय अब तक उनके ऊपर सवार है। काया दिन-दिन क्षीण हो रही है, जरा प्रकट हो रही है और काल वेग पकड़ कर अपना मृदाग बजा रहा है। इन विपत्ति से वे अपना मुक्ति उम समय तक मभव नहीं समझते जबतक कि भगवान् की कृपा न हो। इसलिए वे ग्रह प्रार्थना करते हैं—'हे करुणामय ! इतनी कृपा कीजिय कि मैं आप को भूल न जाऊँ।'

कातर कबीर माधव से बड़े परिचित स्वर में पूजते हैं—'हे माधव ! मेरे ऊपर आपकी दया कब होगी जबकि मैं काम, क्रोध, ग्रहकार आदि में मुक्त होकर माया के च्युल में छूट जाऊँगा। इन दुख को किससे कहूँ, कोई समझ नहीं सकता। आप से तो यही प्रार्थना है कि मेरे विकारों को दूर करके मुझे अपना दर्शन दीजिये।'

कबीर के विनय में निश्चयता की भावना है। ऐसा प्रतीत होता है कि राम से कबीर का परिचय बड़ गया है। वे उनके सामने अधिक स्पष्ट हो गये हैं। "यदि लोग मुझे नहीं समझते तो मुझे चिन्ता नहीं है। वे मेरे सबब में वे कुछ भी कहे। वे मुझे पागल कहते हैं तो कहते रहे। यदि मैं पागल हूँ तो भी आपका हूँ।"

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १५३-१६१
२. 'धियो योन' प्रबोदयात्'।
३. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १६४-२२३
४. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १६२-३०८
५. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २०४-३४३

कबीर को गण्वादिना राम क साथ ना प्रसरता धारण कर रही है और यहाँ तक कह टाउत ह— हमहि बुमपग क्या तुम्हहि अजाना । विनय की सहरो म उठलत हुवत कबीर इन शब्दा क गाय राम का गरण म जा पडने ह —

राम राई भरा बहूचा मुनोज
पहने बकमि अय लेला लोर्जे ।
कहै कबीर जाप राम राया
अजहू सरनि तुम्हारी आया ॥

६ शरणागति एव आत्मसमर्पण—यह कबार का भक्ति की अन्तिम भूमिका है। इस पर कबार अपनी समय दुर्बलताया को खोजार करत हुए अपनी ममग्र शक्ति और सामर्थ्य को भगवदपण कर दत ह । इस भूमिका के हम पाँच पहलू पडते दिखायी ह । इस का प्रथम पक्ष वह है जिसम कबीर अपनी विवशता का अनुभव करते ह और अपना सम्पूर्ण विवशता क साथ के भगवान् की शरण म जा पन्ते ह —

कहै कबीर नही वस मेरा,
मुनिये देव सुरारी ।
इत भंभीत डरी जम डूतनि,
आये सरनि तुम्हारी ॥ १ ॥

इस भूमिका क दूसरे पहलू म कबार राम म अनन्याश्रय की भावना करत है । इस पर उह परमात्मा के सिवा अपना और कुछ नहीं दिखायी पडता और के कह भी देत ह —

‘तारण तिरग तिला तू तारण, और न डूजा जानी ।
कहै कबीर सरनाई आयो आन देव नही मानो ॥’

१. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २०७-२५८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०७-२५७
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७६-२६६
४. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०३-११२

धरणागति के तीसरे तल पर कबीर का मोह माया में छुटकारा हो जाता है क्योंकि उसका झूठा रूप उनके सामने आ जाता है और माया में भिष्यात्व की भावना उन्हें परमात्मा की शरण में आने के लिए प्रेरित करती है। वे भगवान् की शरण में आकर अपनी प्रभुत्व-भावना का विमर्जन करके अपना सर्वस्व उसी को समर्पित करने हुए कहते हैं —

“मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझ को सोपता, क्या तार्य मेरा” ॥”

इस तल पर कबीर को मजसब (शरीर तक) के प्रति अनासक्ति हो जाती है और उसे भगवान् को सोनने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती ।

इस भूमिका के चौथे तल पर कबीर अपने ऊपर परमात्मा का पूर्ण अधिकार स्वीकार करके अपने को उसकी इच्छा को सोप देने हैं—

‘अ गुलाम मोहि जेचि गुमाई ।
तन मन धन मेरा राम जी कैं ताई ॥
आनि कबीरा हाटि उतारा ।
सोई ग्राहक सोई बेचनहारा’ ॥”

भूमिका के अन्तिम तल पर कबीर निस्मयाविष्ट हो जाते हैं। वे परमात्मा के सन्निध में बहुत कुछ जानते हुए भी न जानने का अनुभव करते हैं और यह कठते हुए मौनश्रम लेते प्रतीत होते हैं—

‘तेरी गति तूही जानै, कबीरा तो सरना’ ।’

इस प्रकार कबीर की भक्ति की छै भूमिकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैराग्य न केवल भक्ति को प्रेरित करता है अपितु स्वयं

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९-३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२४-११३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६३-२१६

उ का काम करता है। बंराग्य के साथ ही श्रद्धा और विश्वास की स्थिति है अतएव इसका भी उसी भूमिका का अंग मान सकते हैं।

कबीर ने 'दशधा' की बात कह कर भक्ति व धार्या व लिए एक या प्रस्तुत कर दी है, किन्तु उसमें कोई मन्देह नहीं कि 'नयधा भक्ति' के -पिटे रूप का शरीर न स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसमें यथविश्वास के क लिए अधिक अवकाश था। कबीर की दशधा भक्ति 'भावभक्ति' है म जिम्हा कामना को स्थान नहीं है, विश्वास सहित भावभक्ति ही उनकी व का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करती है। हमारे सामने कबीर अपने ही शब्दों श्व भक्ति का रूप इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

नन निहारौं तुभकौं खयन सुनहुं तुव नाउ ।
 भेन उचारहु तुव नाम जी, चरन कमल रिद टाउ ॥”

कबीर क कहने का तात्पर्य यह है कि यदि दिश्य व वग-वगु म भगव- प्रति दिलायी पड, प्रत्यक्ष वचन म भगवधाम सुनायी पड, वाणी पर उचका म धारुड हा जाय और हृदय म उसकी स्थिति हा जाय ता समझिय कि भक्ति इ हो गयी। 'नैन निहारौं तुभकौं' का अभिप्राय यह नहीं है कि कबीर ने साका- शासना को मान्यता दी है, अपितु इसका अर्थ 'उसकी व्याप्ति की अनुभूति' है। े प्रकार 'चरण कमल' का अर्थ भी हृदय में भगवान् की स्थिति की अनुभूति ही है।

कबीर की भक्ति में भावा की प्रतिष्ठा स्पष्टत दिवायी पडती है:—
 (१) शिष्य भाव, (२) वत्सभाव, (३) दास-भाव, तथा (४) वान्ता-भाव।

{१} कबीर ने गुर और गोविन्द म न केवल अभेद माना है, अपितु गोविन्द गुरु का दर्शन भी किया है। आस्तिका ने परमात्मा को परम गुरु माना है। वीर भी 'गोविन्द को जगद्गुरु' कहते हैं।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५२-८८

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१८-३६०, 'अगत गुर गोविन्द रे ।'

अपने दूसरे भाव के अन्तर्गत कबीर परमात्मा को माता पिता के रूप में देखते हैं। परमात्मा को माता मानते हुए कबीर विनम्रपूजक बहते हैं—'हे हरि रूपी माता, मैं तेरा बालक हूँ। फिर मेरे अवगुणों को क्या नहीं क्षमा करती ? लौकिक माता के सामने पुत्र न जाने कितने अपराध करता है किन्तु माता उन में से किसी पर ध्यान नहीं देती। बालक का अपराध कभी-कभी तो इस सीमा तक पहुँच जाता है कि माँ के केश पकड़ कर उस पर आघात तक कर देता है, फिर भी उसके प्रति माता का प्रेम कम नहीं होता। डाना ही नहीं बरन् बालक को दुधिया देख कर माता को गो दुध होता है।'

जिस प्रकार माँ के सामने कबीर अपने अपराधों को स्वीकार कर लेते हैं। उसी प्रकार पिता (परमात्मा) के सामने भी वे अपने अपराध स्वीकार कर लेते हैं। पिता के प्रेम को अपनी घोर खींचने के लिए कबीर उसी प्रकार का उपाय करते हैं जिम प्रकार का कि वे माँ के प्रेम को खींचने का प्रयत्न करते हैं। भूल से उन्होंने कुछ काम ऐसे कर दिये हैं जिनके कारण उनका हृदय भय से काँपता है। फिर भी वे राम पिता से कुछ कहने का अवसर प्राप्त करते हैं और अपराधों का विवरण माँगने से पूर्व क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करते हैं। यह कबीर की घरेलू युक्ति है। क्षमा कर देने पर पिता का लेखा लेना कुछ प्रथ नहीं रखता। राम के प्रति कबीर द्वारा यह एक निरुक्त मयध की स्थापना है।

तीसरे भाव से कबीर भगवान् को स्वामी या प्रभु के रूप में देखते हैं। इस भाव के अन्तर्गत कबीर राम को राजा भी मान लेते हैं और स्वामी भी। राम राजा ही कबीर की 'नव निधि' है। अपने ठाकुर (स्वामी) की प्रकृति का संकेत देते हुए कहते हैं—

“दास कबीर की ठाकुर ऐसी,
भक्ति करै हरि ताकी रे” ॥”

चौथा भाव पति-भाव है। कबीर की भक्ति में यह भाव अधिक प्रबल दिखायी पड़ता है। इसमें माधुर्य की बड़ी सरस लहरें उमड़ती दीख पड़ती हैं।

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३००-१२४

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०४-४८

इसका विवेचन अन्तर्ग्र किया जा चुका है ।

भक्ति के अन्तराध—जिस प्रकार मत्स्य, वैराग्य आदि भक्ति के साधन हैं उसी प्रकार कुसगति, निपमरति, सन्तप, राग-द्वेष, आशा, स्वार्थ आदि में भक्ति में बाधा पड़ती है । भक्ति का मन्त्रमे बड़ा मन्त्र कुसग है । नारद न भक्ति-सूत्र में दुःसग को मवया त्याज्य कहा है । कबीर श्री कुसगति का विनाशक बनलाते हैं । उनका कहना है— कुसगति में पड कर मनुष्य अपना मूल-नाश कर लेता है, जैसे ही जैसे कि मूमि के विकारा में मूल कर आकाश की बूंद अपनी निर्मलता को बंटती है । विषय रति और हार प्रेम में विरोध है । जयतक मन में विषय रहते हैं तबतक उसमें हरि का निधाम नहा जाना और जब उनमें हरि का निवास हो जाता है तब विषय निकल भागत है—

“जब बिषे पियारी प्रीति सू, तब अंतरी हरि नाहि ।

जब अन्तर हरि जो बसै, तब बिपिया सू चित्त नाहि” ॥”

जिस हृदय में सस्य रहता है उस हृदय में भी हरि-प्रेम नहीं रह सकता क्योंकि सस्य विश्वास का नहीं टहल देता । मद्य के कारण उपासक उपास्य का सानिध्य प्राप्त नहीं कर सकता और जहाँ राम का प्रेम होता है वहाँ उपासक और उपास्य में अन्तर रह ही नहीं सकता—

“जिहि घट में ससौ बसै तिहि घटि राम जोइ ।

राम सनेही दास बिधि, तिणा न सचर होइ” ॥”

राम आभक्ति और भय को जन्म देता है और जबतक मनुष्य के हृदय में इनका आसन रहता है तबतक वह भगवत्प्रेम का आसन नहीं बन सकता इनका आसन तभी उखड़ता है जब परमात्मा में विश्वास जमता है, उसके प्रति प्रेम होता है । राम का स्मरण ही भय को भगा सकता है । उसमें दृढ़ता चाहिये । जब तक स्मरण दृढ़ नहीं होता तबतक भय का अड्डा नहीं उखड़ता और भय के

१ ना० भ० म० ४३

कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१३

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१४

साथ श्लेषादि भी जमे रहते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि राग-द्वेष को हृदय से निकालने का उत्कट प्रयत्न किया जाये।

भक्ति-मार्ग में आशा भी एक प्रबल विघ्न प्रस्तुत करती है। कबीर लोक से कोई आशा करना व्यर्थ समझते हैं। लौकिक आनाएँ उपास्य को राम के समीप नहीं जाने देती और राम में विश्वास नहीं जमाने देती और न वे अनन्य भाव की प्रतिष्ठा होने देती हैं। राम के उपासक को किसी से आशा नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसको आवश्यकता ही नहीं रहती। जो पानी में रहता है वह भी प्यासा मरे तो बड़े आश्चर्य की बात है।" हरि-भक्त को तो शरीर की भी आशा नहीं करनी चाहिये क्योंकि जब तक शरीर के प्रांत आसक्ति रहती है तब तक भक्ति-भाव नहीं आता। कबीर का विश्वास है कि आशा मनुष्य-विश्वाम को नहीं जमाने देती और मन को चञ्चल बनाती है। आशा चिन्ता को भी बढाती है। इसलिए कबीर कहते हैं—

“तरंग लोक न बाछिये, डरिये न नरक निवास।
हूणा था सो ह्वँ रह्या, मनहु न कोजँ भूठी आस”।

“जिस हृदय में आशा विसर्जित हो जाती है तब हरि स्वयं भक्त की सेवा करता है कि कही भक्त को दुख न हो”।

स्वार्थ भी भक्ति पथ में आनेवाला एक भीषण अन्तराय है। आशा का जनक ही वास्तव में स्वार्थ है। स्वार्थ मनुष्य को अधा करके उसके विवेक को छीन लेता है। स्वार्थ ही प्रेम की पावनता को कलुषित करता है। “स्वार्थ से तो सभी लोग प्रेम करते दिखायी पड़ते हैं, किन्तु वह भक्ति नहीं है। जहाँ नि-स्वार्थ प्रेम है वही भक्ति होती है।”

- १ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६-११
- २ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१-४०
- ३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२१
- ४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५२-१५

कबीर का योग-दर्शन

कबीर की साधना में योग का स्थान—जिस प्रकार सामाजिक पक्ष में कबीर ने कुछ दृष्टिकोण बना लिये व उसी प्रकार व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में भी उन्होंने कुछ सिद्धान्त निर्धारित कर लिये थे। उनमें से उनके अपने सिद्धान्त यद्यपि कम थे, किन्तु जो थे वे अपने मौलिक अस्तित्व के प्रतिपादक थे और जो सिद्धान्त उन्होंने हमारे धर्मों से ग्रहण किये थे वे उनके विवेक की कसौटी पर कसे हुए थे। उनका चयन चैता की क्षमता को प्रमाणित करता है। कबीर के सिद्धान्तों में प्रेम का प्रमुख स्थान है। जहाँ वही सैद्धान्तिक मौलिकता का दर्शन होता है वहाँ प्रेम का समावेश अवश्य हुआ है। सच तो यह है कि प्रेम कबीर की साधना और उनके सिद्धान्तों का मूल आधार है। यही कारण है कि उनका अद्वैत दर्शन तक प्रेमानुरजित दिखायी पड़ता है। उन्होंने योग की स्थूलता को प्रेम से भावित करके सूक्ष्मता में पर्यवसित कर दिया है। प्रेमातिरेक से योग और अद्वैत-दर्शन भक्ति-क्षेत्र के अधिवासी हो गये हैं। फिर भी योग और अद्वैत दर्शन में ही नहीं, कबीर की भक्ति में भी एक दृष्टिकोण है।

योग और प्रेम—ऊपर यह कहा जा चुका है कि कबीर की योग-साधना उनकी प्रेम-साधना का ही एक अंग है। जिस प्रकार सिद्धों ने योग को वायिक सिद्धियों के आडम्बर में लपेट दिया था उसी प्रकार कबीर ने उसे परंपरा की श्रृंखला में नहीं जकड़ा। 'सिद्धों और नाथों की परंपरा में कबीर' के अन्तर्गत यह बतलाया जा चुका है कि कबीर किसी परंपरा को बड़ा तब ही पुरस्कृत करते थे जहाँ तक वह कल्याणकारी सिद्ध हानी थी। इसके आगे वे उसको स्वीकार नहीं करते थे। कबीर योगी थे, इसमें तो सन्देह की कोई बात नहीं है किन्तु सिद्धों और नाथों के ढंग के योगी नहीं थे। उन्होंने योग को स्वार के लिए नहीं अपनाया था और वे उमकी योग में प्रविष्ट ही होने थे। वे अपने ढंग के योगी थे। उन्होंने योग को 'मध्यम मार्ग' की सीमाओं

म स्वीकार करते हुए उसके मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष पर ही विशेष बल दिया था ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि योग को कबीर ने एक भाग के रूप में ही स्वीकार किया है । वह सिद्धो की भाँति उनका लक्ष्य नहीं बन गया है । उन्होंने मन्धन रूप में भी योग की उन्ही बातों को स्वीकार किया है जो उनकी आध्यात्म सिद्धि में भी सहायक होती हैं, अतएव कबीर के योगी के लक्षण परंपरागत योगी के लक्षणा से भिन्न हैं । उसकी मुद्रा, मींगी आदि में विशेषता है । “जोगी” के लक्षण बताते हुए कबीर कहते हैं—

‘अवध जोगी जग धै न्पारा ।

मुद्रा निरति सुरति को सींगी, नाद न धड़ धारा ।

बस गगन में दुर्नी न देखे, चेतनि चौकी बंठा ।

घडि प्रकास आसण नहीं छाडे, पीये महारन भौंठा ।

परगट कथा माहै जोगी, दिल में दरपन जोब ।’

×

<

×

“ब्रह्म अगनि में काया जारं, त्रिबुटी सगम जारं ।

कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज मुनि ल्यो लागं ।’

परम पद के मार्ग—वास्तव में कबीर का लक्ष्य उच्च परम पद को प्राप्त करना है जिसे विरले ही पा सकते हैं । ‘परम पद’ के गट पर वे एक मार्ग से नहीं बरन् एक ही साथ अनेक मार्गों से घावा बोलते हैं । योग भी उनमें से एक है । जिस प्रकार वे अन्य मार्गों में उभी प्रकार योग में भी मन एक विशेष व्यवधान है । जब तक इस व्यवधान का निवारण नहीं होता जब तक वह गढ़ विजित नहीं हो सकता । इस व्यवधान के निवारण के दमन और शमन, दो ही उपाय हैं । कबीर ने ‘मन’ को मारने की बात कही है, किन्तु ‘विष’ देकर मारने की नहीं, बरन् मधु देकर मारने की । कहने का तात्पर्य यह है कि वे मन को बंध में करण के लिए कृत्रिम उपायों का उपदेश नहीं देते क्योंकि वे सब दमनोपाय हैं । वास्तव में वे उसे शमनोपाय में बंध में करना चाहते हैं जिसे वे ‘सहज

मार्ग' भी कहते हैं। कबीर का यह 'महज मार्ग' ज्ञान, भक्ति और योग, इन तीनों के सामंजस्य से निमित्त हुआ है। इसलिए कबीर उसको वास्तविक योगी नहीं मानते जो ध्यान, मुद्रा, खपरा, सींगी, वेन आदि को योग के उपकरण के रूप में ग्रहण करता है। इन वस्तुओं को तो वे एक दिखावा समझते हैं। इन सब का विनिवेश वे मन में करके वास्तविक योगी का रूप-चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'सो जोगी जाके मन में मुद्रा,
राति दिवस न करई निद्रा ॥

मन में ध्यासण मन में रहणा, मन धा जप तप मनसू कहणा ॥
मन में खपरा मन में सींगी, धनहुद बेन बजावे रणी ॥
पच परजारि भसम करि भूला, कहै कबीर सो लहसै लका' ॥"

कबीर एव योग सबधी रुढ़िया—योगिया में जो आडम्बर प्रचलित हो गये थे, कबीर ने उनको कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने आडम्बरा की बड़ी निन्दा की है। वे यह मानते हैं कि योग के लिए किसी बाहरी उपकरण की अपेक्षा नहीं है। योग के लिए जो उपकरण आवश्यक हैं वे सब इसी शरीर में उपलब्ध हैं। वेन बटुवा, मेखला, भस्म, सिंगी आदि बाह्य वस्तुएँ योगी के दम की सूचक हैं। वस्तुतः इनको मन में ही खोजा जा सकता है, अतएव वे योगी को संबोधित करते हुए उपदेश देते हैं—

'जोगिया तन को जत बजाइ,
भू तेरा आवागमन मिटाइ ।

सत करि ताति धर्म करि डाडी, सत को छारि लगाइ ।
मन करि निहचल ध्यासण निहचल, रसना रस उपजाइ ॥
चित करि बटवा तुचा मेपली, भसमे भसम चढाइ ।
तजि पाषड पाच करि निग्रह, सोजि परमपद राइ ॥
हिरवे सींगी ग्यान गुणि बाधी, खोजि निरजन साचा ।
कहै कबीर निरजन को गति, जुगति बिना प्यउ काचा' ॥"

१ कबीर प्रयागवासी, पद २०६

२ कबीर प्रयागवासी, पद २०८

इन पदा से स्पष्ट है कि कबीर योग की रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करते। उनकी वाणी में अष्टांग-योग की सभी अनिवार्य बातें मिल सकती हैं, किन्तु हम कबीर की योग-साधना को किसी परंपरा के अन्तर्गत रख कर नहीं देख सकते क्योंकि उनकी दृष्टि योग के आवरण पर निहित नहीं है, वरन् उस के प्राणों पर निहित है। मनको उरटा चला कर उसे एकाग्र एवं निश्चल करना तथा उसके भीतर अथवा उसके प्रकाश में 'परम पद राई' को खोजना ही कबीर के योग का लक्ष्य है। कबीर का योग राजयोग के अन्तर्गत रखा जा सकता है, फिर भी उसके अपनी विशेषताएं हैं जिनमें प्रेमाभिप्रेचन प्रमुख है। सिद्धियों और चमत्कारों की अभिलाषा से विनिर्मुक्त कबीर परंपरागत योग-श्रुतियों से केवल उन कड़ियों को स्वीकार करते हैं जो मन को बाध कर प्रियतम तक पहुंचान में सफल सिद्ध होती हैं। इसीलिए उन्होंने सिद्धों और नाथों की योग-पद्धतों की उन सब मान्यताओं का तिरस्कार कर दिया है जो अनिवार्य नहीं हैं।

यम-नियम—जो यम-नियम किसी भी साधना के लिए आवश्यक हैं वे कबीर की दृष्टि में योग-साधना के लिए भी आवश्यक हैं, इसलिए उन्होंने पृथक् रूप में उनका निर्देशन नहीं किया किन्तु वे ध्यान की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं करते। इसी में उसकी दृढ़ता के लिए बार-बार सचेत करते हैं—

“सहज लछिन ले तजौ उपाधि, धामन दिड निद्रा पुनि साधि।

पुहप पत्र जहाँ हीरा भर्षा, कहै कबीर तहा त्रिभवन धर्षा” ॥”

धामन—जहां सिद्धों और नाथों ने चौरासी प्रकार के धामन बतला कर योग के कार्यात्मक पक्ष को महत्व दिया है, कबीर ने वहां केवल धामन को दृढ़ करने की बात कही है। प्राण्यात्मिक वातावरण के निर्मित करने में भी शरीर के अनुदान को भुलाया नहीं जा सकता। किसी न किसी प्रकार का धामन (Pose) अवश्य चाहिये, किन्तु वह दृढ़ होना चाहिये। दृढ़ धामन दृढ़ साधना की भूमिका प्रस्तुत करता है। इसीलिए कबीर ने धामन की दृढ़ता और रक्षा की बात पर विशेष जोर दिया है। वे धामन के प्रकारों के पीछे नहीं पड़े।

१ कबीर प्रयावली, पद ३२५

२ कबीर प्रयावली, 'धामन राखि...', पद ३१६

प्राणायाम—भासन के पश्चात् योग वा अन्य अंग 'प्राणायाम' है। योग दर्शन में प्राणायाम तीन प्रकार का माना गया है—बाह्यवृत्ति, आभ्यान्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति। बाह्यवृत्ति का दूसरा नाम 'रेचक' है। आभ्यान्तर वृत्ति को 'पूरक' नाम से भी अभिहित किया जाता है। पहली प्रणिया में प्राण को बाहर ले जाकर रोक दिया जाता है और दूसरी में प्राण को भीतर ले जाकर रोक दिया जाता है। तीसरे प्रकार का प्राणायाम स्तम्भवृत्ति है। इसको 'कुम्भक' भी कहते हैं। इस प्रक्रिया में ध्वन्द्वर गये हुए प्राण को यथाशक्ति रोकना पड़ता है। वास्तविक प्राणायाम कुम्भक ही माना गया है। यह दो प्रकार का होता है। जब रेचक और पूरक की सहायता ली जाती है तब इसे 'सहित' कहते हैं, पर जब उन दोनों की सहायता के बिना ही प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तब वह 'बेबल' कहलाता है। उसी की सहायता से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। हठयोग प्रणाली में जिस प्रकार सिद्धासन, खेचरी मुद्रा और नाद-लय का महत्त्व है उसी प्रकार 'बेबल' प्राणायाम का भी महत्त्व है।

प्राणायाम और मन—कबीर प्राणायाम का उतना विशाद विवेचन नहीं करते जितना कि योगमार्ग में प्राय किया गया है। फिर भी कबीर-बाणी में उसका महत्त्व कम नहीं हुआ है। योग की जटिलताओं को विवेचना करना कबीर का लक्ष्य नहीं था और न जटिल कायिक साधनाओं में ही वे योग को निहित मान लें थे। वे तो योग को आध्यात्मिक प्राप्ति के लिए उपयोगी मान कर उसके उपयोगी अंग तब ही अपनी बाणी को सीमित रखते थे^१। वे योग का उपयोग मन के शमन के लिए करते थे क्योंकि मन ही द्वैत की प्रतीति का कारण है। 'हीरा' की निष्पत्ति 'मानस' में होती है अतएव कबीर का योग-दर्शन मन पर विशेष जोर देता है। मन की विहात का निवारण करने और उस स्वस्थ बनाने के लिए कबीर प्राणायाम के उपयोग को नहीं भुला देता।

१. हठयोग प्रदीपिका, पृष्ठ ५५, श्लोक २२-३२

२. "भासन सिद्धि तद्वृक्ष न कुम्भ केवलोपम ।
न खेचरी-समा मृदा न नादसङ्गो जय ॥"

पच बाइ^१ के खाजन की जो बात ब वदत हं उसका अर्थ ही कोई महत्त्व है । रवि ससि पवना मलौ बधि^२ कहकर भी वे प्राणायाम प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं । अतएव कबीर की दाखी में नाडिया का मूल्य प्राणायाम क संबध से है ।

नाडियाँ—कहने की आवश्यकता नहीं कि नाडिया प्राण वाहिनी हं । इनके द्वारा शरीर में प्राण-मन्धार होता है । इनकी संख्या क संबध में शास्त्रों में मत भेद हं । भूतशुद्धि तंत्र में इनकी संख्या चत्तर हजार बताया गयी है प्रपञ्चसार तंत्र में तीस हजार तथा शिवमहिता में पैंतीस हजार कही गयी है^३ । इनकी संख्या क्विन्नी भी हो, इनमें स बीडी भी ही नाडिया महत्त्व की हं जिनमें से तीन ही का नाम बार बार प्राया है । नाडियों की संख्या उनकी दृष्टि में है, यह स्पष्ट है ।

जो हो कबीर यह मानते हैं कि नाडियाँ वे मार्ग हं जिन्में प्राण शक्ति प्रवाहित होती है । यद्यपि कबीर शारीरिक शोध को विशेष महत्त्व नहीं देते, किन्तु मानसिक शोध में शारीरिक शोध अपने आप समविष्ट हो जाती है । नाडी शोध योग की प्रारंभिक सीडी है क्योंकि मन का संबध वायु में है और वायु का नाडियों से^४ । नाडिया की अशुद्धता कुण्डलिनी शक्ति के ऊर्ध्व-गमन को रोकती है और शुद्धि उनमें महायक होती है ।

१ कबीर प्रभावना पृष्ठ १६८ पद ३०५

२ कबीर प्रभावनी, पृष्ठ १६८, पद ३२५

३ आर्षर एवेनल—सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ १३०—तु०की०ह० यो०
प्र० ४ १८, तथा गोरक्ष पद्धति १ २५

४ मलाकलायु नाडीषु मारतो नैव मध्यग ।

कथ स्यादुग्मनीनाव कार्पसिद्धि कथ नवेत् ॥

शुद्धिमेति यदा तवं नाडीचक्र मलाकुलम् ।

तवैव जायते योगी प्राणसग्रहणे क्षम ॥'

—हठयोग प्रदीपिका ३-४१

प्रमुखा नाडिया—नाडियों में इडा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इडा और पिंगला श्वास-वाहिनी नाडियाँ हैं। इनके द्वारा क्रम-क्रम से श्वास-प्रवाह होता रहता है अतएव ये काल की सूचना देती हैं बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि चन्द्र और सूर्य काल की सूचना देते हैं। "इडा को चन्द्रा नाडी और पिंगला को सूर्या नाडी" भी कहते हैं। 'ससिहर सूर' कह कर कबीर इन्हीं नाडियों की ओर भवेत्त करते हैं। जिस प्रकार चन्द्र-सूर्य शब्द क्रमशः इडा-पिंगला के प्रतीक हैं उसी प्रकार अग्नि सुषुम्ना की प्रतीक है। यह नाडी इडा और पिंगला के बीच में स्थित है। यह 'काल का भक्षण' करती है क्योंकि सुषुम्ना मार्ग में वायु का प्रवेश तभी होता है जब इडा और पिंगला दोनों के मार्ग को रोक दिया जाता है। इन दोनों नाडियों का संबंध अथवा ऐक्य सुषुम्ना में होता है। इस प्रकार वायु के सुषुम्ना में आने पर चन्द्र और सूर्य—रात और दिन अर्थात् काल का अन्त हो जाता है। यही योगी की अमरता है और इसी को उन्मनी अवस्था कहते हैं। जब सुषुम्ना में चन्द्र और सूर्य मिल जाते हैं तब प्राण सुषुम्ना के मार्ग में लगर वो चड़ते हैं। इसको कबीर 'उल्टी गया' कहना भी कहते हैं—

'उल्टी गग मेर कू चली' ।'

इसी समय चक्रभेदन होता है और इसी समय अनाहत नाद सुनाने पड़ता है—

"प्रकट प्रकास ग्यान गुर गसि रं, अह्न अगनि प्रजारी ।
ससिहर सूर डूर डूरतर, सागी जोग जुग तारी ॥
उलटे पवन चक्र पट बेधा, मेरडड सर धूरा ।
गगन गरजि मन सु नि समांना, बाजे अनहद सुरा" ॥"

१. हठयोग प्रदीपिका २-७
२. आर्थर एवलेन—रॉपेण्ट पावर, पृष्ठ १३१
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २००, पद ३२६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६०, पद ७

अथवा —

“ससिहर मूर मिलावा,
तब अन्हद बेन बजावा” ॥”

नाडी-प्रतीक—जिस प्रकार इटा, पिंगला और सुपुम्ना को प्रतीक रूप में क्रमशः चन्द्र, सूर्य और अग्नि कहते हैं उसी प्रकार गंगा, यमुना और सरस्वती भी कहते हैं। कबीर ने ‘सरस्वती’ का प्रयोग शायद कहीं नहीं किया। वे इसे बकनालि, सुपुमन नाडी, उलटी गग आदि नामों से इंगित करते हैं। कबीर ने जिस प्रकार ‘गग जमुन उर अतरै’^१ कह कर इटा और पिंगला की ओर संकेत किया है उसी प्रकार ‘बव नाभि’ की ओर^२ कह कर सुपुम्ना की ओर इंगित किया है।

त्रिवेणी—मूलाधार इन तीनों नाडियों की मिलन-स्थली है। इसको योग की भाषा में ‘युक्त-त्रिवेणी’ भी कहते हैं। आधार कमल से प्रारम्भ होकर इटा और पिंगला क्रम-क्रम से सुपुम्ना के दाँये-बाँये होती हुई ब्रह्म-रन्ध्र तक जाती हैं।^३ वे शलाचक में सुपुम्ना में प्रवेश करती हैं। इस सगम को ‘युक्त-त्रिवेणी’ कहते हैं क्योंकि यहाँ से निरंतर इटा और पिंगला पृथक् होकर क्रमशः बाँय और दाँये नासिका रन्ध्र में चली जाती हैं। कबीर ने ‘युक्त त्रिवेणी’ को त्रिवेणी नाम से अभिहित कभी नहीं किया। इस स्थल की ओर उन्होंने जहाँ कहीं भी संकेत किया है ‘मूल कमल’^४ नाम से किया है। हाँ, ‘युक्त त्रिवेणी’ को उन्होंने ‘त्रिवेणी’^५ ‘त्रिकुटी-मगम’^६, ‘त्रिकुटी सधि’^७, ‘तीरथ राज’^८ एवं

- १ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १७३
- २ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८-१८२
- ३ कबीर इटा को ‘इला’ कहते हैं।
- ४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४, पक्ति १३
- ५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४, पद १८
- ६ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पक्ति ११
- ७ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६०, पद ७
- ८ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५७, पद २०२
- ९ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४५, पद १७१

'त्रिकुट काट घादि सजाए प्रदान की ह । बवीर न याग क पारिभाषिक शब्दा से अनेक सुन्दर रूपक तैयार किए ह । उनमें से नमूने के लिए एक देख सकने ह जिसमें डडा, पिगला शिवणी और पट चन्दा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

‘अर्ध उरध की गया जमुना, मूल कमल की घाट ।
पट चक्र की गागरी, त्रिवेणी सगम बाटे ॥’

जिस प्रकार धार्मिक याग त्रिवेणी-स्नान का माहात्म्य वर्णनात् ह उसी प्रकार बवीर भी त्रिवेणी-स्नान क माहात्म्य का वर्णन करते हैं, किन्तु बवीर की ‘त्रिवेणी’ में केवल मन ही स्नान कर सकता है और उमने उसको ‘सुरति’ की प्राप्ति हा सकता है —

‘त्रिवेणी मनहि न्हाइये ।
सुरति मिले जो हायि रे ॥’

काशी—आज्ञाचक्र से गुजरना हुई इल को ‘वरणा’ और पिगला का ‘धनो’ भी कहा गया है और उनसे सबंध से चक्र को ‘वाराणसी’ कहते हैं । बवार न इन नदिया का नाम कही नहीं लिया और न चक्र को ही वाराणसी कहा है, किन्तु उसके पर्यायवाची शब्दा का प्रयोग अवश्य किया है । उन्होंने इस स्थल को कभी ‘काशी’ और कभी शिव की पुरी’ कह कर उसी आशय की पुष्टि की है—

“काया कासी खोजे बास,
तहा जोति सरूप भयो परकास” ॥”

- १ बवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२८, पद २०४
- २ बवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४, पद १८
३. बवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पंक्ति ११
४. बवीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१३, पद २७३

षट्चक्र—योग शास्त्र में सुषुम्ना के माग में अनेक चक्रों की स्थिति ब्यक्त की गयी है। इनमें से प्रथम मूलाधार है जो सुषुम्ना का मूल होने के कारण इस नाम से अभिहित किया गया है। यही कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। यह चक्र प्रबोधमुख है और चतुर्दल कमल के आकार का है। यह गुदा और त्रिग के मध्य स्थित है। दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है जो ऊर्ध्वमुख पद्मदल कमल के आकार में स्थित है। नाभिमूल में तीसरा चक्र मणिपूर स्थित है जो दशदल कमल के आकार का है। इसके ऊपर हृदय में चौथा चक्र है जो द्वादशदल कमल के आकार का है जो हृदय चक्र या अनाहत चक्र के नाम से आख्यात है। पाचवाँ चक्र कटस्थान में स्थित है। इसका नाम विशुद्ध चक्र है और यह पौण्ड्रदल कमल कहलाता है। छठा चक्र प्राज्ञाचक्र या घ्राणाश चक्र है। यह द्विदल कमल है और इसकी स्थिति अग्रमध्य में है।

कबीर ने इन षट्चक्रों को स्वीकार किया है और उनके भेदन का महत्त्व पर जोर दिया है—

‘षट् चक्र कवल बेधा, जारि उजारा कीन्हा ।
काम मोह लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हा’ ॥”

इन चक्रों का भेदन पवन को उलटने पर एव सुषुम्ना में वायु के प्रविष्ट होने पर होता है—

“उलटे पवन चक्र षट् बेधा, मेर उड नर पूरा’ ॥”

सहस्रार चक्र और उसकी विशेषता—इन षट् चक्रों के अनिश्चित ब्रह्मरूप में सहस्रार चक्र है जो महसदलकमल कहलाता है। इसकी त्रिकोण-कणिका में पूर्ण चन्द्रमण्डल है। इसके मध्य में बिजली के समान परमानन्द रूप प्रदीप्यमान ज्योति है। इनमें चिदानन्दस्वरूप परमशिव विराजमान है। इनके

- १ गोरक्ष पद्धति, पृष्ठ १४-१२ तथा पृष्ठ १५-१६
- २ कबीर प्रथावली, पृष्ठ १५६, पद २१०
- ३ कबीर प्रथावली, पृष्ठ ६०, पद ७

पादवं मे सहस्र सूर्यं के समान तेजवारी प्रयोधस्वरूप अर्द्धाबन्दाकार निर्वाणकता विराजमान है। इसके मध्यमे बोटि सूर्यों के समान तेजोमय एव रोम के समान सूक्ष्म निर्वाण-गर्भित की स्थिति है। इसके मध्य म मन-बाणो से परे, केवल योगगम्य, परमशिवपद है, इसी को परब्रह्म पद भी कहते हैं।

सहस्रारचक्र के समान अन्य चक्रा म भी देवस्थिति स्वीकार की गयी है। मूलाधार म ब्रह्मा, स्वर्वाद्यष्टान म विष्णु, मणिपूर म महाब्रह्म, हृदय में ईश्वर, विशुद्ध म सदाशिव तथा आज्ञाचक्र म शिव की बल्पना की गयी है।

अध्याधिदेव—इन चक्र-कमलों के दलों और अधिदेवों के सबध में बबीर ने स्वतंत्रता से काम लिया है। बबीर ने एक अष्टदल-कमल भी माना है जो परपर अ भिन्न है। किस कमल की स्थिति नहीं है, इस सबध में बबीर की बाणी स्पष्ट नहीं है। अधिदेवों के सबध में बबीर ने जो स्वतंत्रता ली है उसका कारण यह है कि वे अनेक देवों को सत्ता स्वीकार नहीं करते। उन्हें तो केवल एक ही देव मान्य है जिसे वह किसी भी नाम से अभिहित कर देते हैं। वह कही शीरग, कही श्रीगोपाल, कही कमलाकान्त और कही ज्योति-स्वरूप हैं। निम्नलिखित उद्धरणों से उक्त कमल-दलों और अधिदेव-नामों का परिचय हो सकता है—

“अष्टदल कवल निवासिमा, बहु कों फेरि मिलाइ रे।
बहुं के बौधि समाधिमा, तहा कात्त न पासै प्राइ रे।
अष्ट कंबल दल भौतरा, तहा शीरग केलि कराइ रे।

× × ×

कदली कुसम बल भौतरा, तहां बस आगुल का बौच रे।
तहां दुवादस छोनि ले, जनम होत नहीं भौच रे ॥

× × ×

त्रिवेणी भनहि श्वाहाए, पुरति मिले को हापि रे।

× × ×

गगन गरजि मघ जोइये, तहा बीस तार अनन्त रे ।
विजुरी चमकि घन धरपि है, तहा भीजत है सब सत रे ।
घोडस कवल जब चेतिया, तब मिलि गये श्री बनवारी रे ।”

तथा

“आगम दुगंम बड रचियो बास, जामहि जाति करं परगास ।
विजली चमकै होइ अनद, जिहि पौडे प्रभु बाल गुविद ॥

× × ×

अनहव सबद होत भनकार, जिह पौडे प्रभु श्री दोपात ।

× × ×

दावस दल अभ्यतर मत, अह पौडे श्रीकमलाकन्द ।

× × ×

उहां सूरज नाही चद, आदि निरंजन करं अनव ॥”

इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर ने योग-क्षेत्र में भी अपनी स्वतन्त्रता को अपहृत नहीं होने दिया । कबीर का लक्ष्य योग का विस्तृत एवं विशद विवेचन करना नहीं था, अपितु अनन्य प्रेम की सिद्धि एवं अद्वैत तत्त्व के नाशात्कार के निमित्त मन को तद्गुरूप बनाने के लिए योग के उपयोग की ओर संकेत करना था । इसीलिए कबीर की वाणी में योग सबंधी विस्तारों का अभाव है ।

कुण्डलिनी—कबीर ने कुण्डलिनी के जागरण पर भी पर्याप्त जोर दिया है । इसके जागरण के लिए इडा-पिंगला के प्रवाह को रोकना आवश्यक है ।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पद ४

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६९, पद १६

इमके जागते ही सुपुम्ना वा मार्ग ब्युन जाता है और उगमे प्राणवायु ऊर्ध्वगामी
डा जाती है —

“ससिहर सूर द्वार बस मूदे, सागी जोग जुग तारी ।

× × ×

उलटी गग गीर बह आया, अमृत धार चुवाई ॥

× × ×

प्रेम पियाले पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी ॥”

“यह कुण्डलिनी मूलाधार के अधोभाग में स्थित है। कहते हैं कि वहाँ एक त्रिकोण चक्र में स्थित स्वयम्भूलिंग है। उसे साढ़े तीन बलया में परिवेष्टित करती हुई कुण्डलिनी सुपुस्त सर्पिणी की भाँति स्थित है। सहस्रार चक्र में नित्य पुरुष का निवास है। कुण्डलिनी की प्रमुष्णावस्था में बाह्य मृष्टि बलती रहती है, किन्तु योग द्वारा उसके जाग्रत हो जाने पर बाह्य मृष्टि पुरुष में विनीत हो जाती है।”

अमृत—सहस्रार में स्थित चन्द्र से अमृत स्रवित होता रहता है जो इडा नाडी में प्रवाहित होता रहता है जिसे मूलाधार में स्थित सूर्य भस्म करता रहता है और उसके स्थान पर विष उत्पन्न करता है जो शरीर में व्याप्त होता रहता है जिससे अस्वामयिक जरा एवं मृत्यु का मामना करना पड़ता है। योगी जोग उपाय से उस अमृत का सदुपयोग करके विष-प्रभाव में मुक्त होकर अमर हो जाते हैं। इस अमृत-स्राव को कबीर निर्भर-रम भी कहते हैं —

“नीभर और रस पीजिये, तहा भवर गुफा के घाट रे’ ।”

तथा

“नीभर और अमों रस निकसै, तिहि मदिराबल छाका’ ॥”

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४
२. लयदाय महिना तन, पृष्ठ २
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८८, पक्ति १०
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३६, पद १५५

उद्बुद्ध कुण्डलिनी क्रमशः पट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र में शिव से जा मिलती है। इसको शिव-शक्ति संयोग भी कहते हैं। कबीर शिव शक्ति को ईश्वर-गौरी भी कहते हैं।

कबीर का योग-साधना का स्वरूप— कबीर की योग-साधना में अनेक साधनाओं का मिश्रण है। उनके समय में योग के भी अनेक रूप प्रचलित थे। हठयोग में उनमें से बहुतसी बातों का समावेश कर लिया गया था। फिर भी कबीर ने उन सब बातों को अपने ढंग से ही स्वीकार किया। जिस प्रकार उन्होंने कुण्डलिनी-योग की उपयोगी बातों को स्वीकार कर लिया उसी प्रकार मंत्रयोग, लययोग और शब्द-योग की सारभूत बातों को भी अपना लिया। वहीने की आवश्यकता नहीं कि नाम-स्मरण जिसको हम मंत्रयोग भी कह सकते हैं, सुरति शब्द-योग का ही रूप है। इसका लक्ष्य मन को नाम स्मरण में इस प्रकार लगा देना है कि उसका अपना पृथक् अस्तित्व ही न रह जाये। लययोग का लक्ष्य भी यही है। इसमें साधक अपने को साध्य में विलीन कर देता है। इसको कबीर 'लीं' या 'लिव' कहते हैं। मुश्किल-शब्द योग में मंत्र-योग और लययोग, दोनों का मिलन हो जाता है। बाह्य शब्द अन्तर्मुख होकर उच्चरित से अनुच्चरित एवं अनाहत नाद में परिवर्तित होकर शून्य रूप में परिणित हो जाता है। परमात्मा का नाम ही योग की चरम दशा में परमात्मा हो जाता है और उसमें साधक डूब जाता है।

सहजयोग—संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर का योग मनो-योग है जिसका वे सहजयोग भी कहते हैं। इसको न तो अष्टांग योग ही कह सकते हैं और न पडग हठयोग ही, क्योंकि इसमें किनी त्रम, श्रम, या कृत्रिमता के लिए अवकाश नहीं है। यद्यपि कबीर ने यम-नियम की कोई चर्चा नहीं की, किन्तु उनका कही गहन भी नहीं किया। हाँ, उनके सहजयोग में कठोर नियमों का, जिनमें श्रम एवं दिक्षाया अधिक् है, समावेश नहीं है। आसन की दृढ़ता पर जोर देकर कबीर ने उनके भेद-विस्तारों को छोड़ दिया है। वे प्राणायाम और उनके महत्त्व को अच्छी तरह समझते हैं, किन्तु बुम्भक् को अधिक् अनुकूल समझते हैं —

“बद कुम्भकु भरिपुरि जीना, तब बाजे अनहद बीना’ १”

अनेक नाडियों की ओर सवेत करते हुए भी कबीर ने इडा, पिंगला और सुषुम्ना का ही नाम लिया है। इडा पिंगला से तो उन्होंने भाटी का काम लिया है। कबीर क सहजयाग म सहयोग देने वाली नाडी सुषुम्ना है। इसी के मार्ग से वे वायु को उलटने हैं और दर्शने के मार्ग से वे सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र म ले जाते हैं जहाँ यह दक्खिनरूपिणी कुण्डलिनी शिव से मिलती है। इस दशा म परमानन्द की प्राप्ति होती है। पट् तन्त्रा का भेदन भी सुषुम्ना के मार्ग के खुलने पर ही होता है। सुषुम्ना ब्रह्मरन्ध्र का मार्ग है और ऐसा प्रतीत होना है कि कबीर ब्रह्मरन्ध्र और सुषुम्ना म विशेष अन्तर नहीं मानते। ‘भवर गुफा’ सुषुम्ना और ब्रह्मरन्ध्र, दोनों को एक साथ सवेत करती है। इस ब्रह्मरन्ध्र म कबीर को आराध्य परम ज्याति का साक्षात्कार होता है। इस ‘दरीबे’ से आकर मन पवन के माथ विलीन हो जाना है। इस अवस्था को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

“उनमन मनुवा मुनि समाना, दुबिधा दुर्मति भागी ।
कहु कबीर अनुभौ इकु देख्या, राम नाम लिब तापी’ ११”

इसको कबीर मन की निर्वाण प्रवस्था भी कहते हैं —

“कबीर यहु मन बत गग, जो मन होता काल्हि ।
डूगरि बूठा मेह ज्यू, गया निवाणा चाति’ ११”

योगियों का कहना है कि ‘सहस्रार’ से स्थित चन्द्र शं अमृत स्रवित हाता है जिसे मूलाधार म स्थित सूर्य सोखता रहता है। योगी लोग उसे उपाय से पीकर अजर अमर हो जाते हैं। कबीर उम चन्द्र का वर्णन तो नहीं करते जिसे अमृत स्रवित होता है, किन्तु वे वहाँ एक निर्भङ्ग अवश्य मानते हैं जहाँ

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८, पक्ति ५
२. आर्थर एबेलन सप्टेण्ट पावर, पृष्ठ ५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६१, पद ६१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२

से अमृत भरता रहता है' और कबीर का अनुभव है कि उसे पीकर साधक 'भतवाला' हो जाता है। कबीर का यह अमृत, मैं ममभक्ता हूँ, कायिक रस नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आनन्दमात्र है।

मुद्रादि—कबीर ने किसी विशेष मुद्रा का उल्लेख नहीं किया, किन्तु विभिन्न चक्रों में आराध्यदेव के ध्यान की बात अवश्य कही है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। भूलवश पर कबीर ने विशेष जोर दिया है क्योंकि इसका प्रभाव प्राणायाम की दृढ़ता पर भी पड़ता है।

ध्यान और नाद—ध्यानविन्दूपनिषद् योगी को अनाहतनाद सुनने की प्रेरणा देता है। साथ ही वह ध्यान के सवध में भी निर्देशन करता है। पूरक के साथ नाभिकमल में स्थित चतुर्भुज रूप देव एव सन के फूल के रंग का ध्यान करना चाहिये, कुम्भक के साथ कमलासन ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिये तथा रेचक के माथ आजाचक्र में स्थित त्रिलोचन रुद्र का ध्यान करना चाहिये।

ध्यान की दृष्टि से कबीर अनाहत, आज्ञा और सहस्रार—इन तीन चक्रों का विशेष उल्लेख करते हैं, यद्यपि 'कदली कुसुम दल' का उल्लेख करके वे सर्वदेवमय 'नाभिकमल' का भी ध्यान रखते हैं। कमलाकान्त, श्रीरग, श्रीगोपाल आदि नामों से कबीर किसी आकार की ओर इंगित नहीं करते किन्तु 'कदली कुसुमदल' आदि से वे ध्यान के लिए आशय अवश्य खोज लेते हैं। जब सात्वत मन निरालव होकर विलय को प्राप्त हो जाता है तभी आत्मदशा प्राप्त हो जाती है।

वायु और मन—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्राण के माथ

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४

तथा पृष्ठ १३५, पद १५३

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६५, पद ३१

३ ध्यानविन्दूपनिषद्, ५-३

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८५, पं० ७

मन का गहन सबंध है बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि मन का वासना के साथ है। इसीलिए हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—‘चित्त को प्रवृत्ति में दो कारण हैं—एक वासना और दूसरा प्राणवायु। इन दोनों में से एक भी क्षीण हो तो दोनों ही नाश का प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् वासना का क्षय होने पर प्राण और चित्त दोनों क्षीण हो जाते हैं और प्राण क्षीण होने पर चित्त और वासना दोनों नष्ट हो जाते हैं।’ ‘जो पवन को बाध नेता है वही मन को भी बाध लेता है और जो मन को बाध लेता है वही पवन को भी बाध लेता है।’ कबीर भी मन-पवन के मध्य की भली भांति समझते हैं। वे यह जानते हैं कि जहाँ पवन लीन होता है वही मन भी लीन होता है।

वायु अपने ऊर्ध्वगमन के साथ मन को भी ले जाता है और मन के ऊर्ध्वगमन में वायु का ऊर्ध्वगमन भी सन्निहित रहता है। मन के स्थिर और विचलन का एक ही अर्थ है। जबतक मन में वृत्तिपाँ रूटती हैं तबतक उसकी चञ्चलता या अस्थिरता मिद्ध है। मन के स्थिर होने पर प्राण स्थिर हो जाते हैं और प्राण (वायु) स्थिर से बिन्दु (वीर्य) स्थिर होता है जिससे शरीर को मत्त्व एक स्थिर प्राण्य होना है —

‘मन. स्थिरं स्थिरो वायुस्ततो बिन्दु स्थिरो भवेत् ।
बिन्दुस्थिरपत्सिद्धा सत्त्व पिण्डस्वर्य प्रजायते ॥’

कबीर मन के मारने की बात पर बहुत जोर देते हैं। इसी को सूफी फना' की स्थिति बतलाते हैं। कबीर जहाँ मन की स्थिरता पर जोर देते हैं वहाँ बिन्दु' की स्थिरता पर भी जोर देते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इससे सत्त्व की प्राप्ति होती है जिससे मन स्थिर होता है। इसीलिए वे कहते हैं —

१. हठयोग प्रदीपिका, ४ २२
२. हठयोग प्रदीपिका, ४ २१
३. हठयोग प्रदीपिका पृष्ठ १५७, पद २०२
४. हठयोग प्रदीपिका, ४ २३
५. हठयोग प्रदीपिका, ४-२९

“सुप्पने बिंद न देई करना,
ता काजी कू जुरा न मरणा’ ।’

श्रोत्रादि इन्द्रियो का प्रेरक मन है, मन का प्रेरक मारत है और मारत का नाथ लय (मनोलय) है। वह लय नादाश्रित है अर्थात् नाद से मन लय को प्राप्त हो जाता है —

“इन्द्रियाणा मनोनाथो मनोनाथस्तु मारतः ।
मारतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः’ ॥”

मन, मारत और नाद—कबीर भी इन्द्रियों को अशुद्ध करने के लिए मन को अधिवृत्त करने की बात कहते हैं। जबतक मन कावू में नहीं होगा तब तक इन्द्रिया भी कावू में नहीं आती —

“मन न मार्या मन करि, सके न पच प्रहारि’ ।”

इन्द्रिय-विषयो में रमा हुआ मन उम ममय तक वश में नहीं था सकता जबतक कि उसको विषयो से विमुक्त न किया जाये। इस अभिप्राय से कबीर कहते हैं :—

“कबीर मन बिकरं पडजा, गया स्वादि कं माथि ।
गलका लाया बरजता, अब धू आबै हाथि’ ॥”

साधना की सफलता मन रूपी मृग को मारने में है। जिस प्रकार नाद-मुग्ध हरिण मारा जाता है उसी प्रकार नाद-लग्न मन भी मारा जाता है। यो तो कबीर ने मन मारने के अनेक साधन बतलाये हैं, किन्तु उनमें से एक साधन नादानुसन्धान भी है जो योगमें सबधित है। इसीलिए वे सुरति-निरति के साथ नाद की आवश्यकता पर जोर देने हुए कहते हैं —

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २००, पद ३३०
२. हठयोग प्रदीपिका, ४-२८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२-१५
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२-१६

“शुद्धा निरति सुरति करि सिगी, नाद न यहै पारा” १”

मन और नाद—मन के विनय के लिए जिस प्रकार ज्योति का ध्यान आवश्यक है उसी प्रकार नाद-श्रवण भी आवश्यक है। राजा राम की ज्योति कबीर की अन्तर्दृष्टि लग जाती है और ‘अनाहत नाद’ में उनकी अन्तःश्रुति लग जाती है। यह अन्तर्दृष्टि और अन्तर्धुत मन की ही एक स्थिति है। धीरे-धीरे मन इन्हीं में लीन हो जाता है —

“राजा राम अनहद किगुरी बाज,
बाकी दृष्टि नाद सब लागै” ॥”

तथा—

“जगत गुर अनहद कीगरी बाज,
तहा दोरघ नाव ल्यो लागै” ॥”

नाद की अवस्थाएँ.—अनाहत नाद भी चार अवस्थाएँ होती हैं—
(१) आरम्भ-वस्था, (२) घटावस्था, (३) परिचयावस्था, और (४) निष्पत्ति-अवस्था। निम्न श्लोक दृष्टव्य है—

‘आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्ति सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम्” ॥”

“जब प्राणायाम के अभ्यास से अनाहत चक्र में वर्तमान ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तो हृदयाकाश में उत्पन्न आनन्दजनक, अलकार-भङ्गति के समान अनाहत ध्वनि देह के भीतर सुनायी पड़ती है।

घटावस्था में प्राणवायु अपन साथ अपान, नाद और बिन्दु को एक

- १ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६५, पद ४
- ३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७-१५३
४. हठयोग प्रदीपिका, ४-६६

करके मध्य चक्र में स्थित होती है जो कठ-म्यान में है। यहा कुम्भक द्वारा विद्युत्-ग्रन्थि के भेदन से अतिशून्य (कठाकास) में भेरो-नाद जैसा विविध-नाद-भमरं ध्वरणगोचर होता है।

तीसरी अवस्था में भ्रू-मध्याकाश में मर्दल-वाद्य की सी ध्वनि होती है जो प्राणवायु के महाशून्य (भीहों के बीच के श्वकास) में स्थित होने पर सुनायी पड़ती है। इस अवस्था में अनेक सिद्धियां मुग्ध करने वाली हैं, किन्तु उनके तिरस्कृत होने पर सहज आत्मानन्द का उदय होता है और योगी दोष, दुःख, जग, व्याधि, क्षुधा, निद्रा आदि से मुक्त हो जाता है। यहाँ प्राज्ञाचक्र है जिसकी ग्रथि का नाम रुद्र-ग्रन्थि है। इसी ग्रथि के भेदन के उपरान्त प्राण-वायु भ्रुकुटि-आकाश में प्राप्त होती है इस स्थान को शर्वपीठ या शिवालय भी कहते हैं।

चौथी अवस्था में प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। इस अवस्था में वशी और वीणा का शब्द सुनायी पड़ता है। इस अवस्था में सुनाई देने वाले नाद के भी अनेक भेद किये गये हैं। कहते हैं कि आदि में ममुद्र, मेध, भेरो और डमरु का सा शब्द सुनाई पड़ता है। अन्त में किकिरी, वेणु, वीणा, प्रलि-शुञ्जन जैसा शब्द सुना जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मतर नाद की सुनता हुआ योगी का मन भी भीना (धीण) होता चला जाता है। एक अवस्था ऐसी आती है जिसमें नाद के विलय के साथ मनोविलय भी हो जाता है।

अनाहत नाद के अन्य नाम—अनाहत नाद के कबीर ने भी अनेक नाम बतलाये हैं। वे उसको कही गगन-गर्जना, कही 'अनहद तूरा', कही अनहद बेन, कहीं अनहद कीयुरी और कही 'अनहद बाजा' नाम से अभिहित करने हैं। 'अनहद भकार' का प्रयोग भी उन्होंने अनाहत नाद के लिए ही किया है किन्तु कही ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने किसी भेद-दृष्टि से किया है।

“गुण और गुणी में अभेद है। आकाश का गुण शब्द है। जबतक शब्द सुनायी पड़ता है तबतक आकाश की कल्पना है। मन के साथ शब्द

के विलय हो जाने से जिस नि शब्द परब्रह्म को अनुभूति होती है 'उसे ही परमात्मा भी कहते हैं' ।" कबीर का लक्ष्य भी 'मनाहत नाद माध' का सुनना नहीं है । उनका लक्ष्य उससे आगे असीम का साक्षात्कार करना है । वे ध्वनि के मार्ग से सहज में मिलने की बात कहते हैं —

“स्वादि पतन जरं जरि जाई,
अनहद सौ मेरी चिन न रहाइ ।”
“वहै कबीर धुनि सहारि प्रगटो,
सहजि मिलंगा सोई ॥”

लक्ष्य—मनाविलय की स्थिति को कबीर 'शून्य' की स्थिति भी कहते हैं । जिसकी 'तो' शून्य में है वे उसी को 'जागेस्वर' बतलाते हैं —

“वहै कबीर सोई जोगेस्वर,
सहज सुनि स्यो लागं ।”

अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि 'लक्ष्य' का तात्पर्य मन को वृत्तिहीन कर देना है । 'सुनि मडत में धरो धियान' कह कर कबीर इसी अवस्था की ओर निर्देश करते हैं । इस अवस्था में जीव की क्या स्थिति होती है, इसका परिचय कबीर अपनी इस पक्ति से देते हैं —

“द्वंद परं जीव जंहे जहां,
जीवत ही ले राखी तहां ।”

इस अवस्था में शरीर और मन दोनों से मक्थ नहीं रहता । जब मनो-वर्तिया नष्ट हो जाती है तो शरीर की सत्ता भी साधक के लिए नहीं रहती

- १ हठयोग प्रदीपिका, ४-१०१
- २० कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २११, पद ३६६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०, पक्ति ५
- ४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६, पद ६६
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८, पक्ति २३
- ६ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८-३६

और मन हम समय नहीं होता जब वह ब्रह्ममय हो जाता है। कबीर ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है —

तन नाही कब ? जब मन गाहि
मन परतीति ब्रह्म मन गाहि^१ ।

मन ब्रह्ममय उम समय होता है जबकि वह गंगा यमुना के संगम पर जा दसत्र द्वार पर स्थित है स्नान करके पावन हो जाता है—

नम मज्ज करि दमव द्वारि,
गंगा जमुना नधि बिचारि ।

मभवत वहा कुछ न देखकर माधवा को निराशा हो इसलिए कबीर मन्त्र बरत है —

नाहीं देखि न जइये भागि जहा नहीं तहा रहिये लागि^२ ।

और समझाते हुए कहते हैं कि जहा आप योगी को कुछ नहीं दीखता वहाँ आपका आराध्य है। आप उसे पहचानने का प्रयत्न कीजिये —

जहा नहीं तहा कछु जाणि
जहा नहीं तहा लेहु पछाणि^३ ।

‘स ब्रह्मस्वा को कुलाणव तत्र न ध्यान का वच रूप बतलाया है जा विलक्षण है और जिमम न अत्र है न अनत्र है जहा प्रकाश-मुञ्ज की सी

१ कबीर प्रयावली पृष्ठ १६८ पंक्ति २१

२ कबीर ने ब्रह्मरन्ध्र को दमवा द्वार कहा है—

दसव द्वार नागि गई तारी पृष्ठ १८१ पद २७३

३ कबीर प्रयावली पृष्ठ १६८ पंक्ति १७

४ कबीर प्रयावली पृष्ठ १६८ पंक्ति १६

५ कबीर प्रयावली पृष्ठ १६८ पंक्ति १५

६ कुलाणव तत्र ९६

दीप्ति, सागर की सी गर्भारता तथा आकाश की सी व्याप्ति है ।

“इस सबल्प-विकल्पहीन स्थिति को योग की भाषा में अनेक नाम दिये गये हैं । समरमत्व, सहजावस्था, राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, शून्य, शून्यारूढ्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरजन, बीजमुक्ति, तुरीयावस्था आदि से एक ही अवस्था का बोधन होता है । इस अवस्था में चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने से सुख-दुःख से मुक्ति हो जाती है । यह निर्विकार अवस्था हीवी है । इसीके श्रम में देह-त्याग के उपरान्त विदेह वैवल्प अथवा परममुक्ति की प्राप्ति हो जाती है जिसे स्वरूपान्त्यान भी कहते हैं ।”

कबीर ने उन्मनी, मनोन्मनी, शून्य, परमपद, अद्वैत, निरालंब, निरजन, जीवनमुक्ति आदि नामों से इसी अवस्था की ओर संकेत किया है, किन्तु इन अवस्था को वे सत्ताहीन नहीं मानते । उन्मनी अवस्था में सामग्र ब्रह्मांड पिंड में आभासित होने लगता है ।

निष्कर्ष—कबीर ने योग की प्रेम से आधिकृत किया है । जिस निरजन की हठयोगियों ने अवस्था माना है उसको कबीर ने प्रायः एक सत्ता के रूप में ही स्वीकार किया है । इसका कारण उनका प्रेमातिरेक है । इस प्रेम के अतिरेक से वे योग, ध्यान और तप को विकार कह डालते हैं । वे संबंध निरजन राम को देखते हुए उसी का आश्रय ले लेते हैं ।—

“अजन भावै अजन जाह, निरजन सब घटि रह्यो समाइ ।
जोग ध्यान तप सबै विकार, कहैं कबीर भेरे राम अघार^१ ॥”

‘राम रसायन’ के सामने वे सिद्धियों को हेय समझकर तिरस्कृत कर देते हैं । और तो और, जान तक की वे विकारों का कारण कह कर हठि-प्रेम को उत्कृष्ट बना देते हैं ।—

१ आश्रय एवेलन, सपेष्ट पाजर, पृष्ठ १६६

२ कबीर प्रभावती, पृष्ठ २०२, पद ३१७

“का सिधि साधि करौ कुछ नहीं, राम रसाइन मेरी रसना माहों ।
 नहीं कुछ ग्यान ध्यान सिधि जोग, तार्थ उपजं नाना रोग ।
 का बन मं बसि भये उदास, जे मन नहीं छाडै आसा पास ।
 सब कृत काच हरी हित सार, कहै कबीर तजि जग ब्योहार’ १”

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ज्ञान और योग को कबीर अपने
 में पूर्ण नहीं मानते, हरिप्रेम में ही उनकी पूर्णता सिद्ध होती है ।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३०, पद १३०

कबीर का चिन्तन-पक्ष

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर का साधना-पक्ष बड़ा प्रबल है। कबीर योगी भी है और भक्त भी, किन्तु योग को वे प्रेम सिद्धि का ही एक साधन मानते हैं अन्यथा हरि प्रेम के नामन के याग को व्यर्थ न कह डालते। इतना ही नहीं, हरि प्रेमी कबीर ने ज्ञान एक का व्यर्थ कह दिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि याग और ज्ञान का उनके लिए कोई उपयोग ही नहीं है। वे याग को वृत्तियाँ के जमन के लिए और ज्ञान को तात्त्विक बोध के लिए भक्ति का सहयोगी मानते हैं।

योग उनकी व्यक्तिगत साधना है जिसका सम्बन्ध बल उन्हीं से है, किन्तु प्रेम में उनकी व्यक्तिगत साधना होती हुई भी उसका उदय प्रसार से होना है जहाँ योग का कोई काम नहीं है, किन्तु ज्ञान उस प्रसार के विरलेपणात्मक बोध के लिए भी आवश्यक रहा है। जैसे-जैसे उन्होंने प्रसार को समझा है वैसे-वैसे उनका प्रेम व्यापक एवं गहन होता गया है। यहाँ तक कि उनका सुधारवादी दृष्टिकोण भी उनके ज्ञान से प्रेरित है। उनके इस दृष्टिकोण में जहाँ ज्ञान की प्रेरणा है वहाँ प्रेम का आस्वेप भी है। ज्ञान ने उनके प्रेम को साजिन करके चमका दिया है जिससे उन्हें समदृष्टि प्राप्त हुई है। ज्ञान सत्य का उद्घाटन करता है जिस कबीर ध्येय और प्रेम, दोनों रूपों में देखते हैं।

कबीर के ज्ञान की दो भूमिकाएँ हैं जो उनके चिन्तन पर आधारित हैं। एक भूमिका पर वे मोक्ष उत्प्राण में प्रवृत्त होते हैं जहाँ वे सुधार के प्रस्ताव एवं कुत्साशा की भर्त्सना करके विषमता को समता से पाटना चाहते हैं। दूसरी भूमिका पर वे परमात्मा के प्रेम में निमग्न होते चल जाते हैं। उनके प्रेम की चरम परिणति प्रिया, प्रेम और प्रेमी की एकता में होती है।

वहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर का ज्ञान क्षेत्र अद्वैतपरक है, किन्तु प्रेम क्षेत्र के पक्षिक कबीर का प्रस्थान विन्दु द्वैतपरक है। प्रेम का वे बीच का

भाव है अर्थात् आश्रय और आलम्बन के बीच में प्रेम पुल का काम करता है किन्तु प्रेम की एक विशेषता है कि वह अपनी अनन्यता की दशा में प्रेमी को प्रियमान कर देता है। इस तथ्य की पुष्टि कबीर के ही शब्दों से की जा सकती है —

“तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हू।
बारी फेरी बलि गई, जित देखों तित तू” ॥”

अतएव प्रेम अपने प्रारम्भ में द्वैतपरक तथा परिणति में अद्वैतपरक है। उस अद्वैत की विवेचना कबीर के चिन्तन-क्षेत्र की वस्तु है। वह अद्वैत तत्त्व क्या है, इसका उत्तर कबीर ने अनेक प्रकार से दिया है।

अद्वैत तत्त्व—“वह अद्वैत तत्त्व अद्भुत है, कहने में नहीं आ सकता और हो सकता है कि वही हुए पर मुनने वाले को विश्वास न हो क्योंकि मुनने वाले की अनुभूति भिन्न हो सकती है” ॥” इसीलिए कबीर कहते हैं —

“पारब्रह्म के तेज का कंसा है उनमान।
कहिबे कूं सोना नहीं, देह्या ही परवान” ॥”

उस अद्वैत तत्त्व को कबीर ने अनेक नामों से अभिहित किया है। पारब्रह्म, ब्रह्म, परमात्मा, हरि, निरजन, ब्रह्म, खालिक, निर्गुण, भगवान, राम, पुरुषोत्तम आदि अनेक नामों से वे उसी अद्वैत तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। वह गुण विहीन है। उसका न कोई रूप है, न रस है। उसमें देखने की कोई चीज नहीं है। उसका कोई नाम भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि वह निर्गुण और निराकार है। इसीलिए कबीर अपनी समस्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं —

“अब गति की गति क्या कहू, जस कर नाव न नाव।
गुन बिहून का देखिये, काकर धरिये नाव” ॥”

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-९
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८-३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२-३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३८, पंक्ति १४-१५

सामर्थ्य एव शक्ति—उस अद्वैत तरंग के सम्बन्ध में कबीर की अनुभूति अद्भुत है। वहाँ कारण के बिना ही कार्य हो जाता है। "यह मुख के बिना खा सकता है, धरणा के बिना चल सकता है, जिह्वा के बिना बोल सकता है, स्थान को छोड़े बिना ही दसा दिसाओ म फिर सकता है, हाथों के बिना ताली बजा सकता है, बाजे के बिना मंगीत प्रस्तुत कर सकता है और शब्द के बिना अनाहत् नाद ध्वनित कर सकता है। उसे कोई बिरला ही जान सकता है।" यह वर्णन उस अद्वैत तत्त्व की शक्ति और सामर्थ्य का द्योतक है। इस प्रकार का वर्णन कबीर की कोई विशेषता नहीं है। उपनिषदों ने भी उसकी शक्ति एव प्रभुता का वर्णन इसी प्रकार किया है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णं' आदि शब्दों में स्वैताश्वतर उपनिषद् ने उसकी महिमा का प्रतिपादन किया है तथा "आसीनो दूर ब्रजति शयानो याति सर्वतः" कहकर कठोपनिषद् ने परमात्मा को महिमा के वर्णन करने की उसी शैली का उपयोग किया है।

देश-काल—कोई कृति उसके लिए असम्भव नहीं है किन्तु वह किसी कृति में श्रावण भी नहीं है। देश और काल की सीमाएँ भी उसे भावण नहीं करती। 'न वह दूर है न निकट है।' 'जिसके सम्बन्ध में न उदय का प्रश्न उठता है और न अस्त का।' 'न उसका आदि है और न अन्त है।' वह काल के विकारों से परे है। "न वह बाल है, न युवा और न वृद्ध ही।" वह अजर-

- १ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०, पद १५६
२. स्वैताश्वतर उपनिषद् ३-१६
३. कठोपनिषद् १-२-२१
४. 'नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा ।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८, पक्ति २१
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०, पक्ति १६
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२, पक्ति ७

अमर कहा जाता है।^१ न वहाँ दिन है न रात है, समय का कोई चिह्न वहाँ नहीं है—

“तहा न ऊयें सूरज चन्द, आदि निरजन करै अनन्व’ ।”^२

एक ग्रन्थ स्थान पर ‘जाके सूरज कोटि करे परकाम’ तथा ‘कोटि चन्द्रमा गहैं विराक’ कहकर उस अद्वैत तत्त्व को सूर्य और चन्द्रमा का कारण भी सिद्ध कर दिया है। कबीर की इस उक्ति को मुण्डकोपनिषद् का समर्थन प्राप्त है —

“न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारक
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।
तमेव भाग्तमनुभाति सर्वं
तस्या भासा सर्वमिद विभाति’ ॥”

अवस्था—वह तत्त्व किसी अवस्था को प्राप्त नहीं होता। वहाँ न मयोग है और न वियोग है, न धून है और न छाया है। उसे न शीतल कह सकते हैं और न तप्त ही। वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। इसलिए कबीर उसे ‘सत्य’ कहते हैं।

सत्य—सत्य वह है जो स्थिर रहता है। जो विकार को प्राप्त नहीं होता। जहाँ विकार होता है वहाँ विनाश की स्थिति भी निश्चित है और जहाँ विकार और विनाश है वहाँ सत्य नहीं है। जो उत्पन्न और विनष्ट होता है वह असत्य (भूठ) है।^३

सत्य की खोज—उस सत्य की विवेचना वे औपनिषादिक ङग से ‘नेति-नेति’ की शैली में करते हैं। उस अद्वैत तत्त्व को ‘इत्यमिद’ कहकर सीमित नहीं किया जा सकता। अतएव वे उसकी विलक्षणता को ‘ऐसा भी नहीं’, ‘ऐसा भी नहीं’ कहकर ही प्रतिपादित करते हैं —

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पक्ति ४
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६, पक्ति २२
३. मु० उप० २-२-१० .
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३२, पक्ति २१

“देवी न देवा पूजा नहीं जाय, भाइ न बघ माइ नहीं बाप’ ।”

× × × ×

“अमित्तन मिलन धान नहीं छाहा, दिवम न राति नहीं है ताहा’ ॥”

× × × ×

“धुनि अस्तयूल रूप नहीं जेवा, द्विष्टि, अत्रिष्टि छिप्यो नहीं पेसा ।
बरन अबरन बध्यो नही जाई, × × ×
धादि अति ताहि नही मधे, बध्यो न जाई आहि अकये’ ।”

वह सत्य अखड एव पूण है । वह सर्वव्याप्त एव निर्विकार है । उसको किमी विशेष व्यक्ति वस्तु या स्थान ने दखना अनुचित है क्योंकि उसको अखडता अक्षुण्ण नहीं रहती । किसी प्रवार की सीमा उस अखड अनन्त एव पूर्ण सत्य को व्यक्त नहीं कर सकती । इस कारण कबीर उपनिषद् के स्वर में उस सत्य की व्यक्तिगत सीमा का विरोध करते हुए कहते हैं —

‘ना जसरथ धरि श्रोतरि आवा, ना लवा का राव सतावा ।
देवं कूति न श्रोतरि आवा, ना जसवं ले गोद सिलावा ।
ना वो म्बालन कं सग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया ।
बावन होइ नही बलि छलिया, धरनी बेद लेन उपरिया ।
गढक सातिगराम न कोला, मछ बछ हूँ जलहि न डोला ।
बदो बंस्य ध्यान नही लावा, परसराम हूँ खत्रो न सतावा ।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगननाथ ले प्यड न गाडा ।

कहे कबीर विचारि करि, ये ऊंले ब्योहार ।
याही थं जे अगम है, सो बरति रह्या सतारि’ ॥”

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८, पक्ति १६

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६, पक्ति २१

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४२-२४३

इसी शैली में वे और भी आगे बढ़ते चले जाते हैं —

“ना इहु मानुष ना इहु देव, ना इहु जती कहावं सेव ।
ना इहु जोगी ना प्रवधूता, ना इसु माइ न काहु पूता ।

× × ×

ना इहु गिरहो ना ओदासी, ना इहु राज न भीख भोगसी ।
ना इहु पिड न इकतू राती, ना इहु ग्रहान ना इहु खातो ॥
ना इहु तथा कहावं सेख, ना इहु जीवं न मरता देख ॥”

यह सत्य ‘अनुभवंकगम्य’ है । न उसको “भावरूप कह सकते हैं न प्रभावरूप”^१ । ‘वह न तो जलाने में जल सक्ता है, न काटने से कट सक्ता है और न मुसाने से भूख सकता है’ ।^२ कबीर की इस उक्ति का समर्थन गीता के ये शब्द करते हैं —

‘नेन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नेन दहति पावक ।

नेन क्नेदयन्त्यापो नेन शोष्यति मारतः’ ॥’^३

कबीर उन्हें भारी या हल्का कहने में डरते हैं क्योंकि उसको उन्होंने नेत्रों से कभी नहीं देखा^४ । वह सत्य बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा है^५ । फिर उसको कर्म व्यक्त किया जाये ।

सत्य और नानात्व—जगत् के नानात्व को देख कर प्रायः सत्य में भी नानात्व का आरोप कर लिया जाता है किन्तु कबीर इस नानात्व को स्वीकार नहीं करते । अतएव ‘नानान्व’ का घडन करते हुए वे ‘एकत्व’ का प्रतिपादन करते हैं —

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०१, पद १२६

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४८, पक्ति २०

३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३६, पक्ति १८

४ देखिये, गीता, अध्याय २-२३

५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७-१

६ देखिये, कठोपनिषद् :—‘अणोरणीयान्महतो महीयान्’ १-२-२०

“कबीर यहू तो एव हँ, पइदा बीया भेय ।
भरम करम सब बूरि करि, सवही माहिं अलेख ॥”

कबीर ने अपनी इस साया म ब० उप०^१ व स्वर का ही समर्थन किया है। कबीर का विश्वास है कि द्वैतानुभूति दुःख का कारण है। जिसकी अद्वैतानुभूति हो जाती है उसी को क्षान्ति मिलती है और वह अनुभूति प्रेम म होती है —

‘एक एक जिनि जाणिया तिनहीं सच पाया ।
प्रम प्रीति ल्यो तीन मन, ते बहुरि न आया ॥’

कबीर को सबत्र एक ही तत्त्व या सत्य की प्रतीति होती है। उसी से पिड और उसी से ब्रह्माण्ड पूण है किन्तु वह सब को नहीं दीखता, केवल उसी को वह दिसायी देता है जिसको समदृष्टि प्राप्त है —

“ए सकल ब्रह्मण्ड ते पूरिया, अरु ब्रजा महिं मान जो ।
म सब घट अतरि देखिया, जय देख्या नैन समान जो ॥”

अद्वैत तत्त्व की सम्यता—वह अद्वैत तत्त्व उन लोगों को प्राप्त नहीं हाता जिनकी दृष्टि विकृत है। दृष्टि विकार का कारण भ्रम है। जबतक भ्रम रहता है तबतक द्वैत की ही प्रतीति होती है किन्तु जानोदय होने पर द्वैत तिरोहित हो जाता है। ज्ञान भ्रम को नष्ट करने समदृष्टि प्रदान करता है और समान नैन’ में दखने पर वही अद्वैत तत्त्व सर्वत्र दिखायी पड़ता है। जिसको भ्रम निर्मित नानात्व के पीछे अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता वह आवागमन में मुक्त नहीं होता और भव-क्लेश उसे पीडित करता रहता है —

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४६-१८

२ ब० उप० ४४ १६

३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १८१

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६८, पद ३०

५ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६८ ३०

“दोई कहं तिनहीं कौं दोजग,
बिन नाहिन पहिचाना” ॥”

इस उक्ति को कठोपनिषद् ने भी अपना समर्थन प्रदान किया है —

“मृत्योः स मृत्यु गच्छति,
य इह नानेव पश्यति” ॥”

वह तत्त्व न तो नेत्रों के द्वारा प्राप्तव्य है, न बाणी, तप और कर्म द्वारा ही उपलब्ध है। वह उसी को मिलता है जिसका अन्तर ज्ञान-ज्योति में प्रकाशित हो गया है। जबतक अन्तर प्रकाशित नहीं होता तबतक द्वैत का आभास होता है किन्तु ज्ञान-ज्योति के कारण अन्तर के अक्षर के मिट जाने पर एक परमात्मा की ही प्रतीति होती है —

“जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि।
सब अधियारा मिटि गया, जब दोषक देख्या माहि” ॥”

आत्मा—आत्मा ही परमात्मा है। राम को कबीर आत्मा से अभिन्न मानते हैं। एक अन्य पद में कबीर कहते हैं कि—“उम (परमात्मा) और इस (आत्मा) में एकता है।” उपनिषद् के ‘तत्त्वमसि’ महावाक्य में भी इसी आशय की सिद्धि होती है। लोग भ्रम के कारण पिंड और ब्रह्मांड में भिन्न-भिन्न सत्ताओं की प्रतीति करने लगते हैं। सत्य तो एक ही है। जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है —

“ब्रह्मण्डे सो प्यडे जाति” ॥”

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०५, पक्ति १८
२. कठोपनिषद्, २-१-११
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३५
४. “आत्म राम अक्षर नहि बुजा।”

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३१, पद १३५

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०५, पद ५३
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-३२८

जिस प्रकार रस्सी के सबंध से सर्प की उत्पत्ति केवल मन में होती है उसी प्रकार सत्य को लेकर भूठे नाम रख लिये जाते हैं —

“भूठे नाउ साच ले धरियाँ ।”

भय, माया, मोह आदि का कारण सत्य ज्ञान का अभाव है। इसीलिए जीव भूठी आशा में अटका रहता है—उम आशा में जो उसको उमी भाति पीड़ित करती है जैसे निदाघ में तृष्णा मृग को पीड़ित करती है। यह मिथ्या जगत जीव को भयभीत करता रहता है और रज्जु-सर्प के दश से वह उम समय तक मुक्त नहीं होता जबतक कि सत्य का परिचय प्राप्त नहीं होता —

“भूठ देखि जीव अधिक डराई,
बिना भवगम उसी दुनियाई।
भूठे भूठे लागि रही आसा,
जेठ मास जैसे कुरग पिपासा ॥”

जब सत्य का ज्ञान हो जाता है तो मिथ्या प्रतीति नष्ट हो जाती है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सत्य और भूठे को पकड़ने के लिए कबीर ने पास एक कमीठी है और वह है —

“साँच सोई जे पिरह रहाई।
उपजै बिनसै भूठ ह्वै जाई ॥”

इस कमीठी पर जगत् असत्य ही टहरता है क्योंकि वह स्थिर नहीं है। वह उत्पन्न और नष्ट होता है।

अद्वैत तत्त्व को व्यक्त करने के लिए कबीर ‘परिणामवाद’ के सिद्धान्त का भी प्रयोग करते हैं। इसके अनुसार जगत्, ब्रह्म या परमात्मा का परिणाम

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६, पंक्ति २१

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६, पंक्ति १५-१६

३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३२, पंक्ति २२

शरीर भी नष्ट हो सकता है। कबीर इस शरीर को धूलि की पुडिया कहते हैं जो कुछ दिन तो दिखलायी देती है और अन्त में मिट्टी में मिल जाती है। यह शरीर रुपी कागज की पुडिया तभी तक उडती है जब तक प्राण-मयन वा संचार होता है।

मनुष्य समझना है कि उसका शरीर अमर है। इसीलिए वह इस पर गर्व करने लगता है। वह नहीं जानता कि यह भूटा है। वह प्राणों के लिए अनक साज सजाता है, किन्तु खबर उसे पल भर की भी नहीं है। जिस प्रकार तीतर पर बाज कभी भी आ भपटता है उसी प्रकार बाल मनुष्य पर कभी भी आ भपट सकता है।

मृत्यु—मृत्यु ध्रुव है। हर किसी को मरना पडता है। ऐसी बात नहीं है कि रोपी ही मरता है वरन् बंद भी मरता है। जिस प्रकार हमारे पूर्वज मर चुके हैं, उसी प्रकार हम और हमारे परवर्ती भी मरेंगे। मृतक को रोने वाले, जलाने वाले और हा-हा करने वाले—सभी मरते हैं। अतएव मृत्यु में सबध में किसी ने कुछ कहना सुनना व्यर्थ है —

“रोवणहारे भी मुए, मुए जलावणहार।
हा हा करते ते मुए, कासन करौ पुकार’ ॥”

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-३६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२-२०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११७-६१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२१-१०४
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२०-१०२
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७२-६
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-६
८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७६-३२
९. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७६-३१

यह कहा जा चुका है कि शरीर पच तत्व के मिनने से निमित्त हुआ है और पचतत्व अविगत से उपन्न हुए हैं। जब वे एक दूसरे से विपुक्त हो जाते हैं तब उस अवस्था को दुनिया वाले मृत्यु कहते हैं —

पचतत अविगत थ उतपना एकै किया निवाना ।
विछुरे तत फिर सहज समाना रेल रही नहि आसा^१ ॥

यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि मरने वाला कौन है ? दस प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण मान कर वे पूछते हैं —

कौन मर कहु पडित जना
सो समझाइ कहौ हम सना ।^२

इन के उत्तर में वे स्वयं कहते हैं— मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है और पवन पवन में मिल जाता है और दुनिया देखती है कि मृत्यु रूप की होती है —

माटी माटी रही समाइ
पवन पवन लिया सगि लाइ ।
कह कबीर मुनि पडित गुनी
रूप मुवा सब देख दुनी^३ ॥

जन्म—एक अर्थ रूपक में कबीर कहते हैं कि कायिक रूप का निर्माण मिट्टी से हुआ है और वह पवन के वन से खड़ा है। विट्ट के मयोग से उसकी उत्पत्ति हुई है^४। देह मिट्टा है और पवन बोलने वाला है। इन मिट्टी के शरीर का ही नाम रखा जाता है। यह जन्म के पहले और मृत्यु व पश्चात् और दोना के बीच में भी मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

- १ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०२ ४४
- २ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०३ पक्ति ५
- ३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०३ पक्ति ६ ७
- ४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १७२, पक्ति २२
- ५ देही माटी बोल पवना ।

—कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०२ पक्ति ४४

पचीकरण का कारण यहाँ की माया है। अपना माया के बल से ब्रह्म ही इन शरीरों को बनाता है और वही बिगान्ता है —

“भानं घडे सँवारं सोई, एहु गोप्यद की माया” १

जियुक्त होकर पंचतत्त्व वहाँ चल जात ह ? यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर में कबीर कहत ह — पृथ्वी तत्त्व जल में, जल तेज में, तेज पवन में और पवन-तत्त्व शब्द में जो आकाश का गुण है विलीन हो जात है १।

कबीर का विश्वास है कि यह मनुष्य शरीर प्रति दुर्लभ है। यह बार-बार नहीं मिलता, किन्तु जीवन मरण को समान समझ कर पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये १।

✓

जगत्—वह जगत भी जन की वृद्ध के समान नश्वर है। इसकी उत्पत्ति और नाश में देर नहीं लगती —

‘ज्यू जल बूद तँसा ससारा उपजत बिनसत लगन न बारा’ १

यह जगत् उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। उपन्न होकर प्राणियों के सामने ही यह जगत् नष्ट भी हो रहा है —

“उपजं निपजं निपजिस भाई,
नयनहु बेखत इहु जग जाई” १

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७२-२६४

२ पृथ्वी का गुण पानी सोप्या, पानी तेज मिलावहिगे।
तेज पवन मिति पवन सबद मिति, सहज समाधि लगावहिगे ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७-१५०

३ ज्यू जामण त्यू मरणा, पछितावा कछू न करिणा।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४५-१७३

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२१-१०४

५ कबीर ग्रन्थावली, २७१, पद २५

“उसने त्रिगुणात्मिका माया से इस जगत् की सृष्टि की है और अपने मध्य ही अपने को छिपा लिया है। इस जगत् को उस परमात्मा ने कहने-सुनने के लिए बनाया है। लोग जगत् में ही भ्रान्त हो गये हैं, उस स्रष्टा को किसी ने नहीं पहिचाना।” एक सुन्दर रूपक में इस जगत् रूपी वृक्ष का रूप-चित्र कबीर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

“सूक बिरल यहु जगत् उपाया, समझि न परं बिलस तेरी माया ।
साखा तीनि पत्र जुग चारो, फल दोइ पाप पुनि अधिकारी ॥”

त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न “यह जगत् चार प्रकार का है—
स्वेदज, अण्डज, जरायुज तथा उद्भिज” ।”

एक अन्य स्थान पर कबीर ने सृष्टि का मूल कारण ओंकार को बतलाया है। ‘ऊंकारे जग ऊपजै’, ‘ऊंकार आदि है मूला’ तथा ‘ओंकार आदि में जाना’ वाक्यों से कबीर इसी मत की पुष्टि करते हैं।

कबीर ने माया और ओंकार का संबंध कही नहीं दिखलाया। अवश्य ही जगत् के इन दो नाम वाले कारणों में कोई संबंध होना चाहिये। शायद मायामय शब्द ब्रह्म ही ओंकार है।

जीव, जगत् और ब्रह्म का संबंध—कबीर नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या कहते हैं। इसकी प्रतीति मनोभ्रम के कारण होती है। मोह, ममता, सुख, दुख सब मन के विकार हैं। जबतक मन में विकार रहते हैं तबतक ससार नहीं छूटता। जब मन निर्मल हो जाता है तब उसकी स्थिति निर्मल, निरजन से पूयत् प्रतीत नहीं होती —

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२५, पक्ति १-२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२६-२
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२६-३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४३, पक्ति २३
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१०, पक्ति १३

जब लग मनहि विकारा, तब लगि नहीं छूटें सतारा
जब मन निमत बरि जाना, तब निमत माहि समाना' ॥

मन के स्थिर होन पर स्थिति प्रात्मसत्ता या सत्य का साक्षात्कार
हा जाता है —

मन स्थिर भयो तब धिति पाइ' ॥

अतएव आत्मा, परमात्मा और जगत का भेद केवल मन में ही वास्तव
में वह भेद नहीं है। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है —

प्रात्म राम भवर नहि दूजा' ॥

उसी प्रकार जगत् अपनी नामरूपात्मक स्थिति में असत्य एवं मिथ्या
है। उसके मूल में निहित सत्य न तो नामरूपात्मक है और न नाना-वचन है।
जिस प्रकार स्वप्न दृश्य सत्य नहीं हात उसी प्रकार दृश्य जगत् भी सत्य नहीं
है। 'एकमेक राम रक्ष्या सबनि मे' अथवा 'सत्तो मिट्यो एक नो एक' यह
कर कबीर ने सत्य के स्वरूप एवं ब्रह्म जीव और जगत के संबन्ध पर एवं ही
साथ प्रकाश डाला है।

सुख दुःख का कारण—इस जीवन का कबीर ने एक हाट बतलाया है।
जिस प्रकार वणिक हाट में किराना बेचने आता है और किराने के अभाव में
उस बहा नहीं आना पड़ता उसी प्रकार जीव को अपने काम समाप्त करने के
लिए इस सतार में आना पड़ता है। जबतक काम समाप्त नहीं होते तबतक
आवागमन से मुक्ति नहीं होती। यह जगत् पर घर है और परमात्मा स्व घर
है। प्रत्येक वणिक का लक्ष्य स्वगृह है। वह वही सौटना चाहता है किन्तु जब

- १ कबीर प्रथावली पृष्ठ १७८-२६३
- २ कबीर प्रथावली, पृष्ठ १४-१७
- ३ कबीर प्रथावली पृष्ठ १३१-३५
- ४ कबीर प्रथावली पृष्ठ १०५-५२
- ५ कबीर प्रथावली पृष्ठ १०५-५४

तक उमका किराना नहीं बिक जाता तबतक उसे हाट में ही ठहरना पड़ता है । इसी प्रकार जवनक पाप-पुण्यो में से कुछ भी प्रवशिष्ट रहता है तबतक जीवात्मा को ब्रह्म या परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसी भाव को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

“इत प्रघर उत घर, ब्रणजण भाये हाट ।
करम किराणा बेचि करि, उठि जो लागे बाट” ॥”

जीव नाम ही उसका है जो कर्मों के बश में है :—

“कर्मों के बसि जीव कहत हैं” १”

पाप और पुण्य, दोनों को कबीर भ्रम मानते हैं और इसी से जीव को आगे जन्म ग्रहण करना पड़ता है । जब भ्रमजन्य पाप-पुण्य जल जाने हैं तब ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है ।

“जायें जनम लहत नर भागे,
पाप पुंनि दोऊ भ्रम लागे” १”

× × ×
“जब पाप पुंनि भ्रम जारी,
तब भयो प्रकास मुरारी” १”

जिस प्रकार पाप-कर्म बधन हैं उसी प्रकार पुण्य-कर्म भी बधन हैं । ये दोनों समवेत रूप में तथा पृथक् रूप में भी आवागमन का कारण बनते हैं ।

फल—जो जैसा करता है उसको वैसा फल मिलता है । जो पुण्य कर्म करता है उसे सुख मिलता है जो पाप-कर्म करता है उसे दुःख मिलता है —

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-२७
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८७-२६३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८४-२८३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७८-२६३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२८-२

‘जो जत करिहे सो तत पइहे, राजा राम निमाई’ १”

यहाँ कबीर ने ‘राजा राम निमाई’ कह कर ‘अथयमेव भोक्तव्य कृत कम शुभाशुभम्’ १ एव कर्मण्येवाधिवास्त मा फोपु कदाचन’ दोनो का भाव एक ही पंक्ति में एक साथ भर दिया है।

कुछ लोग भ्रमवश यह सोच लेते हैं कि वे धर्म करते हैं अतएव उनको मुक्ति हो जायगी। ऐसी लोगों को कबीर व्यग्रात्मज ढंग से चेतावनी देते हुए कहते हैं —

‘कबीर मन फूल्या फिरं, करता हू मैं धर्म।
कोटि कर्म मिरि ले चल्या, चेत न देखै धर्म’ ॥”

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर पर ‘कर्मवाद’ और ‘पुनर्जन्मवाद’ के सिद्धान्तों का पूरा प्रभाव है। इसका एक प्रौढ प्रमाण उन्ही की यह उक्ति है —

१ ‘पूरव जनम हम धाम्हन होते, घोछ करम तपहीनां।
राम देव की सेवा छूका, पकरि जुलाहा कीन्हा ॥”

इससे कबीर सचित एव क्रियमाण कर्मों की ओर सक्त करते हैं। उन्होंने प्रारब्ध कर्म की आर भी सकेत किया है। विषय-रत मन पल भर में करोड़ों कर्म कर डालता है :—

“कोटि कर्म पल में करं,
यह मन बियया स्वावि।”

कर्म और कामना—जबतक कर्म कामना से किया जाता है तबतक वह दुख-सुख का कारण बनता है किन्तु जब वह निष्काम रूप से किया जाता

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५६-२००

२. तु० की० गीता

३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३८-२१

है तब दुख सुख दोनों हो ब्याप्त नहीं होते । दुःख-सुख वहीँ होते हैं जहाँ फना-सक्ति होती है । विवेकी लोग आत्मिक का परित्याग करके निष्काम कर्म करते हैं और उन्हीं को आत्म-साक्षात्कार होता है । अतएव वे निष्काम कर्म पर ही विशेष जोर देते हैं ।

माया—कबीर ने सुख-दुःख, आवागमन एवं जगत् का मूल कारण माया को माना है । जहा शार्त्रो ने माया को विद्या और अविद्या के सवध से दो प्रकार की माना है वहाँ कबीर ने उने अविद्या स्वरूपा ही माना है । माय ही उन्होने उसको अमत्य भी कहा है । एक उपदेश में उन्होने माया को मिथ्या कह कर छोड़ने का आदेश दिया है —

“मिथ्या करि माया तजो सुख सहज धीचरि” ।

एक अन्य स्थान पर वे माया के बन्धन को भूटा कह कर उसका सवध अम या अज्ञान से जोडते हुए कहते हैं —

“भूठी माया आप बधाया ज्यों नलनी भमि सूआ” ॥”

ब्रह्म और माया—इस माया को कबीर रघुनाथ या ब्रह्म की मानते हैं । ‘तू माया रघुनाथ की, खेलण बढी अहेई” कह कर उन्होने माया का सवध स्पष्टत परमात्मा से जोडा है । वह माया सरय, रजस् एवं तमस् तीनों गुणों में व्याप्त है —

“राजस तामस सातिग तोन्यु वे सब तेरी मायो” ।”

परमात्मा की त्रिगुणात्मका सृष्टि इसी माया से होती है और वही इसका पालन एवं सहार भी करती है —

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६-१०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२७-२०५
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८६-७४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८७
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५०-१८४

“भानं घड़े सवारं तोई, यह गोब्यद की माया ।”

सच तो यह है कि माया परमात्मा की प्रेरणा है। उसी की प्रेरणा से वह अपना काम करती है। वह माया की शक्ति को समझते हुए भी उसके प्रेरक की ही बलिहारी जाने ? यद्यपि जा माया का प्रेरित करता है वही उसका सहाय भी करता है। अतएव व धन है —

“बलि जाऊ ताकी जिनि तुम पटई” ।^१

उस माया से रक्षा केवल परमात्मा ही कर सकता है। इसीलिए वे भक्ति के स्वर में उससे प्रार्थना कर रहे हैं —

“मोहनी माया बाघनी धं राखि लं राम राइ” ।

इससे यह विदित होता है कि कबीर ने माया के दो रूप माने हैं—एक मोहक और दूसरा भयकर। ‘मोहनी’ और ‘बाघनी’ दोनों शब्दों का प्रयोग माया के विषयों के रूप में एन ही साथ करके कबीर ने माया की मोहकता से भयकरता और भयकरता में मोहकता की स्थिति प्रकट की है।

माया का ज्ञान—माया को हर कोई नहीं जानता और जो इसको जानता नहीं है उसी को यह सताती है। त्रिलोक विजयिनी इस माया को कोई नहीं खा सकता—

“मीठी मीठी माया तजी न जाई,
अप्यानीं पुरिय कीं भोली भोली खाई ।”

× × ×

“कीड़ी कुजर में रही समाई,
तीनि लोक जोस्या माया किनहू न खाई” ।^२

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०-२७०
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०-२७०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२-३०६
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-२३१-२३२

माया को या तो परमात्मा जानता है या परमात्मा के भक्त जानते हैं —

“बाजी की बाजीगर जानें, कै बाजीगर का चेरा” १

जिन मनुष्य के अन्तर में परमात्मा का अथवा ज्ञान का प्रकाश हो जाता है वही से माया किनारा कर जाती है —

“घट की जोति जगत प्रकास्या,
माया सोक बुझाता” १

जिनको परमात्मा का आश्रय मिल जाना है अथवा जिन पर उसकी कृपा हो जाती है वे माया को तोड़ कर फेंक देते हैं —

“दास कबीर राम कै सग्नै, ज्य लागी लू तोरी” २

जिनको आत्मज्ञान या परमात्म-ज्ञान हो जाता है उनकी माया का ज्ञान भी हो जाता है। फिर उनके लिए माया न तो भयकर लगती है और न मोहक ही। इतना ही नहीं उनके लिए उसकी भत्ता तक आभासित नहीं होती। इसी कारण जो मनुष्य माया के बंधन में बंध कर नाचना-फिरता है वही परमात्मा को जानकर परमात्मा हो जाता है और उसका वह नाच बंद हो जाता है और वह स्वस्थ या परमात्मस्थ हो जाता है। इसीलिए शिवजी ने उमा को समझाया है —

“उमा दाह-पोवित की नाई,
सबहि नचावहि राम गोसाईं ।”

—(रामचरित-मानस)

किन्तु वाल्मीकि व तुलसीदास की उक्ति में माया से मुक्ति पाने की दशा ना भी सकेत किया है —

“जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ।”

—(रामचरित-मानस)

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६-२३८

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४०-१५७

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५१-१८७

इससे भी यही सकत मित्रता है कि ब्रह्मा या परमात्मा माया के स्वामी हैं और जीव माया का दास है। जीव का दासत्व उस समय तक नहीं छूटता जबतक कि वह माया को नहीं छोड़ देता और माया बड़ी भयुर प्रतीत होती है। सहज ही छोटी नहीं जा सकती —

“कबीर माया मोहनी जंसी मोठी छाड्” १”

ब्रह्मज्ञानी ही माया से बच सकता है, इस आशय की अग्निव्यस्ति कबीर ने एक सुन्दर रूपक के द्वारा इस प्रकार की है —

“जग हरेवाडा स्वाद ठग, माया बेसा लाइ।

राम घरल नोका गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ” ॥”

माया का प्रसार—माया सर्वव्यापिनी है। यह परमात्मा की ठगोरी है। इसके प्रभाव से जीव को स्वरूप विस्मरण हो जाता है और वह चौरासी साल योनिया में भ्रमण करता फिरता है जगत् में कोई भी तो इससे नहीं बच पाया :—

“कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घाणि” १”

मीर मलिक, छत्रपति राजा आदि सभी माया के अधीन हो चुके हैं। इसने किसी को नहीं छोड़ा है।

यह माया मनुष्य को ही नहीं सताती अपितु पशु-पक्षियों तक को पीड़ित करती है। जल की मछली, आकाश का पतंग, पृथ्वी का हाथी और भुजंग आदि सभी माया से बंधे हुए हैं। माया के प्रसार का एक विशद चित्र कबीर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-३११

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०५

३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११६-८६

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-८

“जल महि मीन माया के बेवे ।
 दीपक पतग माया के छेदे ॥
 काम माया कुधर को घ्यापे ।
 भुअगम भूग माया माहि खारपे ॥
 माया ऐसी मोहनी भाई ।
 जेते जीव तेते उहकाई ॥
 पखी मृग माया महि राते ।
 साकर नाखी अधिक सतापे ॥
 तुरे उष्ट माया महि भेता ।
 सिध चौरासी माया महि बेता ॥
 छिय जती माया के बन्दा ।
 नर्भ नाथु सूरज अरु चन्दा ॥
 तपे रखीतर माया महि सूता ।
 माया महि काल अरु पध डूता ॥
 खान स्याल माया महि राता ।
 बंतर घीते अरु सिघाता ॥
 माजार* गाडर अरु लुबरा ।
 बिरख मूल माया महि परा ॥
 माया अन्तर भीने देव ।
 सागर इन्द्रा घरु घरतेव ॥
 कहि कः जिमु उदर तिसु माया ।
 तब छूटै जब साधू पाया' ॥”

* माया की परिधि इन्द्रिय-विषय ही नहीं है, अपितु मन भी है। मन के सारे व्यापारों में माया की चेष्टाएँ हैं। धामा, तृष्णा, मोह, मनता, मान, अपमान आदि अनेक मनोवृत्तियों में माया का प्रसार अभिन्नधित होता है। कबीर शायद यह भी मानते हैं कि शरीर के मर जाने पर भी मन और उस

पर बने हुए सस्कार नहीं मरते। जिसको लिंग शरीर कहत हैं वह मन के सस्कारों के रूप में दूसरे जन्म में भी जाता है।

“माया मुई न मन मुघा, मरि मरि गया सरोर ।
आसा तूण्णा ना मुई, यो कहि गया कबीर” ॥”

माया के अनेक आत्मज्ञान में अहंकार प्रमुख है। ‘मान’ उसी का एक अंग है जो बड़े बड़े मुनियों तक का निगल चुरा है —

‘मानि बडे मुनियर मिले मानि सबनि को खाइ’ १”

मोह भी अहंकार का ही एक अंग है। यह आत्म-ज्योति को भाँछा-दित करता है —

‘कबीर माया मोह की भई अ धारी लोइ’ १” १/

इस प्रकार कबीर काम, क्रोध, लाभ, मोह, मद और मात्सर्य को माया का ही प्रसार बताते हैं। घन धाम, अर्थ, काम, परिवार आदि का सबंध ही नहीं, अपितु शरीर का सम्बन्ध भी माया का ही बन्धन है —

“सबल ही तैं सब तहै, माया इहि ससार ।
ते क्यू छूदैं बापुडे, बाये सिरजनदार” ॥”

स्रष्टा ने माया में लोगों को क्या बाँध रखा है? यह एक प्रश्न है जो गम्भीरता से विचार करने योग्य है। अन्यथा यह बताया जा चुका है कि माया परमात्मा की प्रेरणा है। उसी को भक्त लोग उसकी लीला भी कहते हैं। वे उसकी लीला को नित्य मानते हैं, किन्तु कबीर माया को मिथ्या मानते हैं क्योंकि ज्ञान का उदय होने पर अथवा परमात्मा को समझ लेने पर, माया आभासित नहीं होती। जिस प्रकार जादूगर को न ममभने वाला ही जादू से

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-१५

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४-१७

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४-२४

४. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३४-२५

विस्मित या मुग्ध होता है उसी प्रकार परमात्मा को न समझने वाला ही माया से प्रभावित होता है जो परमात्मा को समझता है उस पर माया का कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि उसको उसका मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है। माया का प्रसार क्षेत्र अज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश में माया की ग्रन्थि मुलमूक जाती है। ज्ञानदोषक में महात्मा तुलसीदास ने भी इस ओर सकेत किया है। कबीर ने इस माया के झूठे बन्धन को तोड़ डाला। कैसे ? क्योंकि उन्हें मायापति का ज्ञान हो गया। वे माया की असलियत को समझ गये। इसलिए वे बह उठे —

“कबीर भाया पापणी फष ते बंठी हाटि ।-७

सब जग ती धधै पडया, गया कबोरा काटि” ॥”

कबीर ने माया की ‘प्रावरण’ शक्ति को ही विशेष रूप से देखा है। उसकी विशेषता यह है कि वह ‘मत्त्व’ को आवृत करती है जिससे मनुष्य सत्य को सत्य न समझ कर झूठ को ही सत्य मान बैठता है। भ्रम की उत्पत्ति माया का प्रथम पुरस्कार है इसलिए कबीर के मुख से माया के सकेत में बड़ी बटु-जितियाँ निकल पड़ती हैं। यथा —

“कबीर माया पापणों, हरि भू करं हराम ।

मुखि कडियाली कुसति की, कहण न देई राम” ॥”

विवेक और वैराग्य से माया के उच्छेदन में बड़ी सहायता मिलती है। सब लोग माया के दास हैं किन्तु वह स्वयं सन्तो की दासी है। उनके ऊपर माया का कोई प्रभाव नहीं होता। साथ ही सन्त माया की दुर्गति बरके छांडते हैं —

“माया दासी रात की, ऊ ची देइ प्रतीस ।

बिनसी अरु लाती छडी, मुनरि मुनरि जगदीस” ॥”

इस साखी से यह स्पष्ट है कि परमात्मा के वल से माया को सन्त लोग त्याग सकते हैं, केवल विवेक और वैराग्य की शक्ति में नहीं।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०६

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०८

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३-१०

माया को कबीर एक दलदल के समान दललाने हैं। इसमें पर पदा कि फिर मनुष्य फँसता ही चला जाता है। माया मोहती है आकृष्ट करती है और साथ ही बाध भी लेती है। जो माया से बाहर रहते हैं उन्हीं का उद्धार होना है। इस प्रपञ्च में जिनकी प्रवृत्ति है उनका उद्धार का कोई प्रयत्न ही नहीं है क्योंकि उन पर आशा भवार रहनी है। जो निर्वृत्तिप होकर रहता है वही माया से मुक्त हो सकता है। मय तो यह है कि एक ही म्यान में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों तलवारों नहीं रह सकती —

‘सद्यः प्राप्तं ज्ञानं तत्रा निवृत्तिं कं थो नाहिं ।
निवृत्तिं कं निबहे नहीं परवृत्तिपरपचमाहिं ॥’

मुक्ति—सत्य और भूठ का ज्ञान ही मुक्ति है। सत्य परमात्मा का स्वरूप है। अतएव वह आत्मीय है और भूठ परकीय है। मनुष्य बन्धन में इस लिए पड़ा रहता है कि वह ‘अपने’ और ‘पराय’ को नहीं समझता। जिसको वह अपना और पराया समझता है वह अपनी असंलिप्त को नहीं जानता। माया परकीय है और आत्मा स्वकीय है। दाना के समझने के लिए उनके प्रकार को समझना भी आवश्यक है। इस रहस्य का उद्घाटन कबीर एक ही माया में इस प्रकार करते हैं —

‘आप आपसे जानिये, है पर नाहीं सोइ ।
कबीर सुविनं करे धन ज्यु, जागत हायिन होई ॥’

इसमें स्पष्ट है कि भ्रम बन्धन है और ज्ञान ही मुक्ति है। ज्ञान के अरणोदय में अज्ञानजन्म कर्म रूख जाते हैं और जब पूर्ण कर्म क्षय हो जाता है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। जबतक कर्म बने रहते हैं तबतक आवागमन भी बना रहता है। कर्म का फल भाग है और भाग भोगने के लिए ही आवागमन है। इसी आवागमन के सिद्धान्त में चौरासी लाख योनियों की कल्पना है। जब कर्म कर्म को काटने लगे तो ममन्त्रिय ज्ञानोदय गया।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३५-२७

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २५-६४

कर्मनाश और कर्म सन्यास निर्वृत्तिमार्ग की पगडण्डिया हैं। यही निष्काम कर्म होता है। जिस प्रकार कल अनासक्ति भाव से अपना काम करती रहती है उसी प्रकार अनासक्त मनुष्य के शरीर से निष्काम कर्म होते रहते हैं। मन की वृत्तियों के शमन से प्रारब्ध कर्म भी रुक जाते हैं अतएव भोगों की मृष्टि समाप्त हो जाती है। इस अवस्था को जीवमुक्ति कहते हैं। दूसरी अवस्था विदेह मुक्ति की होती है। यह देह के नाश होने पर होती है। इस दशा में आवागमन रुक जाना है और जीव ब्रह्म रूप में अवस्थित हो जाता है। इन दोनों अवस्थाओं को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं —

“बहुरि हम कोहै आवहिगे ।

आवन जाना ह्वम तिसै का मुषम बुझि समावहिगे ।

जर लूके पचधातु की रचना ऐसे भर्म चुकावहिगे ।

दसन छोड भए समदर्शी × × ।

× × ×

जीवत भरहु भरहु पुनि जीवहु पुनरपि जगम न होई ॥”

इस मुक्ति-सिद्धान्त से भी कबीर का भक्ति भाव सनिहित है क्योंकि मूलतः कबीर दार्शनिक नहीं थे, प्रेमी थे।

शून्य के विकास में कबीर का योग

कबीर के समय तक शून्य ने अनेक रंग बदले और अनेक अर्थ धारण किये। वह अनेक सिद्धांतों और मतों में जाकर मिला और स्थान स्थान पर अपने अर्थ को बदला। कबीर की वाणी में भी इस शब्द ने अपना विकास किया। यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि कबीर की वाणी में उसे समुचित सम्मान प्राप्त हुआ। एक कुशल राजनीतिज्ञ की भांति कबीर के "सुन्न" ने यथा-वसर अपना अभिप्राय बदल कर शब्द-समाज में अपनी स्थापना की। अनेक अर्थों से अपरिचित पाठक को वह आसानी से भ्रम में डाल सकता है। अतएव इसके इतिहास की खोज भी आवश्यक है।

वैदिक साहित्य में—'शून्य' शब्द के विकास का इतिहास हमें वेदों तक ले पहुँचता है। ऋग्वेद में यह शब्द तो नहीं मिलता किन्तु इसके अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द अवश्य विद्यमान हैं। उनमें से 'असत्' शब्द प्रमुख है। इस शब्द ने सृष्टि से पूर्व की प्रवस्था को व्यक्त करते हुए शून्य के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया है—

“उस समय न सत् था और न असत् था।”

“उस समय न मृत्यु थी और न अमृत्यु ही।”

“उस समय उसके अतिरिक्त और कुछ न था।”

‘कौन जान सकता है और कौन कह सकता है कि जो इस अद्भुत सृष्टि का स्रोत है, वह कहा से आया है’।”

१. ऋग्वेद १०-१२६-१

२. ऋग्वेद १०-१२६-२

३. ऋग्वेद १०-१२६-१

४. ऋग्वेद १०-१२६-६

इसके पश्चात् उरनिपदों का सचित ज्ञान घाता है जिसकी ज्योति में उक्त अर्थ और भी आगे बढ़ता है। उसने कुछ अन्य शब्दों की महामयता से अपनी अभिव्यक्ति की है। “अकाय होने का कारण वह व्याप्त था।” “वह श्रवण है इसलिए किसी भी वर्ण को धारण कर सकता है।” “वह महान् आत्मा अज, अजर, अमर एव अमय है।” “वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोचर, अवर्ण और चक्षुश्रोत्रादिहीन है, एव जो अपाखिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अति सूक्ष्म और अव्यय है और जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे विवेकी लोग मन् और देखते हैं।”

“यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं किन्तु द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है; मनन का विषय नहीं किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रह कर दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गी ! निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है।”

“उस (तत्त्व) तक न नेत्र पहुँचते हैं, न वाणी पहुँचती है और न मन पहुँचता है।”

“उस तन्त्र को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सग है, न रम है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, और न भाव है। उसमें न अन्तर है, न बाहर है। वह न तो कुछ खाता है, और न उसे कोई म्ता है।”

१. ईगोपनिषद्, ८
२. श्वेताश्वतर उप० ४-१
३. बृह० उप० ४-४-२५
४. मुण्ड० उप० १-१-६
५. बृह० उप० ३-८-११
६. केन० उप० १-३
७. बृह० उप० ३-८-८

“वह हृदय के आकाश में शयन करता है। सबको बश में रख कर सब का शासन करता है। जो ‘नेति-नेति’, इस प्रकार निर्देशित किया जाता है। वह अप्रहृणीय, अशीषे और अनग है। वह न तो वही भासकत है और न आवद्ध। उसको न तो व्यथा होती है और न उनका क्षय ही हाता है। वह पाप-पुण्य—घोक-हर्ष को प्राप्त नहीं होता।”

ऋग्वेद ने एक विलक्षण सत्ता को स्वीकार करके परवर्ती विचारकी के लिए एक मार्ग तैयार कर दिया था। उसी सत्ता को उपनिषदों ने ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया किन्तु उसका अनिवंचनीय बतलाने हुए ‘नेति-नेति’ के द्वारा प्रतिपादित किया। इसी ‘नेति-नेति’ से बौद्धों का ‘शून्य’ सिद्धान्त विकसित हुआ।

बौद्ध धर्म में—उपनिषदों का नेति नेतिवाद महायान सम्प्रदाय में पहुँच कर अज्ञातमवाद में परिणत हो गया। वहाँ विशेष बस्तु की सत्ता का निषेध करके ‘सर्वमनित्य, सर्वशून्य, सर्वमज्ञातमन्’ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

महायान अभिसमय^१ मूल में प्रतिपादित उक्त सिद्धान्त का आशय निम्न-लिखित पंक्तियों में देख सकते हैं—

“रिक्त, शान्त अह अह-रहित ही
सहज भाव सब जीवों का है।
व्यक्तिरूप से कोई प्राणी,
सत्य नहीं है महा जगत् में।
आदि, मध्य अथ अन्त नहीं कुछ,
मिथ्या ही जग, सत्य नहीं है।
बुद्ध नदय है, स्वप्नमात्र है,
घन-दामिनि की सी खेता है।
जल-बुद्बुद का यह मेला-सा,
क्षणिक लहर है यह पानी की।

१. बृह० उप० ४-४-२२

२. नजो, न० १६६ (अनु०)

कारण और परिस्थितियों न,
 यहा वस्तु को जन्म दिया है।
 नहीं आत्मा किसी वस्तु में
 चलती है या जो करती है।
 ये अज्ञान और इच्छाएँ
 कारण जाती जन्म-मरण का।
 सही ध्यान ब्रह्म समय उर का
 देता इनको मिटा सहज ही।
 सभी वस्तुएँ शून्यमात्र ह
 यही प्रकृति है शून्य न उनको।'

—(अर्थ द्वारा अनुदिन)

अंतिम दो पंक्तियाँ वस्तुमान की सत्ता का निषेध करती हुई भी सत्ता-
 मात्र का निषेध नहीं करती। इनसे परम तत्त्व की सत्ता का निराकरण नहीं
 होता।

महायानियों के अनुसार धर्मकाय मूल सत्य है जो प्रत्येक दृश्य का
 आधार है। इसी के कारण व्यक्तिगत सत्ता संभव होती है। यह धर्मकाय वेदा-
 तियों के ब्रह्म से भिन्न है क्योंकि यह केवल निराकार सत्ता नहीं है। इसमें इच्छा
 शक्ति भी है और अपने को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता भी है। बौद्धों के शब्दों
 में वह करुणा और बोधिस्वरूप है।

प्रत्येक प्राणी में धर्मकाय की सत्ता है क्योंकि प्राणी धर्मकाय की अभि-
 व्यक्तित्वमात्र है। जैसा कि बहुत से लोगो का विचार है व्यक्तियों का कोई पृथक्
 अस्तित्व नहीं है। पृथक् होने पर वे कुछ नहीं रहते। वे साधु के बुद्धि के
 समान नदर हैं जो क्रम क्रम से शून्य में विलीन होते चले जाते हैं। व्यक्तिगत
 अस्तित्व तभी सार्थक होता है जबकि उसको धर्मकाय की एकता में देखा जाता
 है।

धर्मकाय के व्यापक प्रकाश को देखने में माया का व्यवधान आ जाता
 है, किन्तु अब हमारी बुद्धि (बोधि), जो मानव मन में धर्मकाय का प्रतिबिम्ब
 है, पूर्ण प्रकाशित हो जाती है तो हमारी आध्यात्मिक दृष्टि के सामने ब्रह्मकार

का कोई कृत्रिम व्यवधान नहीं रहता। 'म और तू' का अन्तर विलीन हो जाता है और द्वैत भाव नष्ट हो जाता है। वे 'मी तू' म और 'तू' की 'मैं' म प्रतीति होती है।

जो कुछ यह, यहा भी है यह,
जो कुछ यह, यहा भी ता ह ।
द्वैत दृष्टि से यह घरा पर
सिधा मूयु के मिने न कुछ भी' ॥

'जब अज्ञान और अहंकार का मधमाला विलीन हो जाता है तो विश्व वरणा और विश्व बुद्धि का पूण प्रकाश हान लगता है और उस समय मनुष्य ऐसा अवस्था प्राप्त कर लेता है जहा उसे कोई भिन्न-शयु नहीं दिखाई पडता। और उसे यह चेतना तक नहीं हाती कि वह 'धर्मकाय' से मिला हुमा है'।'

बीडा क धून्यवाद का उल्लस करत हुए इस निर्वाण को भी नहीं भुला सकते। उसके दा पक्ष ह—एक विपयात्मक और दूसरा विधेयात्मक। वस्तुपित मनोवगा का विनाश प्रथम पक्ष स सम्बन्धित है और कदना एव महानुभूति वा अम्पास दूसरे पक्ष से सम्बन्धित है। म दोना पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं और जब हम अपन को एक पक्ष म देखते ह तो दूसरा भी माय होना है क्योंकि जंस ही हमारा हृदय अहंकार के आवरण स भुक्त हो जाता है तो वह (हृदय) जो अस्तक निर्जीव एव बडोर था, सजीवता प्रकट करता है और बन्धन को तोड कर धर्मकाय की गोद म मुक्ति प्राप्त करता है।'

निर्वाण म स्वाय भावनाए नष्ट हो जाती ह और मनुष्य अपनी सहज स्थिति मे आ जाता है। इस भाव को 'उदान' के काव्यानुवाद मे देखिये —

'दाता में गृण बढ जाता है।
दमितेन्द्रिय अरु गलित श्रेय हो,

१. तु० की० बडोपनिषद् २-१ १०

२. डी० टी० सुबुकी—आउट लाइन आफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ४८

३. बडीर अन्धावली, पृ० ५१

ज्ञानी दुष्कृति फाड़ फेंकता,
मिटा वासना, पाप, मोह को
पाता वह निर्वाण प्रकाशित^१ ॥

नागाजु न क माध्यमिक मत के अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं — सवृत्ति
मत्य तथा परमाथ सत्य —

इ सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मपणा,
लोकसवृत्तिसत्यञ्च सत्यञ्च परमाथत ।
ये च अनयो न जानति विभागमत्ययो द्वयो,
ते तत्त्वन विजानति गम्भीर बुद्धशासने^१ ॥

सवृत्ति-मत्य म भ्रम (Illusion) तथा योगाचारमत का सापेक्ष ज्ञान
भी मभाविवृष्ट हो जाता है और परमाथ सत्य निरपेक्ष ज्ञान होता है ।

इन दो सत्या की व्याख्या म माध्यमिकों ने 'गूय' और 'अगूय' शब्दा
का प्रयोग किया है जिनसे कुछ पाश्चात्य विद्वाना को भ्रान्ति हो गयी है । कहने
की आवश्यकता नहीं कि निरपेक्ष सत्य (Absolute Truth) अपने मून
रूप मे शून्य है क्योंकि इसम किसी वस्तु या व्यक्ति की सत्ता नहीं होती किन्तु
इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि इसकी सत्ता ही नहीं है जैसा कि बहुत से
आलोचकों ने समझ रखा है । सापेक्ष सत्य की तुलना म माध्यमिकों ने निरपेक्ष
सत्य को शून्य कहा है । वह सत्य इसलिए नहीं है कि कोई विशेष वस्तु या
व्यक्ति गत्य है वरन इसलिए कि वह विशेष मे पड़े ह और इसलिए उस माध्य
मिक मत म 'गूय' कहा गया है । निरविशेष रूप मे वह न रिक्त है और न
अरिक्त है न 'गूय' है न अशून्य है न अस्ति है न नास्ति न भाव है न
अभाव और न मत्य है न अमत्य । इन सभी शब्दों में सापेक्षता एव तुलना
त्मकता निहित है जबकि परमाथ सत्य इन सबमे ऊपर है । अतएव यह कहना

१ देखिये उद्दान अध्याय ८ पृष्ठ ११८ (जनरल स्ट्रोग के अनुवाद म)

२ देखिये नागाजु न माध्यमिक शास्त्र बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोमाइटी पृष्ठ

अधिक गमीचीन होगा कि सब भेद और विरोध इसकी अलण्ड एकता में विलीन हो जाते हैं। इसलिए इसके नामकरण में सत्य की वास्तविक प्रकृति के सम्बन्ध में भ्रम पैदा हो सकता है क्योंकि नामकरण का अर्थ है विभेदीकरण। प्रत्येक दृश्य पदार्थ के मूल में इसकी सत्ता है एवं किसी विरोधी पदार्थ के रूप में इसका भेदीकरण नहीं हो सकता।'

“अश्वघोष ने इस मूलतत्त्व को अनिविचनीय बतलाया है। उसका कहना है कि जब हम उसको सापेक्ष एव सीमा वस्तुओं के गुणों से विलग होने के कारण शून्य कहेते तो लोग उसे असत् समझ लेते और जब हम उसे वास्तविक सत्य कहेते जो दृश्य से परे है तो वे उसे विश्व से परे किसी विरोधी व्यक्ति के रूप में देखने लगेंगे। सच तो यह है कि वह शाश्वत सत्य कहने में नहीं भ्रम करता। उसके सम्बन्ध में किसी का कुछ कहना बिल्कुल वैसा ही होगा जैसा कि अण्डो द्वारा हाथी का वर्णन करना। उनमें से प्रत्येक हाथी के सम्बन्ध में अपना-अपना अनुमान तैयार करता है जो स्पष्ट और अपूर्ण होता है, फिर भी प्रत्येक यही सोचता है कि बस एक यही ठीक है।”

इसी कारण नागार्जुन ने अपने शास्त्र में कहा है —

“अस्तीति शाश्वतग्राहो, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्;
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाधिपेत विचक्षणः ॥”

“To think ‘it is’, is eternalism,
To think ‘it is not, is nihilism,
Being and non being,
The wise cling not to either.”

‘अस्ति’ ‘नास्ति’ और ‘शुद्ध’ ‘अशुद्ध’ द्वैतपरक हैं, इसलिए नागार्जुन का कहना है —

१. देखिये, सुजुकी—आउट लाइन आफ महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ६५

२. दखिये, उदान, अध्याय ६

३. माध्यमिक शास्त्र, अध्याय १५

‘अस्तोति नास्तोति उभेऽपि अता
शुद्धी अशुद्धीति इभेऽपि अता,
तस्मादुभे अत विवर्जयित्वा
मायेऽपि स्थानन करोति पण्डित १ ॥

नेति-नेति ही एक ऐसा माग उपनिषदों ने निकाला जो उभ सत्ता को व्यक्त करने में मनुष्य की अपूर्ण जिज्ञा को सहायता दे सकता था। इमनिष महायानिया ने इस भूततथाता^१ (Absolute Suchness) को शून्यता का नाम दिया।

‘अश्वघोष के शब्दा में तथाता (Suchness) न तो सत्ता है न असत्ता न सत्तामत्ता और न अमत्तासत्ता वह न एकता है न अनेकता न एकतानेकता है और न अ एकतानेकता है’।

मूल प्रकृति हानि या क्षय को प्राप्त नहीं होती। विशेष पदार्थों की मत्ता अत (Confused) स्मृति (Sulyectivity) के कारण प्रतीत होती है। इस स्मृति से पथक किसी बाह्य जगत की अनुभूति नहीं हो सकती। भेद ज्ञान का कारण भी यही स्मृति है।

जो स्मृति गद्द साधारण भाषा में स्मरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है उसी का अश्वघोष न अज्ञान (Ignorance) के समानाधिक के रूप में प्रयोग किया है। और भी कई बौद्ध दार्शनिकों ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग

१ माध्यमिक शास्त्र अध्याय १५

The dualism of ‘to be’ and ‘not to be,’
The dualism of Pure and ‘not pure
Such dualism having abandoned,
The wise stand not even in the middle

२ माध्यमिक लोग न उभ परमाथ मत्व या परिनिव्यत तो भूततथाता^१ कहा है।

३ देसिय अश्वघोष—धम जागरण

किया है। माध्यमिका का कहना है कि प्रत्यक पदार्थ जिसका उद्भव और विनाश होता है मूर्ति और कम व कारण प्रतीत होता है।

इस विवेचना के आधार पर यह कह सकते हैं कि उपनिषद्वादी का नति-वाद ही धीरे धीरे बौद्धा के निराण के रूप में विकसित हुआ। श्रौण निप-दिक बाद बौद्धिक सूत्र था जो बौद्ध धर्म में निराण शब्द से आध्यात्मिक अनुभूति की एक अवस्था विशेष का चार संकेत बरत लगा। व्यष्टिगत अस्थिरता एवं अनात्मता के साथ-साथ बौद्ध दर्शन के मूलाधारों में निराण का भी प्रमुख स्थान है।

बौद्धदर्शनगत शून्यता (Voidness) का अध्ययन और विवेचन विद्वानों ने इतनी विशदता से किया है कि यहाँ उसका दुहराना व्यर्थ एवं अनुप-युक्त होगा। महायान साहित्य में इसका पर्याप्त महत्त्व दिया है। अश्वघोष ने अपने काव्य की सुषमा में और नागाजु ने अपने दार्शनिक गौरव में शून्य को अनावृत किया है। जो शून्य ग्रहण कर अपनी मत्ता को ही खो बैठे उसे बौद्ध नागाजु ने दो दिया है फिर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि नागाजु ने का शून्य केवल निषेध (Negation) नहीं है।

यह शून्य न सत है न असत है न मदसत् है और न अ-मदसत ही है।'

इस शून्यता के कारण ही प्रत्यक वस्तु की स्थिति संभव हुई है।'

वह व्यक्ति जो शून्य संपूर्ण है सबसे संपूर्ण है और जो शून्य से पृथक है वह सबसे पृथक है।'

कुछ मध्यकालीन दार्शनिकों ने शून्यवाद की विवेचना बड़े अद्भुत ढंग में की। प्रत्यक वस्तु परिवर्तनशील एवं अस्थिर है इसलिए वह शून्य है। केवल यह शून्य ही सत्य है यही मूल सत्य है। आयदव में भी इस सिद्धान्त की विवेचना बड़ी सफलता में की है। इसके बिना न तो योगाचारियों के और न वज्रयानियों के दर्शन का ही निर्वाह हो सका। मैं यथाथ तथा आसग जैसे

ार्थिक योगाचारी ही थे । वास्तव में आसम का परमार्थ लक्षण नागाजुन का न्य-सिद्धान्त ही है ।

“न सत् और न असत्, न तथा और न अन्यथा” शून्य की व्याख्या का सूत्र है।

तन्त्रों में—“गायत्री-तंत्र के अनुसार केवल शून्योपामता से, किसी न्याम या प्राणायाम के बिना ही, प्रत्येक वस्तु निर्मल हो जाती है” ।”

कामधेनु तंत्र का कहना है, “शून्य-ज्ञान एवं शून्य से परे है, वह परम शून्य है, वह धावन है और कल्प एव असत्य से रहित है, उसकी दीप्ति कोटि सूर्य की दीप्ति के समान है” ।”

“जो शून्य हृदयाकाश में प्रकाशित है उसका जप भी किया जा सकता है” ।”

“ज्ञान सकलित्नी तंत्र का कहना है कि परमात्मा शून्य है और उसमें मन विलीन हो जाता है” ।”

“शून्य तत्त्व जीवन है” ।”

“ध्यान मन को शून्य में विलीन करने का उपक्रम है, कोई अन्य ध्यान इसकी तुलना नहीं कर सकता” ।”

इस प्रकार शून्य को सर्व-चेतना-कोष बना दिया गया है । भक्तएव महा-देव कहते हैं, “मैं रुद्र हूँ, मैं शून्य हूँ, मैं सर्वव्यापक हूँ और निर्विशेष हूँ” ।”

१. महायान सूत्रालंकार, (नेवो) VI I पृष्ठ० २२

२. गायत्री-तंत्र, परिच्छेद १-१

३. कामधेनु तंत्र, पटल ११

४. कामधेनु-तंत्र, पटल २१

५. ज्ञान सकलित्नी तंत्र, ३३

६. ज्ञान सकलित्नी तंत्र, ३४

७. ज्ञान सकलित्नी तंत्र, ५४

८. ज्ञान सकलित्नी तंत्र, ८१

सिद्धों के मत में—सिद्धों की वाणी में शून्य शब्द का प्रयोग और प्रचार बहुत बढ़ गया। सिद्धों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में बौद्धों से था। इसलिए उनकी शून्य-भावना में बौद्धों की छाया का आना स्वाभाविक था। सिद्धों में शून्य का प्रयोग 'द्वैताद्वैतविलक्षण' एवं 'महामुक्त' के अर्थ में ही नहीं अपितु 'अस्थिर' एवं 'भगुर' के अर्थ में भी किया है।

धर्म सम्प्रदाय में शून्य—धर्म सम्प्रदाय के साथ समाज में शून्योपासना की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। शून्य पुराण^१ के अनुसार महादेव या परमदेव शून्य-रूप है।

हरिचन्द्र ने भी इसी शून्य की उपासना की है^२। शून्य पुराण के अनुसार 'शून्य एक सरोवर है जो नदि-जल से अपूर्ण है'^३।

नाथ सम्प्रदाय में—आज चलकर 'शून्य का और भी विकास हुआ। मध्यकालीन भक्तों ने शून्य को अपने ढंग से स्वीकार किया। भाजारोपासकों द्वारा अनेक प्रकार की मूर्तियों और पापांगा में इनकी पवित्रता की स्थापना की गयी और निराकारोपासकों द्वारा यह असीम की भावना को व्यक्त करने का साधन बनाया गया। वह प्रभाव, भगुर, द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व, वेदतावस्था आदि रूपों के अनिश्चित और भी कई रूपों में प्रयुक्त होने लगा। हठयोगियों की वाणी में शून्य के कई अर्थ दिखायी देने लगे। वेदल हठयोग प्रदीपिका में ही यह शब्द ब्रह्मरन्ध्र^४, ब्रह्म^५, सुषुम्ना नाडी^६, अनाहत्क^७, आदि अर्थों में प्रयुक्त

१. देविय, दोहा-बोप, पृष्ठ १ तथा ८
२. देखिये, क्षितिमोहन सेन—दादू, पृष्ठ ७८-८०
३. शून्य पुराण—चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १५२
४. शून्य पुराण—चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १५२, ३-१
५. शून्य पुराण, चारुचन्द्र बनर्जी द्वारा संपादित, पृष्ठ १७७, ५-१०
६. हठयोग प्रदीपिका, ४-१०,
७. हठयोग प्रदीपिका, ४-१०
८. हठयोग प्रदीपिका, ४)४४
९. हठयोग प्रदीपिका, ४-७३

हुआ है। सहज, समरस, एकरस, आदि विद्वान्तों में मिलकर हमने नये-नये अर्थ धारण किये। शून्य-सिद्धान्त का गोरखनाथ पर बहुत बड़ा प्रभाव था। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व एवं ब्रह्मरन्ध्र के लिये तो किया ही है साथ ही समाधि-अवस्था के लिए भी किया है। "समरसत्व का प्राप्त सावक शून्य में स्थित हो जाता है।"

रामानन्द के समय में शून्य-सिद्धान्त सहज-सम्प्रदाय में आ मिला। 'ग्रन्थ-साहब' के अनुसार जयदेव और रामानन्द दोनों 'सहज' के उपनामक थे। जयदेव कहते हैं, "मैं अपने प्रेम में डूब गया हूँ, मैंने अपने अस्तित्व को उसमें विलीन कर दिया है और मैंने 'ब्रह्म-निर्वाण' प्राप्त कर लिया है।" ग्रन्थसाहब में मुर-सिंह रामानन्द की वाणी में सहज शून्य का संकेत करने वाली कई पक्तियाँ मिल जाती हैं।

जिस प्रकार सहजियों ने शून्य को अपने सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित किया उसी प्रकार निरञ्जनियों ने भी शून्य को समाहृत किया। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सहजियों का शून्य शायद अवस्था-द्योतक है तथा निरञ्जनियों का शून्य मन्ता-द्योतक है किन्तु दोनों पर गभीरतापूर्वक विचार करने पर दोनों के बीच में किसी भेद रेखा का खींचना कठिन होगा।

इस प्रकार कबीर के पहले शून्य-सिद्धान्त के विकास की एक बहुत लंबी परम्परा रही है जिसको दो स्पूल रूपों में देग सकते हैं। एक रूप आस्तिक्य में सम्बन्धित है और दूसरा नास्तिक्य से। वेदों से चली हुई परम्परा जो उपनिषदों में नेति-नेति से प्रतिपादित होती है आस्तिक्य में सम्बन्धित है। दूसरी परम्परा बौद्धों के द्वारा प्रेरित हुई उसी में 'शून्य' शब्द का प्रचलन किया। उसमें आत्म-वाद का खडन है। व्यक्तिगत सत्ता जैसी कोई चीज शून्यवादियों ने स्वीकार नहीं की। कबीर का 'शून्य' वही भी 'अभाव' का समर्थक नहीं है। यह ठीक है

१. गोरक्ष-सहिता, प्रसन्नकुमार कविरत्न द्वारा संपादित, प्रथम मुद्रण पंचम अक्ष, पृष्ठ १०५
२. ग्रन्थ-साहब, राग मारु
३. ग्रन्थ-साहब, राग बसंत

कि उसमें अर्थ बहिष्कृत है और कई स्थानों पर उन्हां उसका प्रयोग परिभाषिक रूप में भी किया है किन्तु उनसे नास्तिकत्व या अभाव का मकत कही नहीं मिलता। यह तो माना जा सकता है कि कबीर का 'सुनि' (दून्य) सिद्धा और नाथों के 'दून्य' में भी प्रभावित है किन्तु यह कतना अनुचित होगा कि कबीर ने 'सुनि' का प्रयोग सिद्धों और नाथों के अनुकरण पर किया है। कबीर का दून्य यदि कही सुपुम्ना, ब्रह्मरन्ध्र और कबलावस्था का मकतित करता है तो कही वह श्रद्धालुवादियों के श्रद्धालुत्व का भावात्मक प्रतीक भी है। 'कहूँ का तात्पर्य यह है कि कबीर का दून्य अभावात्मक नहीं है। कबीर ने 'सुनि' शब्द का प्रयोग कही व्यस्त रूप में और कही समस्त रूप में किया है। समस्त रूप में वह 'सिपर', 'सहज' एव 'मडल' के साथ प्रयुक्त हुआ है यथा—

सिपर के साथ—

'सापर काहीं सोप बिन, स्वाति बूढ़ भी नाहि ।
कबीर सोतो नोपजै, सुनि सपर गड मारि' ॥'

सहज के साथ—

'गग जगुन उर अतरै, सहज सुनि ल्यो घाट ।
तहा कबीर मठ रव्या, मुनि जन जोवं बाट' ॥'

मडल के साथ—

'ऐसा कोई ना मिलै, सब बिधि बंद बताइ ।
सुनि मडल में पुरिष एव, ताहि रहै ल्यो लाई' ॥'

कबीर ने 'सुनि' के अतिरिक्त उसके कुछ पर्यायियों का भी प्रयोग किया है। इनमें प्रमुख गगन मडल, निरजन, सहज, उनमनी और अल्प शब्द हैं। इस अर्थ में अनेक शब्दों का प्रयोग देखिये—

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १३०

२. कबीर प्रथावली, पृष्ठ १५-१५२

(३) गगन मडल का प्रयोग—

“जब परतर खेल भवावा, तब गगन मडल मठ छावा ।
गगन मडल रोकि दारा, तहा दिपस न रातो ।
कहे कबीर छाडि चले, बिछुरे सब साथी ॥”

(४) निरजन का प्रयोग—

“वह कबीर कोई बिरला जागै अजन छाडि निरजन लागे ।
‘तुम धरि जाहु हमारी बहना, दिप लागे तुम्हरे नेना ।
अजन छाडि निरजन राते, ना किमही का देना’ ॥”
“अजन आवें अजन जाइ निरजन सब घटि रह्यो समाइ’ ॥”

(ग) सहज का प्रयोग—

“पच तत अविगत ये उत्पना, एक बिया निवासा ।
बिछुरे तत फिरि सहजि समाना रेल रही नहीं आसा’ ॥”
‘सुखमन नारी सहज मनानी पीवे पीवनहारा’ ।
‘ठारी न टरे आवे न जाइ मुन सहज महि रह्यो समाइ’ ।”

(घ) उनमनी का प्रयोग—

‘उनमनि चढघा मगन रस पीवे त्रिभवन भया उजयारा’ ।”

- १ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७ ७
- २ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, पद १७३
- ३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद २३६
- ४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८०, पद २७०
- ५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२, पद ३३७
- ६ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२-१०३, पद ४४
- ७ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पंक्ति १८
- ८ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६६, पद १७
- ९ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पद ७२

जनमन मनुवा मुनि समाना, दुबिया दुमति भागो ।
कहु कबीर अतुभीइतु देरया राम नाम तिव लागो ॥”

(ह) अन्वय का प्रयोग—

भुटै भुटै रह्यो उरभाई माया अलख जग सख्या न जाई ॥”
अलख निरजन खलै न कोई निरभै निराधार हं सोई ॥”

यह तो प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि कबीर वाणी में 'मुनि' (दैन्य) शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। वही वह ऊँचाई, वही गहराई, और वही स्थिति एवं अवस्था का सूचक है। भाव, रम (ममरमता), वातावरण, सद्भूत, निगुण एवं निगवार मत्ता के अर्थों के साथ साथ कबीर का दैन्य व्यापक, व्याप्य प्राप्त मूढम एवं निरालय का धर्म भी द्योतित करता है। उसमें ध्यम्पना भी सनिहित है। इन सब अर्थों में वह अभाव-संपूजन वही भी नहीं है। जहाँ अभाव की प्रतीति सी होती है वहाँ भी भाव निहित है—

सुनि मडल म मदला धाजै तहा मेरा मन नाचै ॥”

यहाँ सुनि मडल एक भावामक स्थिति है जिससे सम्बन्ध स मन की एक अवस्था वितोष की सूचना दी गयी है।

कबीर का 'मनि' अभावत्मक नहीं है, इसका प्रमाण नीचे की वाणी में भी मिल जाता है—

सहज सुनि में त्रिनि रस चाण्या,
सतगुरु खं सुधि पाई ।
दास कबीर इहि रसि माता,
कबहूँ उछाकि न जाई ॥”

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६१, पद ६७

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३५, पद २३

३. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २३०, पद १३

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०, पद ७२

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११, पद ७४

यदि 'सुनि' अभाव द्योतक होता तो वह न तो रम का भंडार होता और न उसमें मदमत्त बनाने की क्षमता ही होती। यहाँ तो 'सुनि' में रम भरा पड़ा है। हाँ, वह रहस्यमय अवश्य था किन्तु गुरु ने उस रम का उद्घाटन कर दिया और कबीर ने उसको इतना पिया कि वह मलबाला हो गया। मादक होने के साथ-साथ वह रम मोहक भी है। इसीलिए कबीर उससे उछलते नहीं हैं।

कुछ लोग कबीर के निम्नलिखित प्रश्न के 'प्राधार पर उनके शून्य को प्रभावात्मक कह डालने की चेष्टा करते हैं—

“कहं कबीर जहा बसहु निरजन, तहा वल्लु आहि कि सुन्य” १”

इस प्रश्न में 'सुन्य' शब्द सबका निषेध करने भी निरजन की स्थापना करता है, और कुछ हो न हो शून्य में निरजन की व्याप्ति तो स्वयं सिद्ध है। यह निरजनमय शून्य अद्वैतभाव का सूचक है, अभाव का सूचक कदापि नहीं है।

'सुनि मडल' में कबीर ने एक पुरुष का ध्यान किया है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि यह पुरुष शून्य से भिन्न है। दोनों एक हैं। इसीलिये कबीर की 'तो' 'महज सुनि' में लगती है—

“सुनि मडल में पुरिस एक, ताहि रहै रूपी ताई” १”

वह पुरुष ज्योतिस्वरूप है तथा दृश्यलोक के परे ही उसकी शोध की जा सकती है। उसको किसी अवलम्ब की अपेक्षा नहीं है। वह एक ऐसा आकाश-शुभ्र है जो विकसित है किन्तु किसी रूप-रेखा के बिना ही—

“सुनि मडल में सोधि लैं, परम जोति परकास ।

तहू वा रूप न रेख है, बिन पूसनि फूल्यो रें अकास” ॥”

उस 'सुनि' के माथ कबीर ने अपनी मग्ध-भावना स्थापित कर रखी है। वह कबीर की उद्गम-स्थली भी है और बिलय स्थली भी—वह श्रेय भी है और प्रेम भी—

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४३, पद १६४

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६७-७

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२७-१२१

“सहज सुनि ही नेहरी, गगन मडल सिरि मौर ।
दोज कुल हम आगरी जो हम भूतै हिडोल ॥”

जिस प्रकार बाज पक्षी आवास में उड़ता रहता है उसी प्रकार हमारा मन शून्य में निवास कर सकता है किन्तु यह एक अवस्था विशेष है जबकि मन निरालस हो जाता है। इसकी सहजावस्था भी कह सकते हैं। आत्मा की वास्तविक अवस्था भी यही है। इस अवस्था में मैं और तू का भेद मिट कर लोक-सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं और वह मन जो आत्मा और परमात्मा के बीच एक भेदक का काम करता है मिट जाता है तथा शून्य में हमारी स्थिति जल में तरंग के समान अभिन्न हो जाती है—

‘सुनि मडल में घर किया, जंसं रहा सिचाना’ ।’

तथा

‘ऐस हम लोक के बिहुरे, सुनिहि माहि समावहिगे ।
जंसं जलहि तरंग तरंगती, ऐसं हम दिसजावहिगे ॥”

शून्य की यह अनुभूति अद्वैतानुभूति है। यहाँ भी शून्य सत्स्वरूप है, अक्षयस्वरूप नहीं है। वह असीम और गभीर है। सीमा शून्य की अनुभूति नहीं हो सकती। असीम की प्राप्ति का तात्पर्य है शून्य में निमग्न होना। उसको प्राप्त करके यहाँ विश्राम करना दुष्कर है —

‘हब छाडि बेहद गया किया सुनि असनान ।
सुनि जब महल न पावई तहा किया विश्राम’ ॥”

शून्य में विश्राम करने या स्नान करने का एक ही अर्थ है। ध्यान द्वारा शून्य में निमग्न होने से वायिक विस्मरण हो जाता है, तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है और तपन के स्थान पर शीलता आ जाती है।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-१८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३८ पद १५४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३७, १५०
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-११

तत पाया तन वीसरघा जब भनि धरिया ध्यान ।
तपनि गई सीतल भया, जब भुनि किया असताना' ॥'

कबीर के शून्य में व्याप्यता और व्यापकता, दोनों का समावेश है। वह निरालम्ब देवालय भी है और निराकार देव भी। वही कबीर का सेव्य है और उसी में कबीर की स्थिति भी है। उपनिषदों के स्वर में कबीर ने उस शून्य गत्ता को विलक्षण कहा है। वे कहते हैं—“न वह मूकम है, न स्थूल है। उसकी कोई रूप-रेखा नहीं है और न वह दृष्ट है न अदृष्ट है।” वह एक विलक्षण सत्ता है।

उसके साथ मन का तादात्म्य हो सकता है किन्तु प्रायःक दशा में नहीं केवल 'उनमन मन' ही शून्य को प्राप्त कर सकता है और वही शून्य में समा-विष्ट हो सकता है —

“उनमन मनुवा सुनि समाना' ।”

मन के शून्य में समा जाने पर ही अद्वैत स्थिति प्रथवा अद्वैतपद की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में जन्म-मरण का धम दूर हो जाता है।

जीवित-दशा' शून्य-समावेश के मार्ग में बाधक नहीं होती। शून्य की सिद्धि के लिए साधना भी चाहिए। “सुषुम्ना-मार्ग से पवन को ऊपर चढ़ाना, पट्चक्र-भेदन और 'सुरत' को 'सुन्न' में लगा देना” शून्य-प्राप्ति का एक साधन है। शून्य मडल' में ध्यान को भी शून्य की सिद्धि होती है। जो साधक 'नाम' लीन हो-जाता है वह भी शून्य में लीन हो जाता है —

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-३२
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३ पक्ति १४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२१, पद ६१
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८६-७३
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२६
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८८-३२६

‘कहू कबीर जो नाम समाने मुन्न रह्या तव छोई’ ।”

यह दशा सब मुन्न नही है। किमी जागरूक साधक को ही इसकी प्राप्ति होती है। जो शून्य में अज्ञान का जाप करता है वही शून्य तत्त्व को समझ सकता है। ‘शून्य-स्थिति प्राप्त करके साधक घटल हो जाता है। वह न कहीं जाता है न जाना है’ । उसका सहज दशा प्राप्त हो जाती है और वह गुण-भ्रम जो उसके बंधन का कारण बनता है नष्ट हो जाने से वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

इसक प्रतिरिक्त कबीर ने शून्य का प्रयोग विशेषण के अर्थ में भी किया है। इस रूप में शून्य को पारिभाषिक विवक्षिता न रह कर उसका अर्थ ‘सूक्ष्म’ मात्र रह जाता है। अपने ‘राम’ का वर्णन करते हुए कबीर उनको स्थूल और शून्य दोनों रूपा से रहित मानकर ‘शून्य शब्द में ‘सूक्ष्म’ अर्थ की प्रतिष्ठा करते हैं —

“भेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पाप र पुन्य
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित, विवर्जित अस्यूल सुन्य” ॥”

जहाँ कहीं कबीर ने ‘आकाश’ के अर्थ में शून्य का प्रयोग किया है वहाँ भी वह सूक्ष्मता, निगुंणता एवं निराकारता का संकेत देता है।

क्षेप में यह कहा जा सकता है और व है वायिक शून्य, वाचिक शून्य मानसिक शून्य एवं आध्यात्मिक शून्य। प्रथम तीन रूपों में मिट्टी और नाथी

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२४

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-२३७

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५-२६६

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६, पंक्ति १६

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८३-६३

६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६२-२२०

७. “जिन कबीर ठग ठग्यी है बापुरी, सु नि समानी त्वीरी ।”

— कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६१-३०३

को छाया दीख पड़ती है किन्तु चौथा रूप औपनिषदिक परम्परा की एक कड़ी सा दीख पड़ता है। यह ब्रह्म या राम का परिचय देता है। वाचिक और मानसिक शून्य में भी कबीर आत्मा या ब्रह्म के लक्षण प्रस्तुत कर देते हैं। उनमें मनुवा सुन्नि समाना म यौगिक एव अद्वैतिक दोनों प्रकार की छाया की प्रतीति होगी है। रवि सति सुभग रहे भरि नब घटि सबद सुनि थिति माहीं कहकर कबीर ने गद्य की गूय स्थिति भी प्रकट कर दी है। अजपा जपत सुनि अभि अतरि से भी यही रूप प्रतिपादित होता है।

वैसे तो मानसिक गूय भी एक प्रकार से कायिक गूय के अन्तर्गत समाविष्ट हो सकता है किन्तु अध्ययन की मुविधा एव मापताओं के आप्रह से इनके अलग अलग भेद करने में ही औचित्य समझा गया है। कबीर का कायिक शून्य हृदयाकाश अथवा ब्रह्मरन्ध्र का परिचायक है। ब्रह्मरन्ध्र को तो कबीर ने और भी कई नाम दिए हैं जैसे भवर गुफा अथवा सुन्नि सिपरगढ आदि।

लय का घाट सहज शून्य^१ मानसिक एव आध्यात्मिक शून्य का घातक है। इसमें योग अद्वैत और भक्ति तीनों का समन्वित रूप देखा जा सकता है। आध्यात्मिक गद्य त्रिगुण एव त्रिराकार ब्रह्म की ओर संकेत करता है। जैसे तरंगें जल में विलीन हो जाती हैं वैसे ही हम भी सदाशु मुक्त होकर शून्य में लीन हो जावग आदि वाक्यों से गद्य की आध्यात्मिकता स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार के गद्य भेद अथ परवर्ती सत्ता की वाणियाँ म भी मिलते हैं जिनमें दादूदयाल का स्थान प्रमुख है। कबीर की भांति भावात्मक शून्य तो दादू ने भी स्वीकार नहीं किया है। इसीलिए वे कहते हैं।

कुछ नाहीं का नाव क्या ज धरिए सो भूठ ।

वे उस सहज को जो सूक्ष्म अन्त एव अरूप है और जिसको सामान्य मनुष्य अस्वीकार कर देता है स्वीकार करते हैं। वे शून्य के ध्यान के समक

१ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १८ १८२

२ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ १२७ १२९

३ दादू साच की अंग ७९५

हैं।" प्रत्येक रूप, प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक स्थान में उस सहज की व्याप्ति है। वही निरञ्जन का श्रीङ्ग क्षेत्र है। कोई गुण उसका स्पर्श नहीं कर सकता। 'पच्ची अंग' में दादू की चौदह दानिया में महज शून्य की तुलना उम सरोवर या सागर से की गयी है जिसमें महारस भरा हुआ है। शून्य को दादू ने सहज-सागर भी कहा है। उसीमें से मन मुक्ता-वचन करता है। शून्य सरोवर में परमात्मा को कमल और मन का मधु मक्षिरा कह कर दादू शून्य के अर्थ को कुछ और विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। दादू अपने मन की विधान्ति महज शून्य में चाहते हैं, "जो योग-भ्रमाधि और प्रेमानन्द के मध्य में स्थिति है।" इस प्रकार दादू ने योग को प्रेम से संपुटित करके कबीर की परम्परा को ही आगे बढ़ाया है।

कबीर की भांति दादू ने भी शून्य का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। पच्ची अंग ५३ में दादू ने शून्य के तीन भेदों की ओर संकेत किया है—(१) वाया शून्य, (२) आत्म शून्य और (३) परम-शून्य। वाया शून्य में पंच तत्त्व का निवास है, आत्म शून्य में जीवन की अभिव्यक्ति होती है और परम शून्य में परमात्मा से मिलन होता है। दादू बानी में ब्रह्म शून्य का भी वर्णन आया है जिसमें अनन्त, असीम एवं अल्प ब्रह्म व्याप्त हैं। "प्रथम तीन शून्यों का सम्बन्ध रूपात्मक जगत् से है और चौथा शून्य निर्गुण है। वही सहज शून्य भी है जो प्रेम की केलि-स्थली है।" पच्ची अंग की ५४ वीं और ५५ वीं बानी में दादू कहते हैं—"महज शून्य सबका कारण है। सूर्य, चन्द्र और नभ का आविर्भाव इसीसे हुआ है। इसीमें पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि की अभिव्यक्ति हुई है। काल, मन, मनोवेग, मनोभ्रम रूप और प्राण का कारण भी वही है और वही ईश्वर का आवास है। वह सहजशून्य सब का साथ है।"

१ दादू, राग बिलावल, ३४६

२ दादू, पच्ची अंग ५६

३ दादू, पच्ची अंग ५६-६८

४ दादू, ली अंग ६

५ दादू बानी, पच्ची अंग ५०

इस प्रकार दादूदराल ने ही शून्य के चार भेद किये हैं और वे कबीर की परम्परा का निवाह करते हैं।

जिस प्रकार कबीर ने शून्य मंडल में एक पुरुष का आवाम बतलाया है उसी प्रकार दादूदराल ने भी ब्रह्म शून्य को ईश्वर का आवाम कहा है। दादू के शिष्यों ने भी शून्य की इस परम्परा को चलाया। दादू के शिष्यों में रज्जव का प्रमुख स्थान है। उन्होंने भी शून्य को चेतनामय बतलाया है। उसी में सहज का निवाम बतलाया है। उन्होंने शून्य को दो भेदों में प्रकट किया है—एक व्यक्तिगत शून्य और दूसरा अनंत शून्य। व्यक्तिगत शून्य की चरम परिणति रज्जव ने अनंत शून्य में मानी है अतएव व्यक्तिगत चेतना वा परमात्मद अनंत-चेतना में विनीत होने में है।

निष्कप के रूप में यह कहा जा सकता है कि वेदों की अखंड चेतन सत्ता, जिसका उपनिषदों ने नेति नेति के द्वारा प्रतिपादन किया। महायानियों के दशम में शून्य में अभिलिखित हुई जिसके द्वारा आत्मवाद का खंडन हुआ। सिद्धों की वाणी में ही शून्य के द्वारा इसी अनात्मवाद का प्रतिपादन हुआ किन्तु शून्य का अर्थ कुछ और विवक्षित हुआ और योग की पारिभाषिक शब्दावली में समाविष्ट होकर नाथों ने भी उसे सिद्धों में धरोहर रूप में प्राप्त किया किन्तु वह ब्रह्म-रश्मि एव समाधि अवस्था तक ही सीमित न रहा और द्वैताद्वैतविलक्षण तत्त्व की ओर भी सकेत करने लगा। सहज निरजन समरस आदि अर्थों में प्रयुक्त होकर शून्य ने अनेक सम्प्रदायों को अपना माग बनाया किन्तु कोई भी अर्थ शून्य की सीमा न बन सका। कबीर और उनके अनुयायियों ने शून्य के जो भेद किये वे शून्य के अर्थ का विकास मात्र ही सीमा नहीं है। विवेकानंद का शून्य-भावधी नाथों इसका प्रमाण है। इनमें अर्थ विकास की महावनाथों के आग पूण विराम नडा लगाया जा सकता है।



एक ही पथ के दो पथिक

मद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मानव-जीवन में जिज्ञासा का प्रथम कव, क्या और कंस हाता है, परन्तु इसमें कदाचित् कोई मतभेद नहीं कि वह मानव स्वभाव का एक अङ्ग है। अमृक सिद्धान्तों के अनेक प्रश्ना से यह प्रमाणित हो जाता है कि वह मनोवृत्ति छोटे-बेड सब में पाई जाती है और उसका उदय मानव प्रभात में ही हो जाता है। मनुष्य में इस वृत्ति के उत्थान-व्यतन, दानों पहलू देखे गये हैं। जीवन की सफलता और असफलता का अधिकांश दायित्व इसी पर होता है आध्यात्मिक जीवन में इसका परम गौरव है। जीवन का भौतिक पक्ष आध्यात्मिकता पर ही आधारित रहता है। अतएव जिज्ञासा जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप का सङ्गठन करती है। गाधी जी के अनुसार 'आध्यात्मिक शब्द का अर्थ है 'नीति', धर्म का अर्थ है नीति', और जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया जा वही धर्म है।" जबतक जिज्ञासा का लक्ष्य धर्म नहीं होता तबतक उसमें आध्यात्मिकता नहीं आती और आध्यात्मिकता के बिना वह जीवन को बल नहीं दे सकती। भौतिक लक्ष्य के पूर्णभूत होते ही जिज्ञासा में अध्यात्म प्रकाश प्रसर हाने लगता है। वह जितनी दृढ़ और निर्मल होगी, उतनी ही त्वरित लक्ष्य के समीप पहुँचेगी। उसका चरम लक्ष्य सत्य है—वह सत्य जिसमें चित् और आनन्द का अनूठा संयोग है। वही सार है। उसके सिवा सब मिथ्या है। जो सावक सत्य पर विश्वास करते हैं, वे जगत् के मिथ्याडम्बर से लिच बैठते हैं। उनकी दृष्टि निरन्तर सत्य पर लगी रहती है। उनके विषय में कबीर करते हैं—

१. सृष्टि नीति के पाव पर खड़ी है, नीतिमात्र का समावेश सत्य में हाता है।

२. आत्मकथा, प्रस्तावना, पृष्ठ ३

—आत्मकथा, पृष्ठ ४२

कबीर जिनि जिनि जाणियाँ, करता केवल सार ।
सो प्रार्थी काहे चल, भूटे जग की लार' ॥

पहले जिनासु को सत्य स्पष्ट नहीं दीख पड़ता । वह तम-पटल न निकलता जाता है और सत्य की झलक देखता जाता है । इस अवस्था में जिनासा इतनी प्रबल और बहुरूप हो जाती है कि जिनासु स्वयं विस्मित होकर पूछने लगता है —

‘ प्रथमे गगन कि पहुमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पाणी ।

× × × ×

कहै कबीर जहा बसहु निरजन, तहां कछु आहि कि मुन्य ॥’

धीरे धीरे साधना का सहारा नेवर जिनासा दृढ़ और स्थिर होती चली जाती है । साधक अपने पथ पर तप-पर और स्थिरमति होकर बढ़ता रहता है और उसका मध्य पद पद पर उभर निकट आन लगता है । वह उसे स्पष्ट दीखने लगता है । सत्य की गवेषणा आग्रह ही से सम्भव है । मत्य के प्रति आग्रह में अदम्य भावना कृतिशील रहती है । दुराग्रह में वह बन कभी नहीं होता जो सत्याग्रह में परंतु आत्म निराकरण और आत्म-नयन सत्याग्रह के प्रधान अङ्ग हैं । वास्तव में सत्याग्रह साधना मांग है । उसके बिना मत्य की प्राप्ति असम्भव है परंतु सत्याग्रह का मांग सरल नहीं है, वह तनवार की धार के समान दुर्गम पथ है । हा अम्याम और अनुभव उसे सरल बना देत हैं । गांधीजी सत्याग्रह का अर्थ सत्यवल^१ करते हैं । उसी को वे प्रम-वन या आत्म वन के नाम से भी पुकारत हैं । कबीर के गद्या में सत्याग्रह को ही प्रम-पथ कह सकते हैं । प्रम का पथ सरल नहीं है । वह तो गिर का सौदा है, मर कर जीने का मन्त्र है^२ । अतएव कबीर भी साधक को आम बलिदान के लिए सचेत करते हैं —

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ४३-१६

२ आत्मकथा, प्रस्तावना पृष्ठ ५

३ गांधीजी, सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ १

४ मगन प्रभात—गांधीजी पृष्ठ ७

‘कबीर यहु घर प्रम का, घाला का घर नाहि ।
 सोस उतार हाथि करि नो पस घर माहि’ ॥
 प्रम न खता तीपन्न प्रम न हाट बिकाय ।
 राजा दरना जिस रच मिर दे सा लेजाय ॥
 भगति दुहेली राम कौ नहि कापर का काम ।
 सोस उतार हाथि करि सो लेसी हरि नाम ॥

किन्तु समाज को सत्य को गान व माधन जितन कठिन लिखाई दन
 व उतन हो सरल । अभिमानी का जा व ल अगव्य प्रतात हाती है वही एक
 भाले नाल गिणु को बतइ सख मालूम हाता है । सत्य व गोधक को दीनता
 परम प्रिय हाता है । उस एक रज-वण स भी नीच रहना पडता है । सारी
 दुनिया रज वण को परा तल रीदती है पर सत्य का पजारी तो जबतक इतना
 छोटा नहीं बन जाता कि रज वण भी उन कुचन सक तथाक स्वत व मत्य
 की भन्नक भी हाना दरभ है । यत्र बात वगिष्ठ विवामिन क आस्थान म
 अच्छी तरह स्पष्ट करके बताई गई है । ईसा धम और इस्लाम भी इसी बात
 का मानित करते हैं । गांधीजी व कच सौ वष पहल कबीर न भी सत्य के
 वाजियो का यही उपदेश दिया था —

रोडा ह्वं रहो बाट का, तजि पाण्ड अभिमान ।
 एसा ज जन ह्वं रह ताहि मिल भगवान’ ॥’

साधक के हृदय म सत्य के प्रति एक लगन रहना चाहिए । उस लगन
 क लग जान पर किसी दूसरी वस्तु को इच्छा नहा रहती । उसका नाना सत्य से
 जुड जाता है और वह स्वस्व को अपन सत्य पर निछावर कर देता है । सत्य
 के लिय आत्म समर्पण की यत्र भावना कबीर व अत्र म काम करती है —

१ कबीर अथावनी पण्ड ६६ १६

२ कबीर अथावनी पण्ड ७०

३ कबीर अथावला पण्ड ६५ १४

मेरा मुँहको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तीर ।
तेरा तुझको सोपते, क्या लागत है मोर' ॥”

“ हम जो अट्टि मारते हैं, वह भर बाजरी या मुट्ठी भर घान के लिए नहीं, पर सटटे-भीठे स्वाद के लिए । ठण्ड से बचने के लिए आवश्यक जैसे जैसे कपडों के लिए नहीं, बल्कि रेशम किमखाव के लिए । अगर हम इस लाभ को छोड़ दे तो हम अपने और कुटुम्ब के भरखु-पोषण की चिंता बहुत कम रह जायगी ।” लोभ को त्याग कर यह विश्वास करना होगा कि ‘जिसन दौत दिये हैं वह बदाने को भी दगा । जो माँप बिच्छू सेच भैडिया आदि डरावन जन्तुओं या जानवरों की भूखा नहीं रखता है वह मनुष्य जाति को नहीं भुला सकता।’ साधक को विश्वास के बल पर निश्चिन रहना चाहिये ।

‘च्यन्ता न करि अच्यन्त रहू, साई है सन्न्य ॥
पयु पखेल जीव जन्तु, तिनकी गाठिकिसा ग्रन्थ’ ॥’

सत्य पर दृढ़ हो जान पर साधक के भय, शोक, मोह का नाश हो जाता है और शूर के सभी गुण उसमें उदित हो जाते हैं और वह दुर्वृत्तियों का डट कर सामना करता है—

‘बबीर मेरं सता को नहीं हरि सग लागे हेत ।
काम क्रोध सू जूझणा, बौड माडघा खेत ॥’

सत्य-साधक अपना प्रत्येक पद सत्य की ओर उठाता है । उसके शय या व्यवहार में, कहीं भी पावण्ड या दम्भ नहीं होता । भ्रम पर उसकी पूगे आस्था होती है । मुख में राम वगैर म टुरा ” आस्था नहीं कहलाती । ‘यस व

- १ गांधीजी की आत्मकथा—प्रस्तावना पृष्ठ ५
- २ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६, ३
- ३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५८ ६
- ४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६८ ७
- ५ गांधी—सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ १६
- ६ गांधी—सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ १८
- ७ गांधी—सत्याग्रह क्या, कब और कैसे ? पृष्ठ १६

निन्दित आचरण करना धर्म नहीं है। जो धर्म की सच्चाई के साथ रखा करता है वही सत्यग्राही है।^१ कपटी का सत्य दर्शन नहीं हो सकता।

वेद पुरान सुमृत गून पढ़ि पढ़ि, पढ़ि गुनि मरम न पावा ।
सन्ध्या गाइयो भग षट करमा, तिन थं दूरि चतावा ॥
वनसिद्धि जाइ बहुत तप की-हा, कन्द मूल खनि खावा ।
ब्रह्मगियानी अधिक धियानी, जम कं पटं लिखावा ॥
राजा किया नमाज गुजारी बग दे सोय मुनावा ।
हिरद कपट मिले बसू साई, क्या हज काम जावा ॥”

कपटी न बवल शीरा को छलता है, वरन अपने का भी सत्य के प्रसाद से वंचित करना है। दम्भ पाण्ड, प्रवचनादि के कारण सत्य की भाँकी दूर होती चली जाती है अतएव साधक अन्त साय लकर नहीं चल सकता। वेद-भूषा में सत्य का सम्बन्ध नहीं है। इनीलिम पाण्डों घुटमुण्डों को सरी सुनाते हुए परीर कहते हैं —

‘कस मु डादे हरि मिले मव षोइ लेय मु डाय ।
बार बार के मू डते, भेड न बंकुण्ड जाइ ॥”

आत्मोत्सर्ग कर देने पर सत्याग्रही के हाथा मत्प-धन लग जाता है। वही उसका सुख है।” वही सच्चा विजयी है वमोकि जो ईश्वर के भरोसे सबस्व का त्याग करता है, उसके लिए दुनियाँ में कभी हार या पराजय कही है ही नहीं। उसका सबस्व, उसका प्रियतम उसी, सत्य में रहता है। ज्या ही उसकी दृष्टि निर्मल हुई कि उस ‘पूण’ (सत्य) का साक्षात्कार हुआ। फिर तो,

“पूरे को पूरो द्विष्टि, पूरा करि देखे ॥”

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७८-२६४

३. गाँधी—सत्याग्रह क्या, कब और कैसे? पृष्ठ १६

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६, १८१

कबीर और गांधी दोनों का लक्ष्य सत्य होते हुए भी उनकी साधना का प्रथित अन्तर भुलाया नहीं जा सकता। लेखक का ध्येय दोनों महापुरुषों के मध्य निर्णायक बनने का नहीं, बरन् वह सत्य के दो सफ़ल पथिकों के मार्ग का अपने शब्दों में एक चित्र खींचना चाहता है। यह तो सर्वमान्य बात है कि कबीर और गांधी का सत्य व्यापक है। किसी एकदेशीय सत्य को तो वे कभी सत्य कहने भी नहीं हैं। कदाचित् सत्य उसे डभीलिये कहते हैं कि उसकी सत्ता सार्वभौमिक, सार्वभौतिक एवं सार्वकालिक है। दोनों के मुखों में सत्य की परिभाषा एउ है परन्तु दोनों का व्यक्तित्व और परिस्थितियाँ उन्हें अलग अलग मार्गों पर चलने के लिये बाध्य कर रही हैं। जगत का सैद्धान्तिक निराकरण जैसे कबीर ने किया था वैसे ही गांधी जी ने भी किया। दोनों के लिए जगत मिथ्या है। उसमें सेमल के फूल का सा झूठा आकर्षण है, परन्तु जबतक आँख, कान, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक हैं तबतक जगत की व्यावहारिक मारयता का निराकरण कर भी कौन सकता है? अतएव अद्वैतवादी भी सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्षों को मानते चले आ रहे हैं। कबीर और गांधी दोनों ने ही इन दोनों पक्षों को माना है, परन्तु कबीर के व्यवहार-पक्ष में वह तीव्रता और प्रभावोत्पादकता नहीं जो गांधी के में है। इसमें मन्देह नहीं कि कबीर के सिद्धान्त बड़े पक्के हैं, उनकी वैराग्यवृत्ति बड़ी दृढ़ है, परन्तु कबीर में व्यावहारिक प्रेम और अहिंसा कितनी अटल है, इसका अनुमान हमें नहीं हो पाता। मैं नहीं समझता कि स्त्रियों की निन्दा करते समय कबीर से अहिंसा और प्रेम कितने दूर खड़े रहने होंगे अथवा शाक्तों की निन्दा करते समय प्रेम और अहिंसा भाव के तिरोहित हो जाने पर कबीर खिन्न होते होंगे या नहीं? गांधीजी सिद्धान्त और प्रेम के पक्के पुजारी थे। कबीर की तरह अपनी दुर्बलताओं के कारण वे नारियों को कोमते नहीं थे, अपितु नर-नारी दोनों को अपने सत्यमार्ग पर प्रेरित कर उनके लिए सच्चे शुभचिन्तक की भाँति मंगल-कामना करते थे। अधर्मों के भ्रवणुओं को देख कर गांधीजी तटस्थ नहीं हो बैठते थे, बरन् वे उसे मुधारने की चेष्टा करते थे, सत्य-पथ पर चलाने की शिक्षा देकर प्रेम और अहिंसात्मक उपाय से दूषणों का निवारण या निवारण करने की चेष्टा करते थे। कबीर के मुँह से शाक्तों के लिए अनेक अपशब्द भी निकल गये हैं जो अहिंसा के विरुद्ध हैं।

मुधार की भावना ने प्रेरित होकर भी समाज के प्रति कबीर का भाव विरहितमूलक है। समाज के कलङ्का को देख कर कबीर का हृदय क्षुब्ध हो जाता

है और वे फटकार फटकार कर सुधार करता चाहत है। उह मह बिता नही है कि सुधार हुआ या नही उह या नो काई दोष दीसा कि दूनरा का उनका सङ्गत किया और दाधिया का फटकार। इसका भाग व क्या करत है या उहान क्या किया है? या बत व स्वयं जा। मा परमा मा। सम्भवत ५ इतने भाग क पचना म पना नहा चाहत थ। मयामी होन क कारण उनक स्वभाव म पकनपन ता है हा। माय हा माय अकण्ड सुधार का गद्योक्तियी भा रहता है परन्तु गांधाजी म अकनपन का नाम तन न। जा सुजजन गांधाजी क सम्पक म रह ह व जानन हाग कि व कितन बिनम और संगीत ५। इम यह ता नही कह सकन कि गांधाजी चिन्तन म क्याकि उनका अपूर्व त्याग वसका विराध करेगा और ये यही कह सकन है कि व नसार म आगवत थ। काई भी दखन वाला उनम एक अनीकिक चित्तक्षणता दखता था और वह भी विरक्ति म आसक्ति और आसक्ति म विरक्ति। अतएव उह चिद (जाद) का समक कहन म किमी को हिचक न होगी। उनक प्र म और भा मा म उनकी आसक्ति कौन न बताग्या? उनकी निम्बायता म विरक्ति किम नगी दीत रही? प्र म से विभन और बाधने की जा अमाध शक्ति इनम दाग पडती है वह कबीर म कहीं? "सालिम तो गांधाजी की अहिंसा कवन सिद्धांत और उपदग की वस्तु नही उसम प्रापक आनन्द रस छनकता है। ऐसी व्यापक अहिंसा स काठ अलिप्त रह सकता ह? ऐसी व्यापक अहिंसा क बल को नापना असम्भव है। प्र म और अहिंसा को गांधाजी की प्राध्यात्मिक बला कहना अधिक अनुचित उहागा। प्र म उह समाज से उसी प्रकार मुमृहलित किए गए था जस वह उहे परमा मा से चिरंतन सय से। अतएव व उह समाज क समिध और परम नित्यी के रूप म देखते रहे। व समाज क सच्चे निर्माता थे। अहिंसा क बल व म समाज म विन प्र म का निवाह कर रह थ। उनक प्र म और अहिंसा के पतवारा स समाज की नौका दबता स सत्य बला की धार पडी जा रही थी ५। पू का काई ऐसा प्रयत्न न था जिसम अहिंसा का आधार न हा उनका कोई उद्देश्य न था जो प्र म गय हा। सय क पुजारी और विनय क देयता को अपनी नीची प्रिय थी। वे अपनी भल को न कवल बीकार ही कर लेते थे

प्रत्युत् नेरीलाद में उसका प्रकाशन किए बिना भी नहीं रहते थे। सम्भवतः उनके ज्ञान सत्य के उदर में कोई विजलीय द्रव्य ठहर नहीं सकता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि गांधीजी का परम गाय बाहर भी अपनी प्रकाश-रश्मियाँ फैला रहा था। उनकी मानसिक कला अन्तर में बाहर में जाड़ गये थे। यह सम्भवतः सैद्धांतिक नहीं व्यावहारिक था। गांधीजी के व्यावहारिक मन्य के प्राक्क और बाह्य पक्ष भिन्न नहीं हैं। उनमें ऐक्य और अन्तर्द्वैत है। इस ऐक्य का अनुभूति कबीर को होती ही नहीं यह मान लेना नहीं, परन्तु उनका व्यावहारिक मन्त्र पूरणात्त नहीं है। स्त्री गानत प्रादि में मन्त्रों का वाग ऐसी है जो इस ऐक्य की विकलापता का प्रमाणित करती हैं। कभी कभी वे ऐक्य की अनुभूति करने प्रतीत होते हैं परन्तु वे आत्मरिपयक (Subjective) हैं पर विषयक (Objective) नहीं—

‘हम सब माँहें करत हम माँहों,

हम वे और दूसरा माँहों’।^१

अतएव कबीर की प्रभेदानुभूति का जो आत्म-रिपयक है, हम व्यावहारिक नहीं कह सकते। यह उनकी आत्मचित्तना का फल है आचरण का नहीं। चिन्ता का धन में कबीर प्रतीत लान की लानी दखन जानत हैं और स्वयं लानत जाते हैं—

‘लाली मेरे लान की जित देखो तित लाल ।

लालो देखत हों गई मैं भी हूँ गई लाल ॥

परन्तु व्यवहार के धन में लान का लानी दखना और स्वयं लानत हा जाना क्या कठिन है। वागू व्यवहार में भी लान की लाली को देख रहे हैं। कबीर मन्त्र हैं उनको जानत से मन्त्री नहीं है।

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०१ २१३

२ हमन हैं इशक सलताना, हमन जो होशियारी क्या ?

रहें आशय दा जय से, हमन दुनिया से पारी क्या ?

जो बिछड़े पिपारे से, भटकते दर दर फिरते ।

हमारा पार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या ?

सलतक लख नाम अपने को, बहुत कर फिर पटकना है ।

हमन पुर नाम सारा ह, हमन दुनिया से पारी क्या ?

न पल बिछड़े पिया हमसे, न हम बिछड़े पियारे से ।

सत्य की आत्म अनुभूति समाधि अवस्था में होती है। उस समय मनुष्य न बोलना है न मुनता है और न हिलना है न खानता है। वह दूग्यावस्था होती है। उस समय वह जगत के किसी काम का नहीं होता। वह मुदित हो सकता है, मोदक नहीं रहता। वह आ मानन्दमय हो जाता है परन्तु गांधीजी के सत्य में सत्य का सत्य रूप प्रतीत होता है। उनकी भावना में सत्य मुगानन्दमय दीख रहा है। उस में स्व पर कल्याण का सुन्दर योग है। वे स्वयं आनन्द सेते हुए दूसरों को आनन्द वितरण करने चले हैं। गांधीजी को अपनी सत्य-साधना में कितना आनन्द आता होगा इतना ठीक ठीक अनुमान तो असम्भव है, परन्तु यह कह सकते हैं कि यदि मुरसाल को मधुर-फला का भार धारण करने में कोई आनन्द प्राप्ता है तो गांधीजी का भी आनन्द होगा। यदि गांधीजी को अपनी आत्माधना में रम न मिलता तो वे सम्भवतः समाज को इतना मधुर फल सुटाते न चले जाते।

गांधीजी के सत्य की सुन्दर विरणा में जगत उपनिषद् के इस मंगल-पाठ का पढ़ रहा है 'सर्वे भवन्तु मुखिन सर्वे सन्तु विरामय'। "वसुधैव कुटुम्बकम्" पर लोगो का विश्वास जमन गया है। उनके जिम स्वर में गीताकार के प्रच्छन्न दशन हो रहे हैं उसी में बुद्ध और ईसा के उपदेश भी ध्वनित हो रहे हैं। गांधीजी के 'मानव-बन्धुत्व और परमात्मा पितृत्व' के सामन लोक को भुजना पडा है, इस विषय में विश्व-ममर न कोई शका नहीं रहने दी थी।



उन्हीं से नेहू लागे हैं हमन को बेकरारी क्या ?
कबीरा इदक का माता, दुई को दूर कर दिस से ।
जो चलता राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ?"

परिशिष्ट—१

कुछ पारिभाषिक शब्दों का परिचय

✓ १ अनहद (अनाहत) — अनहद शब्द दो अर्थ देता है—एक 'असीम' और दूसरा 'अनाहत'। 'असीम' के अर्थ में 'यापकता एवं अनन्तता का द्योतन होता है और 'अनाहत' के अर्थ में बिना बजाये बजने या होने वाले शब्द का बोध होता है। सप्त-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में हुआ है। कबीर ने 'असीम' या अनन्त के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुत कम किया है। वे इस अर्थ में और भी अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं। अनहद में मिलता-जुलता एक 'बहद' शब्द भी है जिसका प्रयोग कबीर-बाणी में मिलता है—

'कबीर हद के जीवसू, हत करि मुखाने न खोलि।

जे लागे बेहद सूं, तिनसू अतरि खोलि ॥'

उक्त साखी में 'बेहद' शब्द का प्रयोग अनहद या असीम के अर्थ में ही हुआ है। असीम या अनन्त के अर्थ में कबीर के 'अनहद' शब्द का प्रयोग भी देखिये—

"स्वावि पतग जरं जरिजाइ,

अनहद सों मेरीं चित न रहाई ।'

यहाँ 'अनहद' शब्द से 'अनाहत' का अर्थ भी लिया जा सकता है किन्तु 'अनन्त' अर्थ ही अधिक स्पष्ट है।

अनाहत नाद के अर्थ में कबीर ने 'अनहद' और 'अनाहत' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है और दोनों ही प्रायः विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इन के विशेष्य तूरा, सबद, वेन, कीगरी, वाजा, बीना आदि शब्द रहे हैं जो किसी न किसी वाद्य यन्त्र का द्योतन करते हैं। जैसे—

१. कबीर प्रथावली, पृष्ठ २६-५०

२. कबीर ग्रन्थान्तरी, पृष्ठ २११-३६८

अनहद सबद उठ भणकार तहा प्रभू बठे सभरथ सार^१ ।

इसी प्रकार—

जब अनहद बाजा बाज तब सा^२ सगि बिराज ।

कबीर न अनहद या गनाहद क साथ बाज और बजाय प्रियाणा क प्रयोग किया है तो पथक पथक भा^३ त्र तिन करती है । बाज शब्द से बजाने वाल का बाध नहीं होता किंतु बजाने से बजाने वाल का भी दोष होता है अतएव जहा बाज प्रियाणा का प्रयोग हुआ है वहा बजाने वाले की ओर इंगित नहीं किया गया जम—

जब अनहद कीगरी बाजी
तब काल द्विष्टि भ भाषी ।

अथवा—

बिनहीं सबद प्रनाहद बाज
तहा निरतत ह गोपाला^४ ॥

किन्तु जहाँ बजाया किया का प्रयोग है वना बजाने वाल की स्थिति का नान भा बराया गया है जैसे—

अनहद बेन बजाइ करि
रह्यो गगन मठ छाइ ॥

अथवा—

बाबा जोगी एक अकेला जाक तीय घत न मेला ।
भोली पत्र बिभूति न बटया अनहद बेन बजाव^५ ॥

इन दोनों क्रियाया का प्रयोग साथक है । बजने और बजाने का एक दूसरे से सम्बन्ध है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि शब्द का प्रकार का हाता है—आहत (Struck) तथा अनहद (Unstruck) । आहा शब्द दोपदार्थों

१ कबीर प्रथावली पृष्ठ १६६ पंक्ति १८

२ कबीर प्रथावली पृष्ठ १४६ १७३

३ कबीर प्रथावली पृष्ठ १८८ २६४

४ कबीर प्रथावली पृष्ठ १८० १५६

५ कबीर प्रथावली पृष्ठ १२६ १२१

६ कबीर प्रथावली पृष्ठ ११ २०७

ए टकराने में उत्पन्न होता है। स्वल्प जगत में मुनायी देन बाल सभी शब्द चाहत ह किंतु विश्व में एक अनन्त शब्द भी प्राप्त है। उसी शब्द की सत्ता योगियों ने शरीर में भा मानी है जिसका बोलती गुणव्या या बोलना पुरुष कहा गया है। वह गव्दमय प्राण है। विश्व यापक गव्द को गव्द ब्रह्म की मता भी दी गद है। शरीरगत गव्द जिसको एक विशेष अवस्था में योगी ही मुन मकना है अनाहत कहताता है। योगी का मानना पय उसे उस गव्द तरु ते पहुँचता है जा उमवे मन को अपन में तीन कर नेता है। इसकी अवगीयता के लिए सुपम्ना क माय को मोलने की आवश्यकता होती है। जब प्राणवायु इस माय से उच्च गमन करती है तो योगी को अतध्वनि मुनाया पत्नी है। वास्तव में उगवा बजाने वाला कोई नहीं है इमलिए उमके लिए बजाना क्रिया का प्रयोग साधक है किन्तु उसकी अव्यता योगी की साधना में सम्बन्धित है इमलिए योगी को उमका बजाने वाला कह दिया गया है प्रयथा बजाना कोई अर्थ विशेष नहा है।

अनाहत नाद की अनक अवस्थाए वतनायी जाती ह जिनमें पृथक पथक गव्द मुनायी पडन ह। सागर गजना घन गजना मदल ध्वनि वीणा आदि अनक ध्वनिया में उमका विकाम होना है। योगी सूक्ष्मतर नाद में अपना मन वगाता चाता है। कवीर न इन ध्वनियों की ओर गगन गरजि, अनहद-तुरा 'अन हद वेन, अनहद कीारी अनहद भवार आदि गव्दा से सकत किया है और उन ध्वनिया का भेद भी स्पष्ट है किंतु इन भेदों का स्पष्ट वणन उनकी वाणी में कही नहीं मिलता।

कवीर न अनाहत नाद का सम्बन्ध कई बानों से जोडा है। अनहद वाजा बान पर ही मन गय में समाता है —

गगन गरजि मन सुनि समाना वाज अनहद तुरा ।^१

योगी का गगन मठ में निगाम भी अनहद वाज क साथ ही होता है—

अनहद वेन बजाइ करि रट्यो गगन मठ छाइ^२।

कवीर की ट्यो का स्थान भी वही है जहा अनहद कीगरी बजती है—

जगत गुर अनहद कीगरो वाजें तहां बीरघ गद 'यो लाग'^३।

१ कवीर प्रयावली पृष्ठ १०७

२ कवीर प्रयावली पृष्ठ १२६ १२१

३ कवीर प्रयावली पृष्ठ १३७ १४३

'अनाहद बाजे क साथ ही गापाव-दशन हाता है—

'विनहीं सबद अनाहद बाजे, तथा निरतत है गोपाला'।

आत्मा और परमात्मा क सान्निध्य मे नी दम अनहद बाजे' का सह-योग बनलाया जाता है—

"जब अनहद बाजा बाजे, तत्र साईं सगि बिराजे' ।"

जो अनहद नाद' सुनता है वह बाल भय से मुक्त हो जाता है—

अनहद कोपुरी बाजी, तब काल द्विट्टि भं भागी' ।"

'अनहद शब्द की ऊतारा क साथ ही प्रभु-सान्निध्य का साक्षात्कार होता है—

अनहद सबद उठे भणकार, तथा प्रभु धंटे समरथ सार' ॥"

अनहद के आविर्भाव क लिए कबीर 'बुभक' की आवश्यकता तो मानते ही हैं साथ ही चन्द्र-सूर्य मिलन की आवश्यकता भी समझते हैं—

सति हर सूर मिलावा तब अनहद बेन बजावा' ।"

इस प्रकार कबीर न 'अनहद' या 'अनाहद' शब्द को अपनी सहज-साधना का प्रमुख ध्य माना है ।

✓ सुरति और निरति—सुगति शब्द की व्युत्पत्ति अभी तक विवाद की वस्तु बनी हुई है । विद्वाना न उसका अपन अपन दृष्टिकोण से दसने का प्रयत्न किया है । कोई इसको तत्सम् मानता है और कोई सदभव । इसकी व्युत्पत्ति श्रुति एव स्वरति से मानी जाती है । कोई-कोई इसको विदेशी शब्द 'सूरत' से उद्भूत मानते हैं । जो हो, इस शब्द की अनकार्यता स्पष्ट है अन्यथा इतने शब्दा मे इसके मूल की खोजनेकी आवश्यकता न होती । यह अर्थ-विकाम साहित्य के विशारपी के लिए बड़े महत्त्व का है । कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर-वाणी मे इस शब्द को पर्याप्त आदर मिला और कबीर-पथ मे 'सुरति-

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४० १५६

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६ १७३

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८८-२६४

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६६ पद १८

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६-१७३

कमल' एवं 'मुरति-शब्द-योग' जैसे शब्दों का विकास हुआ। इससे स्पष्ट है कि सत-साहित्य ने 'मुरति' के सम्मान को क्षीण न होने दिया।

कुछ लोग 'सुरति' शब्द को सिद्धों की वाणी में खोजते हैं और इस दशा में वे अपनी खोज को सिद्ध सरहया 'सुरअधिलास' एवं कण्ठ्या ने 'मुरप्रवीर' तक ले जाते हैं। जहाँ 'मुरप्र' शब्द प्रेम के अतिरिक्त अन्य अर्थ देने में अममर्थ प्रतीत होता है। कबीर का 'सुरति' शब्द सिद्धों के 'मुरप्र' की सगति में नहीं बैठ सकता क्योंकि उसका अपना पृथक् अर्थ है। निरति शब्द तो सिद्धों की वाणी में किसी भाव को नहीं मिलता। अतएव मुरति-निरति शब्दों को सिद्धों की वाणी से आया हुआ वहना शब्दों की व्युत्पत्ति के माय अत्वाचार होगा।

कबीर-वाणी का सम्बन्ध नाथ-वाणी से भी रहा है और नाथ-वाणी में उक्त दोनों शब्द मिलते हैं और उनका अर्थ किसी भीमा तक कबीर के शब्दों के अर्थ से मिलता है। पारिभाषिक रूप में तो नाथों और सतों के सुरति-निरति का एक ही अर्थ प्रतीत होता है। एवं प्रश्न में गोरखनाथ अपने गुरु से पूछते हैं—“कौण मुषि ले तुरिया बध ?” और मछिन्द्र उत्तर में कहते हैं—“मुरति मुषि बाला तुनिया बधे।” इस उत्तर में 'मुरति' को 'तुरिया' में सम्बन्धित किया गया है। यहाँ दोनों के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है जिसके लिए मछिन्द्र-गोरख व एक दो प्रश्नोत्तरों को और भी देखना होगा—

गोरख—‘स्वामी कौण मुषि बंठे कौण मुषि चले।

कौण मुषि बोलै कौण मुषि मिले ॥

क्यू करि स्वामी नृभ रहे।’

मछिन्द्र—“अबधू सुरति मुषि बंठे सुरति मुषि चले,

मुरति मुषि बोलै मुरति मुषि मिले।

मुरति निरति में नृभ रहे, ऐसा विचार मछिन्द्र कहें।”

इस प्रश्नोत्तर से 'मुरति' के अभिप्राय एवं सुरति-निरति के सम्बन्ध पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथ ने बैठने, चलने, बोलने और मिलने

१. गोरख-वाणी, पृष्ठ १६३-६३

२. गोरख-वाणी, पृष्ठ १६४-६४

३. गोरख-वाणी, पृष्ठ १६६-६६

४. गोरख वाणी, पृष्ठ १६६-६२

के साथ सुरति का उपयोग बनलाय उसके अभिप्राय को वाणी सरल कर दिया है। साथ ही सुरति निरति म नभं रह बहवर सुरति और निरति य सबध का अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। आग एव ध्यान म गोरखनाथ पूछते हैं—

स्वामी कौण सो सब्ध कौण सो सुरति ।

कौण सो सब्ध कौण सो निरति^१ ॥

दुबध्या मटि र बस रह । ततगुरु होइसु ब्रह्मा कट ॥

और मछिद्र समझकर कन्त ह—

अबधू सब्ध अनाहूद सुरति सोचित (सुचित) ।

निरति निरालभ लाग बध ।

दुबध्या मेऽ सहज म रह । एसा बिचार मछिद्र दहे ॥

यहां आकर निरति का अर्थ हस्तामलकथन स्पष्ट है। निरति निरालव्य अवस्था है और इसके साहचर्य स सुरति वा सम्बन्ध सावलम्ब स्थिति स बन जाता है। मछिद्र के उत्तर म बढने चन्त बाधने और मिलने तक म सुरति^१ पर बल दिया गया है। इसम यह भी स्पष्ट है कि सुरति ध्यान की स्थिति है जो गोरखनाथ क करण बिन काण श्रवण क उत्तर म प्राप्त हुई म स्वद्रनाथ की वाणी म इस प्रकार ममयन प्राप्त करती ह—

करण चिन सुरति श्रवण^२ ।

इसका अर्थ है काना क बिना सुरति का सुनना अर्थात् सुरति कोई श्रवणीय वस्तु है चाहे वह अन्तगम्य ही क्या न हो। अतएव यहाँ सुरति शब्द की व्युत्पत्ति श्रुति से करनी होगी जिसका अर्थ गन्ध (Sound) हो सकता है। श्रुति का अर्थ सुनने की क्रिया (Hearing) भा होता ह। इस प्रकार नाथों के सुरति श्रवण का अर्थ अन्तर्गादि वा अनाहूतनाद का श्रवण है। इस म यह मिद्ध हुआ कि मरति गि गलप र्णा अर्थात् निरति तक पहुँचने का एक साधन है। सुरति का माय ग = ध्यान या ग = योग का माय ह। अतएवनि पर ध्यान का उभ जाना हा मरति का लक्ष्य है। इसस निरति दगा स्वन ही

१ गोरख-वाणी पृष्ठ १८६ ८३

२ गोरख-वाणी पृष्ठ १८६ ४

३ गोरख-वाणी पृष्ठ १८ ६

४ गोरख-वाणी पृष्ठ १६७ ६०

प्राप्त हो जाती है। अतएव यह सहज-मार्ग भी है किन्तु सहज मार्ग और सहजावस्था में भेद है। प्रथम द्वितीय का साधन मात्र है। अन्तर्ध्वनि पर ध्यान के जम जाने पर ध्वनि के साथ ध्यान भी विनीत हो जाता है और यही नाथो की निरति अवस्था प्रतीत होती है।

नाथो की सुरति निरति' में ही कबीर को इस दिशा में प्रेरणा मिली है और कबीर वाणी में इन दोना का परिभाषिक अर्थ भी बड़ी प्रतीत होता है। 'सुरति' मन का खींचने की बड़ी भारी शक्ति है। वह मन को अपने में लीन कर लेती है और इतना लीन कर लेती है कि कबीर विस्मय से कह उठते हैं—

कबीर यह मन कत गया, जो मन होता काल्हि ?

बूगरि बूढा मेह ज्यू गया निवाणा चालि' ।"

मन 'सुरति' में लीन होता है और सुरति स्वयं मन की लेकर निरति में विलीन हो जाती है जिसका कबीर भी नाथो की भाँति निराधार अवस्था ही मानते हैं—

'सुरति समाणों निरति में, निरति रहो निग्धार' ।"

सुरति का कबीर एक प्रकार की व्यास कहते हैं जिसका पेय ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द है जिसको कबीर-वाणी में 'सुधारस, अमृत अथवा महारस' अभिधा भी दी गयी है किन्तु रस योगियों के उम अमृत से भिन्न है जो महसुदल कमल में स्थित चन्द्र से सदा निभरित होता रहता है क्योंकि यह रस वाया से सम्बन्धित है और कबीर का महारस प्रेम से सम्बन्धित है। इसका संकेत कबीर की इस साखी से मिलता है—

'सुरति डीकुलो लेज ल्यो, मन तित डोलनहार ।

कँवल कुवाँ में प्रेमरस, पीवं बारम्बार' ॥"

इस 'कँवल कुवाँ' को देख कर रस शीघ्र ही रुद चन्द्रामृत के अर्थ में ग्रहण कर लिया जाता है जो उचित नहीं दीख पड़ता। 'प्रेमरस', 'चन्द्रामृत' के

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२
२. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १४-२०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६-४१
४. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १८-१८१

द्विरोध में अपना टिटोरा पीट रहा है। फिर भी यदि कोई न सुने-समझे तो कबीर का क्या दोष है।

कबीर के इस 'सुरति योग' में 'अजपा' जाप का भी महत्त्वपूर्ण योग है। 'जिस प्रकार सुरति निरति में, जाप अजपा में और लक्ष्य अलक्ष्य में समा जाता है उसी प्रकार साधक अपने आप में लीन हो जाता है।' यह 'अजपा' भी योगियों के 'अजपा जाप' से कुछ भिन्न है। हठयोगियों की 'अजपा' की स्थिति ध्यान की स्थिति को स्वीकार करती है किन्तु कबीर की 'अजपा-दशा' निरति-दशा में भी सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है। अजपा का विवेचन विस्तार-पूर्वक तो सम्बन्धित टिप्पणियों में किया जायेगा किन्तु इतना बत देना पर्याप्त होगा कि अजपा की एक स्थिति तो वह है जो 'सुरति' के साथ रहती है और दूसरी स्थिति 'निरति' के साथ रहती है। अजपा को ध्यानदयी स्थिति सुरति-दशा में रहती है किन्तु जब निरति दशा में ध्यान भी विलीन हो जाता है तो साधक निरालम्ब दशा में निमग्न हो जाता है। जिस प्रकार सुरति निरालम्ब दशा में निमग्न होती है उसी प्रकार 'अजपा' की ध्यान-स्थिति भी निरालम्ब या शून्य दशा में विलीन होती है जिसको कबीर ने कोई नया नाम न देकर 'अजपा' नाम से ही संकेतित किया है। इस प्रकार वे हठयोगियों के 'अजपा-जाप' से भिन्न एक विलक्षण अजपा की ओर संकेत करते हैं।

कबीर ने 'सूपिम सुरति का जाँव न जाणै जाल' कहकर 'सुरति' की सूक्ष्मता और प्रमृति की ओर भी संकेत किया है। इसीलिए कबीर-वाणी में सुरति का संबंध न केवल निरति या अजपा में है अपितु 'कंबल कुंआ', मन, उलटा पवन, पटचक्र, और अनाहतनाद आदि से भी है। सुरति विलय को प्राप्त हो जाती है, वह निरति में समा जाती है, शून्य में प्रवेश कर जाती है। आदि से सुरति की एक ही अवस्था प्रकाशित होती है। सुरति के संबंध-प्रकार का एक सुन्दर रूप-चित्र कबीर ने इस शाली में प्रस्तुत किया है—

'त्यों की लेज पवन का डींकु, मन भटका ज दनाया।

सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया' ॥"

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४-२३

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२-३०३

३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६१-२१४

'स्थी', 'पवन', 'मन', 'सत' और 'सहज' म सुरति का मीघा मवध स्थापित करके कबीर ने उसके क्षेत्र का परिचय दिया है ।

कबीर के सुरात-शब्द-योग मे प्रेम के अश की उपेक्षा नही की जा सकती । कबीर का सुरति--ग प्रेम मिक्त है । उस पर चलने का आकर्षण प्रेम से हुआ है और गति भी प्रेममय है और अन्त म सुरति का विलय भी प्रेमानन्द म होना है । एक सती के रूपक द्वारा कबीर 'सुरति' का प्रेम मे सबष इस प्रकार स्थापित करते है —

“सती जलन फू नोकली, पीव का सुमरि सनेह ।

सबद सुनत जीव नीकल्पा, भूति गई सब देह ॥”

कबीर की 'सुरति' की एक विरोध भूमिका है किन्तु वह भी प्रेम-मयी है । भूमिका का निर्माण पाचो ज्ञानेन्द्रियो से प्रारभ होता है । वे प्रिय के प्रेम मे निमग्न हो जाती हैं और उनका स्वामी मन भी उसी प्रेम मे डुबनियाँ लगाने लगता है । अग्यास से नाद का संपर्क पाकर मन की डुबकी गभीर हो जाती है । वही सुरति है और उसी से 'राम रत्न' की प्राप्ति होती है —

“पच सगी पिव पिव करै, छटा जु मुमिरे मन ।

घाई सूति कबीर की पाया राम रतन ॥”

कबीर की बारी में सुरति साधना की आवश्यकता पर भी कुछ प्रकाश पडा है । कबीर का कहना है कि 'मन बडा गाफिन है । वह आगानी से राम क स्मरण मे नही लगता । उसको इधर लगाने के लिए उपाय करने पडते है । उनमे से सुरति भी एक उपाय है । गनाहननाद म मन का उसी भाँति लगाना पडता है जिस प्रकार हरिण अपने मन को बधिक के 'नाद' म लगा कर भयान्मय का त्याग कर देता है ।’

“पवन क उलटने और पट्चक के भेदने की परंपरागत बात करते हुए भी कबीर सुरति को अनुरागविहीन नहीं होने देते । उमम वे इस शून्य की खोज करने का निर्देश करते हैं जो आने-जाने और मरने जीने मे मुक्त है ।’

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१- ६

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५-७

३ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६-१७

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६६-६३८

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २७१-२६

'सुरति' को कुछ लोग ने 'सोन' शब्द से व्युत्पन्न माना है और उसे वे चित्त प्रवाह का द्योतक मानते हैं किंतु यह अर्थ जिस आधार पर लगाया गया, यह कहना दुष्कर है। इस अर्थ में प्रयुक्त 'सुरति' शब्द कबीर-वाणी में तो कहीं देखने में नहीं आता। हाँ इस शब्द के अर्थ में यह कहा जा सकता है कि वह स्मृति का बोधक भी है और इस अर्थ में कई स्थानों पर कबीर ने इस शब्द का प्रयोग किया है। इस अर्थ में प्रयुक्त कबीर के 'सुरति' शब्द के प्रयोग के कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं—

जो कबहूँ उडिजाइ जगल में, यहूति न सुरते ध्यानं ।”

तुझ बिन सुरति करे को मेरी ।

दशन दोर्जे धोलि किबारे ॥

'सुरति' शब्द का प्रयोग कबीर ने कुछ और भी अर्थों में किया है। उनमें से एक अर्थ यद (श्रुति) भी है जैसे—

‘सुरति सुमृति दोइ कौ बिसवास बाकि परछो सब आसा पास’ ॥”

जहाँ 'सुरति' का अर्थ यद है वहाँ उसके साथ 'सुमृति' (स्मृति) शब्द का प्रयोग भी मिलता है। वही वही सुमृति के स्थान पर 'सिमृति' शब्द भी स्मृति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

'सुरति' शब्द का एक प्रयोग रूप' के अर्थ में भी हुआ है जैसे—

(क) सूबा करता, मुई ज करनीं मुई नारि 'सुरति' बहु धरनी ।”

(ख) 'हक साच धालिक खलक ध्यानं, सो कछु सच 'सुरति' माहि' ।”

कबीर ने 'सुरति' का प्रयोग 'आसक्ति' के अर्थ में भी किया है, यथा—

‘बिबिद्या अजहूँ सरति सुख आसा ।

हूण न देइ हरि के चरन निवासा’ ॥”

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०१ ४०

२ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ०६७ ११३

३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०३-४७

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२६ २०२

५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३-४६

६ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५-२५७

७ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११४ ८२

सुरति का अर्थ आत्मा के प्रति अथवा आत्मरूप के प्रति गहन तत्र प्रत्येक सवध भावना करना भी अनुचित न होगा और 'म दत्ता म इसकी व्युत्पत्ति 'स्व रति' से करनी होगी। यह आत्मरति परमात्मा रति से भिन्न नहीं है। मन का आत्मसात् करने वाली सुरति' जीवात्मा की प्रतीक बनकर उस दुर्गति का रूप प्रस्तुत करती है जो परमात्मा से मिलन के लिए—अपने आप में ही परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए—आतुर हो नाम स्मरण के मन्त्र और अनाहतनाद के वाहन के साथ प्रयाण करती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नाथा स चला हुआ सुरति शब्द, जिसकी व्युत्पत्ति के लिए श्रुति ही उपयुक्त शब्द प्रतीत हुआ है कबीर की वाणी में आकर एक नवीन साधन में बन गया जिसमें नाथों के अर्थ—श्रुति—के साथ स्मृति (स्मरण) और स्वरति अर्थ भी मनिविष्ट हो गए। इस प्रकार कबीर का सुरति शब्द योग एक ऐसी साधना है जो नाथा की सुरति साधना से बड़ी अधिक प्रौढ़ समर्थ एवं व्यापक है क्योंकि इसमें मन के गड पर नाद पथ के अतिरिक्त अर्थ पथा से भी एक ही साथ धावा किया गया है। तीना यथों को एक साथ लेकर ही कबीर का सुरति शब्द तक पहुँचा जा सकता है कोई एक अर्थ पूरा तात्पर्य को व्यक्त नहीं कर सकता।

३ ससम—कबीर की वाणी में प्रयुक्त खसम शब्द अध्ययन का एक रोचक विषय है। कबीर अथावनी में इस शब्द का प्रयोग करीब २६ स्थानों पर हुआ है और तीन प्रमुख अर्थ दत्ता हुआ दिग्यायी पन्ना है—पति स्वामी तथा ब्रह्म या परमात्मा। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के अपने अपने मत हैं। कुछ विद्वान इसको तत्सम शब्द में न कर ख (आकाश) + सम (वत या सगता) अर्थात् आकाशवत या आकाश के समान अर्थ रखते हैं और 'म कुछ अर्थों में आया हुआ मानते हैं। अरबी में खसम शब्द का अर्थ शत्रु या विरोध करने में आता है। कबीर के प्रयोगों में यह दाना अर्थ ही प्रायः नहीं मिलने। अतएव यह एक प्रश्न है कि कबीर की वाणी में खसम शब्द ने अर्थ कहाँ से ग्रहण किया।

ग० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि जब यह शब्द कबीरदाम तक पहुँचा तबतक उससे मिलता जलना एक अरबी शब्द खसम (पति) भारतवर्ष की सीमा में पहुँच चुका था। अतएव कबीरदास को यह शब्द दो

मूला न प्राप्त हुआ। हठयोगिया के मध्य से यह आत्मा के शून्य चक्र में पहुँच कर ममभाव की अवस्था को प्राप्त हाने का अर्थ में आया और मुसलमानी माध्यम से पति का अर्थ में। पहले अर्थ में यह गगनापम का भाव धारण करता है। कबीरदाम न शून्य समाधिवाली गगनापमावस्था या खसम-भाव का सामाजिक आनन्द ही माना है वही चीज ता सृष्टि समाधि है जिसे लिए न डबे की जहरत है न क्या की, न मुद्रा अवश्य है न आसन। यही कारण है कि खसम का अर्थ सब समय उन्हां निवृष्ट पति समझा। × × × खसम वह पति है जो अपनी पत्नी का वश न कर सक और इन्द्रियों के दास मन को भी, इसलिए कबीरदास न कभी-कभी खसम कहा है। × × टीका-कारों और भक्तों ने अपनी उबर कल्पना का बल पर इस शब्द का अर्थ कभी जीव, कभी मन और कभी परमात्मा भी किया है। × × मेरा अनुमान है कि कबीरदाम 'खसम' शब्द की पुरानी परम्परा से जहर बाकिफये और उन्होंने जान-बूझ कर खसमावस्था की तुलना निवृष्ट पति में की है। उद्देश्य योगियों की कथा बताना था।

सक्षम में यह कहा जा सकता है कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी दो मान्यता से आये हुए 'खसम' शब्द का कबीर वाणी में एक ही स्रोत करते हुए दखते हैं किन्तु टाकाकार और भक्ता का उल्लेख से उन्हां 'खसम' का कुछ अन्य अर्थों (जीव मन और परमात्मा) की ओर भी स्रोत किया है।

जहाँ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर का 'खसम' शब्द को अधिकतर पुरानी परम्परा की ओर झुका हुआ देखते हैं वहाँ श्री परशुराम चतुर्वेदी उसे अधिकतर अरबी स्रोत से सम्बंधित देखते हैं। था चतुर्वेदी जी का विचार है कि 'सिद्धा न जहाँ पर शून्य स्वभाव का मानवीकरण किया है वहाँ व 'खसम' शब्द को पतिवन् मानते हुए से भी प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसा स्पष्ट नहीं है।'

१ दक्षिण डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर पृष्ठ ७०

२. देखिय, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृष्ठ ७७ ७८

३ कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २३८

४ कबीर साहित्य की परख पृष्ठ २३८

‘खसम’ शब्द मभवत् सर्व प्रथम सिद्धो की वाणी न मिलता है । ख+सम के समस्त रूप म इनका प्रयोग आकाशवत् के अर्थ मे हुआ है ।” डा० प्रबोधचन्द्र वागची द्वारा सपादित दोहा-कोष^१ में खसम’ शब्द के अनेक उदाहरण मिलते हैं । मन्कृत टीका के साथ दिय हुए नीचे के उदाहरणा स इस शब्द के अर्थ पर पर्याप्त प्रकार पडता है—

१ चित्त खसम जहि सम-सुह पइठठइ ।
(इन्दीअ बिसस्र तहि मत्त) ण दोसइ ॥१५॥

—विश्लोपाद

स० टीका—चित्त खसम यदा समसुख प्रविशति ।
इन्द्रिय विषयमात्र तदा न दृश्यते ॥

२ मगह (अवा) खसम भग्रवइ ।
(दिवाराति) सहजे राहिअइ ॥१७॥

—विश्लोपाद

स० टीका—मन एक भगवाा खसम भगवती ।
दिवाराती सहजे योजयितव्ये ॥

इसी अर्थ म निद्ध मरहपाद के दोहा म प्रयुक्त खसम शब्द को देखिय—

३ अखलअ अच्येय परम पहु खसम महासुह णाह ।
जो आवाअ अचित्त वि तस्मच्चखु करेह ॥११॥

—मरहपाद

स० टीका—अक्षय अच्येय परमपद खसम महासुख नास्ति (नाम)
यत् अवाच्य अचित्तमपि तस्य दर्शनं क्रियताम् ॥

४ जत्त विचित्तहि विष्फुरइ तत्तवि णाह सरुअ ।
अण्ण तरण कि अण्ण जत्तु भवसम खसम सरुअ ॥७२॥

—मरहपाद

स० टीका—यदपि चित्तं विष्फुरितं तदपि नायस्वरूपम् ।

अयस्तरणं किम् अण्यत् जत्तु भवसम खसमरवरूपम् ॥

१ देखिये हिन्दुस्तानी पृष्ठ ३२ (भाग १६ अंक ४, अत्रतूवग्-दिमन्व-
१६५=)

२ दोहा कोष—पी० मी० वागची भाग १ मन्दीरोन्दिअ प्रिस्मि एण्ड
पब्लिशिंग हाउस लि० १६३=

५ सत्वरस्र तर्हि खसम करिज्जइ ।
 खसम-सहायें मण वि घरिज्जइ ॥
 सो वि मणु तर्हि अमणु दरिज्जइ ।
 सहज-सहाय सो पर-रज्जइ ॥७०॥

—सरहपाद

स० टीका—सवरस्र तस्मिन् खसम प्रियते ।
 खसम स्वभावे मनाऽपि ध्रियते ।
 तदपि मनस्तस्मिन् अमन क्रियते ।
 सहज स्वभावे स पर रज्यते ॥

सभा उपयुक्त प्रसंगात् 'खसम' शब्द संस्कृत 'ख+सम' का ही समस्त रूप सिद्ध होता है । सिद्धात् न निर्विकल्पक समाधि को 'खसम' शब्द से व्यक्त किया है । यह शब्द उनके दून्य तत्त्व का घातक है । कबीर प्रख्यायनी में इस अर्थ में यह शब्द कहीं प्रयुक्त हुआ नहीं दीख पड़ता । सम्भवतः कबीर ने इसी को परमात्मा का अर्थ में विवक्षित किया है । इसमें ता कोइ सदह नहीं है कि सिद्धा के इस शब्द में गगतोपम दून्यता की भावना निहित है किन्तु कबीर ने शब्द में निकट सम्बन्ध की भावना निहित है । अतएव सिद्धा का खसम (शून्य-वत्) ही कबीर का खसम (ब्रह्म परमात्मा) ही गया है तो आश्चर्य नहीं ।

कबीर ने 'खसम' शब्द का प्रयोग दो अर्थ अर्थों में भी किया है—एक स्वामी नाथ या मालिक के अर्थ में और दूसरे पति के अर्थ में । पति के अर्थ में प्रयुक्त खसम शब्द का आविर्भाव अरबी के 'खसम' शब्द से हुआ है । फारसी में भी यह शब्द अपन मूल अरबी अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है । कबीर के समय तक यह शब्द भी भारत में प्रचलित हो गया होगा, यह कल्पना भी असंगत नहीं है । भारत में आकर इस शब्द ने यहाँ के अनुरूप अर्थ विकसित कर लिया । आज यह इतना घुलमिल रहा है कि जनसाधारण में भी इसका प्रचलन है । फलस्वरूप आमीण नर-नारिया की भाषा में भी इस प्रकार प्रयुक्त दीख पड़ता है—

(१) जा खसम कू ल आ । तु मोइ कोलू म पेरे देगो ।

—ब्रजभाषा

(२) थाने थारे खसम गी सौगन हँ ।

—भारवाडी

‘यह शब्द ‘खमम’ हिन्दी हिन्दुस्तानी अथवा उदू वा अग होकर अनेक सामान्य एवं रोचक लोकोक्तियो का भी आधार बन चुका है। उदाहरणार्थ —

- (१) औरत का खसम मर्द और मर्द का खसम रोजगार ।
- (२) एक जोरू की जोरू एक जोरू का खमम ।
एक जोरू का भौस फूल एक जोरू की पशम ॥
- (३) जोरू खमम की लड़ाई क्या ?
- (४) जोरू ने मारा खसम को कोई बोडियो रे ।

इन सब वाक्याम ‘खमम’ का अर्थ पति रहा है किन्तु खती खमम मती में ‘खमम’ शब्द स्वामी अर्थ वा द्योतन करता है ।

पंजाबी और गुजराती में भी खमम शब्द पति क अर्थ में प्रयुक्त होता है । बंगला में इसका स्वामी अर्थ ही अधिक प्रचलित रहा है । टनर ने इस शब्द का पालि में स्वामी एवं पति के लिए प्रयुक्त हुआ बनलाया है । अनेक सदर्थों से यही प्रतीत होता है कि पति के अर्थ में यह शब्द मूलतः में अरबी नापा से ही आया है ।

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि इस शब्द का अर्थ-विकास हुआ है । इस शब्द का प्रयोग फारसी में भी हुआ किन्तु अरबों क अर्थ को ही लेकर । फिर भी कुछ फारसी के कवियों ने इसका प्रयोग मानिक या स्वामी के अर्थ में भी किया है । अर्थ का यह विकास फारसी में ही हो गया अथवा भारतीय भाषाओं में हुआ यह एक मानिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । मैं समझता हूँ इस शब्द ने अपने उस अर्थ का विकास फारसी में ही कर लिया होगा और फारसी के साथ विकसित अर्थ भारतीय भाषाओं में भी आ गया ।

प्रसिद्ध फारसी-कवि हकीम मनाई के खसम प्रयोग में स्वामी या मानिक का अर्थ स्पष्टतया क्लृप्त रहा है । देखिय —

- (क) खाना ग गोर साज ओ दिल रा खसम,
दरो-दीवार खाक ओ गुल रा खसम ।

१ देखिय, हिन्दुस्तानी भाग १६ अथ , अक्टूबर दिसम्बर, १९५८

२ देखिय, बहारे खजम—मुसी टक्कद बहार, नवनिशोर प्रेम, खसनऊ, पृष्ठ ३७१

अथ—घर को ब्रह्म बनालो और मन को स्वस्म ।
मिट्टी कीचड़ से बने इधज दीवारो को स्वस्म बनलो ॥

इस प्रकार फारसी हिंदी के प्रतिष्ठित विद्वान् अमार खुमरो ने स्वस्म शब्द का प्रयोग स्वामी या मालिक के अर्थ में किया है—

(ख) च अज दिन रपत शीरो जान चह बागद ।

चू स्वस्म माना जुदे मेहमान चह बागद ॥

अथ—जब पर का स्वस्म (स्वामी) ही चला गया तो फिर महमान की क्या बात ?

इन उदाहरणों में दखन है कि उपयुक्त उदाहरणों में स्वस्म शब्द शत्रु के लिए नहीं स्वामी के लिए व्युत्पन्न हुआ है । यही शब्द भारतीय भाषाओं में स्वामन बन गया । इस प्रकार जागृत अपने मूल अर्थों रूप में शत्रु अशक्त, हीन नीच कुजाति गुणहीन असम विपक्षी एवं विरोधी का बोधक था वही भारत में फारसी के माध्यम से स्वामी का अर्थ-बोध कराने लगा । स्वामी के साथ हमने पति का अर्थ में धारण कर लिया । भारतीय भाषाओं में ऐसे और भी कई शब्द हैं जो एक ही माय स्वामी और पति दोनों का बोध कराते हैं । धनी शब्द उनमें से एक है । धना शब्द स्वामी या मालिक के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार नाथ शब्द भी धनी के दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

इस प्रकार कबीर वाली में स्वस्म शब्द का प्रयोग प्रमुखतया तीन अर्थों में हुआ है—(१) पति के अर्थ में (२) स्वामी या मालिक के अर्थ में तथा (३) परमात्मा या ब्रह्म के अर्थ में । नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से इस उक्ति को पुष्टि हो सकती है—

१ पति के अर्थ में स्वस्म शब्द का प्रयोग—

(क) 'भोल भुलो स्वस्म क बहुत किया बिभचार ।

सतगुरु गुरु बन इया पूरि बला भरतार' ॥'

१ दाख्य बहारे अजम—मुगा टेकवद बहार नवलविशोर प्रत
लखनऊ पृष्ठ ३७१

२ गारुड-बाणी पृष्ठ २५५ १६

३ कबीर ग्रंथावली पृष्ठ ६० ३

- (त) एक गुराघनि जगत पिदारी सनत जीव जत की नारी ।
सम मरि वा नारि न रोव उस रहबारा प्रोर होव' ॥
- (ग) खसम मर ती नारि न रोव उस रहबारा प्रोर होव' ॥'
- (घ) गई बुनावन माही । घर छोडघो जाइ जुताहो ।

×

×

×

दिन की घठ खसम की वरकस इह बला कत घाई ।
छे कूडे भीग पुटिया चप्यो जुताहो रिमाई' ॥'

- (ड) जोइ खसम हे जाया ।
पूत दाप खनाया । दिन रसना खोर पिलाया ॥

२ स्वामी के अर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग—

- (क) गुडिया की सबद अनाहद योन
खसम लिय कर डोरी डोल ॥
- (ख) अढाई रं ज पाव घ ती करकस कर घजहाई ।
दिन की बठि 'खसम सू फौज अरज लगी सहाही ॥
- (ग) उपज सहज ग्यान मति पाप गुर प्रनादि अतर सब लाग ।
इहु मगति नाहीं मग्ग्या हुकम दिछाणि ता खसम मिलना' ॥'

३ परमाना के अर्थ में 'खसम' शब्द का प्रयोग—

- (क) आप पावण आप पवना । जार खसम त राख बजना' ।
- (ख) बहु कवीर अथवर दुई भासि ।
होइगा खसम त सेइगा राखी ॥

- १ कवीर अथावली पृष्ठ २११ २७०
- २ कवीर अथावली पृष्ठ २८० पक्ति १२
- ३ कवीर अथावली पृष्ठ २८१ १६
- ४ कवीर अथावली पृष्ठ २६३, पक्ति ३
- ५ कवीर अथावली पृष्ठ ११७ ८१
- ६ कवीर अथावली पृष्ठ १५३ १६३
- ७ कवीर अथावली पृष्ठ २७४ ३२
- ८ कवीर अथावली पृष्ठ २७१, पक्ति २०
- ९ कवीर अथावली पृष्ठ २६६ पक्ति २३

(ग) 'जो जन लेहि खसम का नाऊ,
तिनक सद बलिहारें जाऊ ।

उपयुक्त तीन अर्थों में ही अर्थ हो ध्यानपूर्वक दखन योग्य है—एक 'पति' और दूसरा नाथ प्रभु या परमात्मा । पति अर्थ में खसम शब्द का प्रयोग किसी नारी वाचक शब्द के साथ हुआ है । जैसे—

खसम मर तो नारि न रोव' ।

पति वाचक खसम के साथ नारी वाचक शब्द न होने पर भी कभी कभी अर्थ वही रहा है किन्तु क्रिया नारी वाचक अर्थानुसारिण बोधक अवश्य रही है जैसे—

भोलें भूली खसम के बहुत किया चिन्मचार ।'

यहाँ भूली क्रिया से खसम शब्द का अर्थ पति के सिवा कोई दूसरा नहीं हो सकता ।

दूसरा अर्थ नाथ या स्वामी है जो परमात्मा का भा वाध करता है । जिस प्रकार नाथ स्वामी मालिक आदि शब्द पति अर्थ में प्रयुक्त होते हैं उन्हीं प्रकार परमात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं । अतएव 'खसम' शब्द के वही-कहो य दोना अर्थ भी एक ही भाव लग सकता है जैसे—

धीरी मेरे मनवा तोहि धरि टागों,
ते तो कौयो मेरे खसम सू पागों' ॥'

इस प्रकार बबीर द्वारा प्रयुक्त खसम शब्द पति और नाथ या स्वामी के अर्थ में प्रयुक्त होकर तीन अर्थों का बोधा बन गया है । नाथ' अर्थ में 'खसम' ने स्वामी और परमात्मा दोना में प्रवेश कर रखा है ।

कुछ विद्वाना ने 'खसम' शब्द को जीव और मन' के अर्थ में भी प्रयुक्त माना है । मे समझता हूँ बबीर ने इन अर्थों में खसम का प्रयोग शायद ही कही किया हो या तो खसम शब्द प्रतीक रूप में हमारी बुद्धि के घुल में फँस कर कोई भी अर्थ ध्वनि उत्पन्न कर सकता है किन्तु उसका बेसुरापन छिप नहीं सकता ।

१ बबीर ग्रन्थाली पृष्ठ २५० पक्ति १२

२ बबीर ग्रन्थाली पृष्ठ १६० २१३

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कह देना ममीचीन ही होगा कि कबीर का 'स्रमम' शब्द संस्कृत का स्रसम (ख+सम) नहीं है वरन् अरबी भाषा का अमम है जिसने फारसी में अपने अर्थ का विश्वास कर लिया था और जिसको भारतीय भाषाओं ने फारसी से 'पनि' या स्वामी के अर्थ में ग्रहण कर लिया। स्वामी के अर्थ का द्योतन करना हुआ 'स्रमम' शब्द परमात्मा का बोध कराने में भी समर्थ सिद्ध हुआ है।

५. **उनमन : उनमनी**—कबीर की बाणी में उनमन या उनमनि (उनमनी) शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है और इस शब्द को, ऐसा दीख पड़ता है, कबीर ने बहुत महत्त्व दिया है। कभी उनका मन 'उनमन' से लग जाता है, कभी 'उनमन' और मन अभिन्न हो जाते हैं और कभी 'अडे' के समान मन को 'उनमन' कर देते हैं। कभी-कभी कबीर का मन 'उनमनि' में चढ़कर एव मग्न होकर रसपान करता है और कभी 'घट-भीतर' 'उनमनी' ध्यान प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार कबीर की बाणी में 'उनमन' या 'उनमनी' के विविध प्रयोग पाठक के मन को अपनी भूल-भुलैया में डाल कर खींच ले जाते हैं और कुछ क्षण तक पाठक मोचता रह जाता है कि यह 'मजा' विशेषण कैसे बन गयी अथवा 'उनमन' में मन कैसे विलीन हो गया। कभी इस सोच में पड़ जाता है कि 'उनमनी' एमी क्या चीज है जिसपर मन चढ़ जाता है। सच तो यह है कि कबीर की भाषा विचित्र है और उनकी अशिक्षितता ने उसे और भी विचित्र बना दिया है। इमीलिय ध्याकरण के घाट से हम कबीर के रहस्यों को नहीं देख सकते। भाषा उनके लिए गौण वस्तु थी और अनुभूति-प्रकाशन प्रधान। अनुभूति किम माध्यम से कैसे प्रकाशित हो रही है कबीर को इसकी चिन्ता नहीं है। इसकी चिन्ता उनकी भाषा को खराब रही होगी, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कबीर की भाषा वजीर मस्त है, वह उन्मुक्त है। उसपर किसी प्रकार का भार या बोधन नहीं है। इमीलिए मानाए एक दूसरी के साथ समभौता कर लेती हैं, मजा और विशेषण भी मिलकर अपनी स्थिति समझ-उमझ लेते हैं। उक्त प्रयोगों में भी इसी तथ्य का दर्शन होता है।

१. कहते हैं कि एक पक्षी विशेष उड़ते-उड़ने आकाश में अडा देता है जो शीघ्र ही फूट जाता है और दच्चा उपर को उड़ जाता है।

जिन प्रकार और भी कई पारिभाषिक शब्दों का साथ नाथा की शब्दावली में लोजा जाना है उसी प्रकार 'उन्मन' और 'उन्मनी' या उन्मनि का साथ भी नाथ-वाणी में ही लोजा जा सकता है। यदि गोरख-बानी में नाथ परम्परा निहित है तो उसीमें इस शब्द का साथ दिखायी दे जाता है। 'गोरख-बानी' में पृष्ठ १५६ पर 'सिध्या दरसन शीषक के अन्तगत 'उन्मनी अवस्था' शब्द आया है जहाँ 'उन्मनी' अवस्था का विशदण है। हठयोग प्रदीपिका में इस अवस्था के लिये उन्मनी एव मनोन्मनी शब्द का प्रयोग किया है। उन्मनी शब्द का प्रयोग देखिये —

'हारे उपोतिपि समोज्य विचिदुन्मनपेदभ्रुघी ।

पूर्व योग मनोवृज्जनुन्मनीकारक क्षणात् ॥'

तथा मनोन्मनी शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

'भारते मध्यसच्चारे मन स्वयं प्रजापते ।

यो मन सुस्थिरोभाव संवावस्था मनोन्मनी ॥'

गोरखबानी में एक स्थान पर 'उन्मनी जाण' बह कर उस 'उन्मनी' या मनोन्मनी अवस्था की ओर हा सकन किया गया है —

'छठ छभासि काया पलटिया

तब उन्मनी जोग अपार ॥'

एक स्थान पर गोरखबानी में ही 'उन्मनी लागत ताली' कह कर उन्मने 'लय' का बजायी गयी है। वह साधक का 'उन्मनी' को धारण करता है 'उन्मन' कहलाता है, जैसे—

'अनहद सून मन उन्मन रहै,

सो सग्यामी अगम की कहै ॥'

उक्त वाणी से यह भी स्पष्ट है कि 'उन्मनी' अवस्था का सम्बन्ध 'मन' और 'अनहद' से है। अब अनाहत नाद मन को खींच कर अपने में लीन कर लेता है तभी उन्मनी अवस्था की अनुभूति होती है—

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-३६

२. हठयोग प्रदीपिका, ४-४०

३. गोरखबानी, पृष्ठ १६-५२

४. गोरखबानी, पृष्ठ ३२-६०

५. गोरखबानी, पृष्ठ ३६-१०३

इसके द्वार निरजन उनमन बासा
सबदे उलटि समाना ।'

उनमन साधक ही निरजनत्व को प्राप्त करता है। इसी तथ्य को गोरख-
बाणी में पुष्ट करने हुए कहा गया है—

यहु मन ले जे उनमन रहै ।
तो तीनि लोक की बाता कह ॥''

एक और स्थान पर गोरखबानी में मन उनमनी और पवन का सम्बन्ध
एक रूपक द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

उनमनी डाडो मन तराभू पवन किया गदियाना ।
प्रापे गोरखनाथ जोषण बठा तब सोना सहज समाना' ॥

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमन और उनमनी शब्द
नाथों की टकमाल के सिक्के हैं। कबीर ने नाथा के उक्त दोन शब्दों को उही
के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त किया है। गोरखबानी में उनमनी ताली या उनमनी
जोग की बात कही गयी है उना प्रकार कबीर ग्रन्थावली में उनमनी ध्यान'
का उल्लेख किया गया है। गोरखबानी में उनमन' शब्द साधक के साथ प्रयुक्त
हुआ है और कबीर ने उसको मन' या मनुवा के साथ लगा दिया है। साधक
मन से अभिन्न होने के कारण अर्थ में विशेष अन्तर आन की बात प्रस्तुत नहीं
होती। कबीर का उनमन' का प्रयोग देखिये—

उनमन मनुवा सुनि समाना दुविधा दुमति भागी ।
कहु कबीर अनुभौ इकु देखा राम नाम तिर सायो' ॥

यहाँ उनमन मनुवा का तात्पर्य ध्यान मग्न मन में है और यह अर्थ
परम्परा से विच्छिन्न नहीं है। उनमनी शब्द भी अपने माय एक परम्परा
लाया है और अवस्था का ही चोतन करना है जैसे—

'उनमनि चढ्या मगन रस पौवे त्रिभवन भया उजियारा' ॥''

- १ गोरखबाणी पृष्ठ ६१ ८
- २ गोरखबाणी पृष्ठ ६२ ५
३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६४ पंक्ति ७ ८
- ४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २६१ ६१
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११०-७२

'उनमन' साधक का मन उनके वश में होकर उससे अभिन्न हो जाता है और साधक की स्थिति निरालम्ब मन में हो जाती है। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि स्थिर मन, 'सहज भाव' और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। इसी भाव का कबीर इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

“मन लागे उनमन सों, उनमन मनहि बिलग ।

लूण बिलगा पाणिया पाणो लूण बिलग ॥”

हठयोग प्रदीपिका में भी इस स्थिति का वर्णन समान रूप से किया गया है। तत्त्व में विलीन मन अथवा मन में समाप्त हुए तत्त्व की स्थिति को हठयोग-प्रदीपिका में इस प्रकार दिया गया है—

“कूपूरमनले घटसंधे सलिले पया ।

तया सधीयमान च मनस्तत्त्वे विलीपते ॥”

'मन लागे उनमन सों' को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कबीर का 'उनमन' कोई मन से भिन्न वस्तु या अवस्था है। वास्तव में 'उनमन' मन में अलग कोई वस्तु या अवस्था नहीं है अपितु मन्त्र की ही एक अवस्था है। मन की 'निर्वाण दशा' ही 'उनमनी' अवस्था है। मन के माध्यम से कबीर ने 'उनमनी' को इस प्रकार समझाया है—

“कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता बाल्हि ।

डूगरि बूढा मेह ज्यू, गया निवाणा चालि ॥”

पहली पंक्ति में उनमनी अवस्था में मन की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न है और दूसरी पंक्ति में उनका उत्तर है। जो दशा प्रलय जल में 'डूगर' की हो सकती है वही उनमनी अवस्था में मन की होती है। जल में डूगर की सत्ता रह सकती है किन्तु 'उनमनी' में मन विलीन हो जाता है और उसके विलीन होते ही अपना सहज स्वरूप प्रकट हो जाता है—

“इस मन का बिसमिल करा, धोठा करों अदोठ ॥”

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३-१६

२. हठयोग प्रदीपिका, ४-५६

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०-२२

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २८-६

जब यह मन 'उत्तमन' हो जाता है तब रूप-रेखा एवं बेश का विगलन हो जाता है—

“जब थे इन मन उत्तमन जाना,
तब रूप न रेख तहा ले बाना” ॥”

तन-मन का भेद विगलित होकर अकथनीय अनुभवावस्था का आविर्भाव ही उत्तमनी अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा में परमात्मा और परमात्मा में आत्मा का विलय हो जाता है। इस अवस्था का संकेत कबीर इन शब्दों में करते हैं—

“तन मन मन तन एक समाना इन अबभे माहें मन माना।
आतमलोन अघडित रामा, कहं कबीर हरि माहि समाना” ॥”

कबीर 'उत्तमनी' को मन की 'उलटी' चाल मानते हैं और इसी कारण उलटी चाल मित्र परब्रह्म की' का निर्देश करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर के 'उत्तमन' एवं 'उत्तमनी' शब्द नाथों के प्रयोग हैं और उनको कबीर ने प्रायः उमी अर्थ में प्रयुक्त किया है। मन अपनी उलटी चाल से 'उत्तमन' होता है। जो मन अपनी सामान्य गति में नामरूपात्मक प्रपञ्च की सृष्टि करता है वही उलटी चाल चलकर सबको अपने में विदीन कर लेता है।

इस शब्द को फारसी के 'उत्तमन' शब्द का रूपान्तरण मान लेने से कबीर के पहले की परंपरा की उपेक्षा हो जाती है। उन्-मन में बना हुआ 'उत्तमन' शब्द जिसको नाथों ने 'उत्तमन' के रूप में प्रयुक्त किया, कबीर की वाणी में भी वही अर्थ दे रहा है। संस्कृत शब्द 'उत्तमनी' मनोविलय की उमी अवस्था की सूचना देता है जिसको 'मन का उलटना' सूचित करता है। नाथों का कहना है कि मन-पवन को 'उत्तमनी' में धारण करने में ही योगी तत्त्वधार प्राप्त कर सकता है—

“मन पवना लं उत्तमनि धरिबा ते जोषी ततसारा” १”

- १ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५८-२०३
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५८-२०३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४१-१७०
- ४ गोरखवानी, पृष्ठ १३-३४

यह ठीक है कि कबीर की 'उनमनी' अवस्था आनन्दप्रधान है किन्तु इसका कारण यह नहीं कि उन्होंने यह शब्द फारसी भाषा से लिया है, अपितु यही कहना उचित है कि उनका भक्ति रस की प्रधानता ने योग और ज्ञान को प्रधान नहीं बनने दिया।

'उनमन' जो ऊमनम् से व्युत्पन्न मान लने पर 'उनमनी' अवस्था में 'सोऽहम्स्मि, का समावेश तो हो जाता है किन्तु इसमें निरति अवस्था को समाविष्ट करने की क्षमता नहीं दिखायी पड़ती। कबीर की उन्मनी अवस्था में सोऽहम्स्मि में केवल निरति तक की स्थिति का समावेश हो सकता है। इस दृष्टि से योगी की अन्तिम स्थिति 'सर्वविस्वाविनिर्मुक्ता' होती है। 'सोऽहम्स्मि' वृत्ति का क्षेत्र सुरति की सीमा में बाहर नहीं है किन्तु कबीर की 'उनमनी' का क्षेत्र निरति में भी दियायी देता है जैसा कि उन्होंने 'उनमन मनुवा सुनि समाना' कह कर अपने ही शब्दों में स्पष्ट कर दिया है।

✓ ५ निरंजन—'निरंजन' शब्द का तात्पर्य अजनरहित है। अजन का अर्थ विद्वाना न अनेक प्रकार में किया है। कोई अजन का अर्थ माया करता है और कोई 'विकार' या 'कल्प' करता है किन्तु इन अर्थों से 'निरंजन' शब्द पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक दशा में उसका अर्थ 'निलोप' एवं 'निर्विकार' हो सकता है। भारतीय दर्शन इस शब्द से भली भाँति परिचित है और प्रायः यह निर्गुण ब्रह्म का वाचक है। निरंजन सम्प्रदाय, जिसका प्रचलन उड़ीसा और राजस्थान में अबतक है 'निरंजन' की उपासना करता है।

योग के ग्रन्थों में भी निरंजन का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। नाथ पन्थ 'निरंजन' से अच्छी तरह परिचित है। हठयोग प्रदीपिका ने इस शब्द का प्रयोग शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त ब्रह्म के लिये किया है। नाथपन्थी निरंजन में 'ल्यौ' लगाने की बात कहते हैं। बगल में यह शब्द किसी समय धर्म सम्प्रदाय में 'धर्मराज' का ही वाचक सा लगता था। सिद्ध-साहित्य तक में निरंजन के प्रयोग मिलते हैं किन्तु उनके शून्य ने इसको बहुत प्रभावित किया है और वह प्रभाव निरंजन के साथ नाथ-वाणी में भी चला आया है।

१. हठयोग प्रदीपिका, ४-१०७

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९१-९१

३. देखिये, गोरखबानी, पृष्ठ ६५-२०७

४. देखिये, कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २४४

कबीर का निरजन 'सत्य स्वरूप है जिनकी परम्परा उनको ताथो मे मिली है । अजन म निरजन को भट निरजन को सत्ता की स्पष्ट घोषणा है—

अजन माहिं निरजन भेटघा, तिल मष भटघा तेल ।

मूरति माहिं अमूरति परस्या नया निरतरि खेल ॥

कबीर इस निरजन को अखड एव व्यापक मानत हैं । इसकी नि शरीर और मन दोनों म है—

अकल निरजन सकल शरीरा ।

तन मन सौं मिल रहया कबीरा ॥

वह जम मरण से मुक्त है और किसी भी विकार को प्राप्त नहीं होता । कबीर का निरजन 'गद्व स्वरूप भी है और राम को व उसी का प्रतीक मानते हैं । स्पष्ट है कि कबीर का राम किसी मगुण साकार एव अमीम की ओर इंगित नहीं करता । कबीर निरजन की सत्ता का स्वीकार करते हैं किन्तु उनका साथ किसी अय सत्ता को स्वीकार नहीं करते । उसके सिवा और कुछ नहीं है । यह निराधार एव निराश्रय है । इसीलिए उनकी ओर से 'तहा कुछ आहि कि मुय' प्रश्न है जो केवल निरजन की अद्वैतता को सूचना देता है । निराकार, निर्विकार एव निर्गुण निरजन का एक निश्चयात्मक 'गद्व चित्र कबीर के ही शब्दो मे देखिय—

गोब्यदे तू निरजन त निरजन त निरजन गया ।

तेरे रूप नाहीं रेख ताहीं मुद्रा नहीं भाया ॥

निरजन या राम की सत्ता और व्याप्ति का उल्लेख करते हुए कबीर ने उसकी विनक्षरणा का परिचय बड़ी भाववानी मे दिया है । वह न वर म है न भेद म न पाप म है न पुण्य म न ज्ञान म है न ध्यान म न स्थूल म है न सूक्ष्म म न वष म है न याचना म और वह न बाल है न अवाल । वह लोक

१ गोएववानी, पृष्ठ २१७ ४१

२ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०४ ४६

३ जामे मरे न सकुटि आवे ।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०३ ४८

४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १४३ १६४

५ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १६२ २१६

प्राप्य नहीं है। वह एक अनुपम तत्त्व है।" कबीर न प्रेमकी धरा पर भी निरजन का मूल्य आवन ना प्रयत्न किया है। अजन निरजन का प्राप्त नहीं कर सकता। असतु एव स्थल अजा मल्य और मूढम निरजन स कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। निरजनाभिगुप्त मन ही निरजन का प्राप्त कर सकता है। जबतक मन का अजन से कोई सम्बन्ध रहता है वह निरजनरूप प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखता। मच तो यह है कि अजनभुवन मन ही तद्रूप हो जाता है। इस तद्रूपता को प्राप्त करने के लिए कबीर मन का प्रेम सिंचित होना आवश्यक समझते हैं। माया उस प्रेम की पावनता का ही नष्ट नहीं करती अपितु प्रेम को रसित भी नहीं होना देती। इसीलिए कबीर माया का दृष्टि-स्पर्श भी विप-तुल्य समझते हैं—

तुम धरि जाहु हमारी बहना, विष लागे तुम्हारे नैना ।

अजन छाडि निरजन रात, ना बिसहो का देना ॥”

निरजन का निवाम मन की स्थिरता में होता है। उमका कबीर आनन्द-स्वरूप मानते हैं और उमका प्राप्त करने वाला मन भी तद्रूपता के कारण आनन्द-स्वरूप ही हो जाता है।

तांग माया के इन प्रपञ्च प्रसार को ही निरजन रूप में देखने लगते हैं। यह भूल है। निरजन इससे भिन्न एव विलग है। यह सब विस्तार अजन का है जिसकी उत्पत्ति आकार से हुई है। अजन का छोड़ कर निरजन को प्रेम करने वान बिरल लोग ही होते हैं। और तो और कबीर तो योग, ध्यान, तप आदि को भी विकार बतलाते हैं अतएव उनका समावेश भी अजन के अन्तर्गत ही होता है। अजन की कसौटी उत्पत्ति और विनाश है और जो उत्पन्न या विनष्ट नहीं होता वह निरजन है। निरजन सबव्यापक मय है। यह अजल एव पूर्ण है जिस प्रकार अजन बर्धन है उसी प्रकार निरजन मुक्ति है—

अजन प्रसप निरजन सार, यहै चीन्हि नर करहु बिचार ।

अजन उत्पत्ति दरतनि लोई, बिना निरजन मुक्ति न होई ॥”

१ कबीर प्रथावली, पृष्ठ १६२-१६३

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५०-२७०

३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २०२, ३२६

४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २०२-३३८

५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-३३७

निरजन का कोई स्वरूप नहीं है। वह निराकार और असीम अपन ही स्वरूप का है। किसी भी अन्य स्वरूप की कल्पना उसके रूप के सम्बन्ध में करना केवल भ्रम को जन्म देता है। इसलिए कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं—

‘निज सख्य निरजना, निराकार अपरपार अपार।

राम नाम तयो लादस जियरे, जिनि भूलै बिस्तार’ ॥”

‘कूट’ में उलभ कर ‘सख्य’ का देखना असंभव है।^१ विवेक अनुभव ही में प्राप्त हो सकता है और अनुभव के लिये कबीर परिचय और प्रेम, दोनों की आवश्यकता समझते हैं।

जीवितावस्था में इस जगत् में कैसे रहना चाहिये, यह भी एक प्रश्न है? इस सम्बन्ध में कबीर मानो उत्तर देते हैं, जीवन्मृत हाकर रहना चाहिये।^२ इसीको वे अजन में निरजन हीकर रहना कहते हैं। जो इस प्रकार रहता है वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।

“जीवत मरं मरं फुनि जीवं ऐसे सुनि समाया।

अजन माहि निरजन रहियं बहुरि न भवजल पाया” ॥’

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कबीर का ‘निरजन’ निर्विचार, निराकार, असीम आदि का बोधक होता हुआ एक ही साथ मत्य, शब्द, प्रेमोपास्य मुक्ति, शक्ति विलक्षणता आदि का भी बोध कराता है। घम-नेद मिटाने के लिए ‘अल्लह’ और ‘राम’ दोनों को कबीर ने ‘निरजन’ शब्द से अभिहित करके जर्म को कृत्रिम एवं अजन ही माना है। निरजन का प्रयोग कबीर ने प्रायः सजा-स-रूप में ही किया है। कुछ स्थानों पर उन्होंने निरजन का प्रयोग ‘राम’ और ‘अल्लह’ के साथ भी किया है जैसे—

राम निरजन न्याग रे अजन सकल पसारा रे ॥’

किन्तु ‘निरजन’ का प्रमाण विशेषण के रूप में भी हुआ है। विशेषण

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२५ पंक्ति ८-९

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३३५, पंक्ति २३

३. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २८१, पंक्ति १९

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६१, पंक्ति ११-१२

५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२ ३३६

केवल प्रानह' का ही नहीं है, मन का भी है और इस अवस्था में वह बहुत रोचक हो गया है—'वह मन निमल होकर निरजन बन गया है जिसको मनक मन-दन, जयदेव नामदेव आदि भजन तक नहीं जान पाय। जिसरी गति का परिचय शिव, ब्रह्मा नारद आदि को भी प्राप्त नहीं हो सका और न ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण शेष आदि ही शरीर व भीतर जिसरा अनुभव कर सके और जिसका थोड़ा सा भेद यदि किसी को मिल सके तो कवल गारखनाथ, भनुंहरि और गार्पोचन्द को जो उसका साथ प्रानन्दित रखा करत थ। वह मन शरीर में पूर्णतः व्याप्त है। उम निरजन मन में कबीर लीन हो गया है।' इत प्रकार जो मन अजन रूप में बन्धन बना हुआ था वहा निरजन रूप में भुक्ति स्वरूप हो जाता है।

जो निरजन है वह अलख भी है। यह शब्द 'अलख' से व्युत्पन्न माना जाता है। इसका अर्थ अदृश्य है। अयोबर' हाने उ निरजन की ही कबीर ने प्रयोग कहा है। अलख को देखने व त्रिय अनुभव की दृष्टि चाहिये और इस दृष्टि को प्रदान करने में सतगुरु का प्रमुख स्थान है—

‘माटी खोजत सतगुर भट्या तिन कछु अलख सखाया’^१

कबीर का अलख' निरजन ही नहीं है, अपितु अभेद, अविगत, अानद-दाता तथा विधाता भी है'। विलक्षण बात तो यह है कि जिसका 'अलख निरजन कहत है वह 'दाता और विधाता भी है और यही उनका प्रेम-सरावर हिलारे लेता दिखायी दे रहा है। उनका 'राम' और 'अल्लाह' अलख भी है और मेर्य भी है, निरजन भी है और देव भी है। विचित्र बात तो यह है कि 'अजन'

१ एक निरजन अलख मेरा।

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०२-२३८

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२-३३

३ 'अलख निरजन सखे न कोई।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०, पंक्ति १३

४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७२-२४६

५ 'कहै कबीर सरबस मुखदाता, अविगत अलख अभेद विधाता ॥'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८६-२६७

भ व्याप्त होकर भो वह 'निरजन' है। उस अलख का स्वरूप आनन्दमय^१ है, उसका आनन्द पराश्रित नहीं है क्योंकि उसके अस्तित्व से पृथक् किसी को मत्ता ही नहीं है —

६ शब्द (शब्द)—इस शब्द का प्रयोग कबीर ने कई अर्थों में किया है। ध्वनि या आवाज इस शब्द का सामान्य अर्थ है। कबीर ने शब्द को दो प्रकार का माना है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका सकेत नीचे की बाणी में मिलता है—

“बिनहीं सबद अनाहुत बाजै”।^२

इससे स्पष्ट है कि अनाहुत शब्द सामान्य शब्द से भिन्न है। उन्होंने अनाहुत शब्द का प्रयोग पारिभाषिक एवं मौखिक अर्थों में ही किया है। यह शब्द अन्तर्ध्वनि है जिसके लिए एक विशेष साधना की अपेक्षा होती है। उसका परिचय कबीर इस प्रकार देते हैं—

“कबीर सबद सरोर मं, बिनि गुण बाजै तति”।^३

इस शब्द का सम्बन्ध जन्तुगत पवन और गगन से है। सबद गगन के पवना^४ से शब्द, पवन और गगन का सम्बन्ध प्रकट होता है। जब पवन और शब्द शून्य में स्थित हो जाते हैं तब समाधि लग जाती है। इसलिए कबीर ‘पवन सबद बिनि, सहज समाधि लगावहिगे’ की बात परते हैं। ‘रवि समि गुभग रहे भरि सब घटि, सबद सुनि थिति माही’ कहकर भी कबीर ने उभी यत्रस्था की ओर मुकेल किया है। यह अनाहुत शब्द परमात्मा की स्थिति या सूत्रक है—

“बाजै जत्र नाद धुनि होई,
जे बजावै सो औरै कीई”।^५

१ 'तहा न ऊर्ग मूर न चढ, आदि निरजन करं अनन्द ।'

—कबीर प्रभावती पृष्ठ १६६, पक्ति २०

२ कबीर प्रभावती, पृष्ठ १६०-१५६

३ कबीर प्रभावती, पृष्ठ ६३-६१३

४ कबीर प्रभावती, पृष्ठ १३७ पक्ति १

५ कबीर प्रभावती पृष्ठ २३०, अन्तिम पक्ति

कबीर ने 'अनाहत' व माथ 'शब्द' और 'नाद' दोनों का प्रयोग किया है किन्तु 'नाद' का प्रयोग उग्रहान अनाहत व सम्बन्ध से ही किया है जबकि शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है।

शब्द व पुन दो भेद धार्मिक एवं अधार्मिक होते हैं। कबीर का राम शब्द धार्मिक है क्योंकि यह 'ढाई अधरो' में बना है। 'सतगुरु' से प्राप्त शब्द धार्मिक ही है। कबीर शब्द में अमोघ शक्ति मानते हैं। मानसिक परिष्कार भी शब्द शक्ति का ही एक रूप है। गुरु क शब्द में ऐसी शक्ति स्पष्टतः दिखायी देती है—

‘सतगुरु ऐसा चाहिये जंसा सिकलोगर होइ ।

सयद मसकलाफेरि फरि, देह द्रपन करं सोई’ ॥”

गुरु के शब्द में एक धाण की शक्ति भी निहित है जिसके लगते ही कलेजे में छेद हो जाता है—

“सतगुरु साचा सूरिवा सबद जु बाह्या एक ।

सागत ही नें मिति गया, पड्या कलेजे छेक’ ॥”

इस शब्द-वाण की विशेषता यह है कि वह शरीर में लगता है और कलेजे में 'कड़क' (दर्द) पैदा करता है। यह शब्द सुनायी पडता है कान से और असर करता है हृदय पर। इस शब्द वाण की एक और भी विशेषता है और यह कि हरि गुण के स्मरण के साथ उसमें उत्पन्न हुई वेदना गहन होती जाती है—

“ज्यू ज्यू हरिगुण सांभली, त्यू त्यू लागं तोर’ ॥”

सतगुरु के शब्द का प्रभाव पात्र पर होता है, कुपात्र पर नहीं। कुपात्र का जन्म व्यर्थ है क्योंकि उस पर गुरु-शब्द का कोई प्रभाव नहीं होता—

“सतगुरु सबद न मानई, जनम गंवाया जादि’ ॥”

शब्द का कबीर जीवन भी मानते हैं। इसका सम्बन्ध द्वासी से है।

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३ ६१३

२ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६३ ६१४

३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६१७

४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २६ १८

दशासा के इक्कीस हजार छ सौ धारा^१ जीवन की सूचना देने ह । प्रत्येक धारा व साय शब्द की स्थिति है । दशासा क पाठो टूट गते ह किन्तु शब्द नष्ट नहीं जाता । शब्द अतीत है । शरीर त शरीर के विगलित होने पर अत शरीर म मित गता है ।

शरीर को भी कबीर शब्द कहत ह और उम व मष्टि का मृत मानते ह । जीवन और मयु का सब्र ना शब्द मे है । तब शरीर शरीर का छोड़ देता है तब दुनिया के योग मतक कहने गते ह ।

शब्द दो प्रकार का होता है—स्थूल और सूक्ष्म । स्थूल शब्द त्रिषु गात्र होता है और सूक्ष्म अतीन्द्रिय होता ह । इमीलिए कबीर अतीत शब्द^२ को रहस्यमय बतलात ह । शब्द ब्रह्म का व्यक्त रूप है मायिक साधना व अनु रूप उस शब्द म मानद की प्राप्ति करता है—

जिहि धिरिया माड मिल ताम न जाण शीर ।

सबक् सुखदे सबद करि, मयणी अशनी ठीर ॥

शब्द का प्रयोग जाग ने भी किया है किन्तु उमम इतना व्यापकता दृष्टियत नहीं होती जिनकी कबीर के शब्द मे है । शुद्ध शब्द एव अनाहत शब्द पर कबीर का विशेष ध्यान रहा है ।

अतएव स्थिति यह प्रकट होती है कि कबीर न नाद को स्थिति शब्द को और शब्द की स्थिति नाद को प्रदान करता है ।

७. अजया जाय—अजया जाय जाय का ही एक उ व स्वरूप है । कभी कभी इस सहज जाय भी कह दिया जाता है । अना मृत म नाम स्मरण रहता है किन्तु जैमाकि नामस्मरण म प्रत्यक्षत वायागा का उपयोग किया

१ कबीर प्रयावली पृष्ठ १०२ ६२

२ कबीर प्रयावली पृष्ठ १०० ३६

३ कबीर प्रयावली पृष्ठ २४३ पावन २३

४ शब्द अतीत का मरम न जाग नमि भूली बुनियाई ।

× × ×

प्यड मुकति कहत ह मुनिजन सबद अतीत था सांड ।

—कबीर प्रयावली पृष्ठ १००

५ कबीर प्रयावली, पृष्ठ ८/२

जाता है उसी प्रकार 'अजपा जाप' में उनका उपयोग नहीं किया जाता। इसमें न तो नाम का उच्चारण किया जाता है और न शोर्ट हिलते हैं। इसमें न श्रेणुलियाँ हिलती हैं और न माला का उपयोग ही होता है। केवल अन्त क्रिया हाती रहती है। बौद्ध मिट्टा की साधना-पद्धति में श्वासों का निरोध करके चडाग्नि प्रज्वलित की जाती थी और 'एव' बीजाक्षर को ध्यान में लाकर इस प्रकार साधना की जाती थी जिसमें यह शब्द प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में स्वतः निकलने लग जाय। इसे वच्चजाप का नाम दिया जाता था। इसमें तांत्रिक बीजार्य तथा हठ्याग दोनों का समन्वय हो जाता था और नाम-स्मरण का परंपरागत विधान भी आ जाता था।" कहा जाता है कि नाथपथ में इसी साधना में पीछे 'अजपा जाप' का नाम प्राप्त किया। इसमें मन को शून्य में निहित कर दिया जाता है और 'एव' के स्थान पर 'सोऽहम्' का ध्यान किया जाता है। इसी सोऽहम् में शब्द-ज्योति प्रकट होती है और अन्तर एव बाहर प्रकाश हो जाता है।

कबीर ने सोऽहम् का परित्याग तो नहीं किया किन्तु उनके ध्यान का केंद्रबिन्दु प्रायः 'गम' ही रहा है। कबीर के 'अजपा जाप' की चरम परिणति 'आपा माह आप' में होती है। 'अजपा जाप' ध्यान-रूप है। स्मरण के द्वारा ध्यान को नाम में लगा देना अजपाजाप की वह स्थिति है जो 'सुरति' की सम-कथ है। उसकी एक स्थिति यह है जिसमें ध्यान, ध्यय और ध्याता निरालंब दशा में विलीन हो जाते हैं। अजपा जाप अभ्यास सं बनता है और आत्मस्वरूप में डूब जाता है। यही सहज जाप भी है।

८ नाद बिन्दु—शास्त्रों में कहा गया है कि सकल शिव' (सच्चिदानन्द स्वरूप शिवतत्त्व) से दानि तत्त्व प्रकट हुआ और शक्ति तत्त्व से 'नाद तत्त्व' का आविर्भाव हुआ। नाद तत्त्व को मदाद्य तत्त्व भी कहते हैं। नाद में बिन्दु (ईश्वर तत्त्व) का विराम हुआ जिस परबिन्दु भी कहते हैं। इसी से बिन्दु विरामित हुआ। नाद और बिन्दु शक्ति के अन्य स्था की भाँति दो रूप हैं जिनमें शक्ति की उपयोगादम्या तथा उच्छानावस्था प्रमुखता से आविर्भूत होती है। शास्त्रों में शक्ति से नाद-बिन्दु का सम्बन्ध विगद रूप से व्यक्त किया गया है—

‘सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेद्वरात् ।
 आसीच्छक्तिस्ततो नाशो, नादाद्विदुसमुद्भवः ॥’

सन्तो म, जिनको मन्त्रशास्त्र भी कहते हैं शब्द की विशद विवचना की गयी है मन्त्र ही व्यक्त शब्द है । वैसे तो नाद का अर्थ भी शब्द ही होता है, किंतु वह शब्द का आदि लिंगशरीर है । विदु उम व्यक्त मण्डि के पूर्व की अवस्था का चोतन करना है जो मायावत ाव गक्ति मन्त्र से विनिमित्त है । ध्यान रखने की बात है कि माया को परम कुण्डली भी कहते हैं । इसम ब्रह्म पद षत्र शुष्णी का समावेश रहता है ।

शब्द आकाश का युग ह और यतिगम्य हाता है । यह दो प्रकार का होता है—वर्णात्मक एव अवणात्मन अथवा ध्वयात्मक । ध्वयात्मक शब्द दो चीजा के पररपर मधप म उत्पन्न हाता है और वह निरर्थक हाता है । इसके विपरीत अनाहत शब्द जिनको ब्रह्मनाद या ब्रह्म शब्द भी कहते हैं किन्ही दो वस्तुओं के मधप या सम्पर्क म उत्पन्न नहीं होता वरन् अपन आप पैदा हाता है । वण ध्वनि (वण शब्द) वाक्यो पदो एव वर्णो म निर्मित होती है ।

वण ळणियों का अर्थ से गहन सम्बन्ध होता है । शब्द और अर्थ दोनों मस्तिष्क मे भा सम्बन्धित ह । मस्तिष्क का जातारूप गठन बनाना है और वह स्वल्प जिसम वह स्वयं जान होता है रूप (Form) रहता है । बाह्य पदार्थ का व्यक्ति मानस पर अरुण भी अर्थ या रूप कहलाना है और उच्चरित वाणी शब्द कह जाता है अतएव मन्त्र टाँट से द्रष्टा और द्रव्य भी शब्द और अर्थ ही ह जो बदात्त क नाम और रूप क समानान्तर ह ।

जिस प्रकार शरीर लिंग सूक्ष्म और स्पर्श हाते ह उसी प्रकार शब्द भी होते ह । शब्द के चार भाव (States) हाते ह—परा पश्यन्ति मध्यमा तथा ब्रह्मरी । परा शब्द दिग्गण्ड होता है और शरीर के मूलाधार केन्द्र म गतिमान रहता है । पश्यन्ति वह शब्द है जिसम सामान्य स्पन्दन (General motion) होता है । इसकी गति मूलाधार से मणिपूर चक्र तक है । यह मन से सम्बन्धित होता है । मध्यमा शब्द बुद्धि से सम्बन्धित होता है और हिरण्यगर्भ रूप होता है जो पश्यन्ति से हृदय तक फैलता है । मस्तिष्क का यह अंग

जो पहिचानता है सूक्ष्म शब्द कहलाता है और वह अज्ञ जो पदार्थ का रूप धारण करता है (जो बाह्य पदार्थ के अनुरूप होता है) सूक्ष्म अर्थ कहलाता है।

इस प्रकार भस्तिष्ज की किया एक ही सावदो रूपों में होती है—शब्द रूप में और अर्थ रूप में, जो प्राक्क प्राक्क रूप में अभिन्न होते हैं। दोनों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर में होता है।

सृष्टि में सबसे पहले मध्यमा शब्द का आविभाव हुआ। उस समय कोई अन्य अर्थ (Object) नहीं था। फिर विज्ञान मन ने आभ्यन्तरिक मध्यमा अर्थ का शोचर जगत् रूप में विश्वास किया और वैदिकी शब्द में उमको अभिहित किया। वैदिकी शब्द उच्चरित वाणी है जो बठम विरहित होकर मुख से प्रवृत्त होती है। इसका विरुद्ध शब्द भी कठन है। इन कारण वैदिकी शब्द भाषा या स्वतः बग-ध्वनि है। इसके अनुरूप अर्थ को भौतिक या स्थूल विषय भी कहते हैं जिसे भाषा व्यक्त करती है। इस शब्द का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नाद विन्दु की सम्पना मनीषियों की बहुत पुरानी कल्पना है। सृष्टि का उत्पत्ति की सम्पना करते समय इन दोनों तत्त्वों को नहीं भुलाया जा सकता। अनाह्वान नाद के विवेचन में यह पहले ही बताया दिया गया है कि नाद बाह्य भी है और शरीर के भीतर भी। उसी के द्वारा अव्यक्त स्वतः के रूप में आया और उसीमें सृष्टि प्रेरित हुई। उसीका योगी अपने भीतर साधना और अभ्यास में सुनने हैं। वहाँ जा चुका है कि यही नाद उस अन्तर्ज्योति का स्रोत है जो अज्ञान-तमिर का विनाश करती है। नाद शिव तन्त्र का प्रतीक है और विन्दु उस शक्ति का बोधक है, शिव के साथ जिसके मिलन को प्रत्येक साधक, प्रत्येक योगी अपना अभीष्ट मन्त्र करता है। इसी विन्दु का योगियों ने कभी कभी वीर्य का पर्याय भी माना है। अतएव विन्दु-साधना का अभिप्राय ब्रह्मचर्य भी होता है। योग साधकों ने इसकी रक्षा पर बहुत जोर दिया है। 'पानी की बूंद से जितनी प्यङ्क साज्या' कहकर कबीर ने वीर्य विन्दु की ओर ही संकेत किया है।

शिव शक्ति का मिलन नाद-विन्दु के मिलन का प्रतीक है। शक्ति-मन्त्र-सूत्र विन्दु के ऊर्ध्वगमन का प्रतीक है। जो विन्दु-नाद से मिल कर परमपद की

१. 'सपने बिन्दु न देखे भरनार।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २००-२३०

२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८१-२०४

प्राप्ति' म महायक बनता हे वही अपनी विकल स्थिति मे जीव को व्याकुल एव अमान्त कर देता है । उमकी व्याकुलता ही काम है । इसीलिए कबीर कहते हैं—

“उतपति व्यद भयो जा दिन ये,
कबहू सच नहीं पायो’ ॥”

कबीर ने ध्वनि या शब्द के सामान्य अर्थ मे भी नाद का प्रयोग किया है, जैसे—

“इसू मृग नादं वेद्यो जाइ,
प्यड परं थाकी ध्यान न जाइ’ ॥”

और ‘अनाहत’ नाद के विशेष अर्थ मे भी नाद का प्रयोग किया है, जैसे—

“बाजो जग्न नाद धुनि होई,
जे बजावैं सो औरं कोई’ ॥”

कबीर नाद और बिन्दु के मिलन की साधना की चर्चा करते हुए कहते हैं कि चाहे नाद मे बिन्दु का विलय हो और चाहे बिन्दु मे नाद का, किन्तु इतना तो मत्थ है कि परमात्म-तत्त्व की अनुभूति मे इन दोनों का मिलन बहुत सहायक होता है । ‘नाद व्यद की नादरी’ कह कर कबीर इसी उक्ति का समर्थन करते हैं । नाद बिन्दु का मिलन गोविंद के मिलन का द्योतक है । ये इस वहाँ से बचना चाहते हैं कि कौन किमम मिलना हे । इसीलिए वे कहते हैं—

“नादहि व्यद व्यदहि नाद,
नादहि व्यद मिलं गोविन्द’ ॥”

नाद और बिन्दु व सम्बन्ध मे कबीर और नाथों के दृष्टिकोण म विरोध अन्तर नहीं है । यदि कुछ विशेषता है तो यह कि कबीर के ‘नाद-बिन्दु’ म प्रेम का पुट बना हुआ है ।

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८-३२६
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८-३०८
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१८-३१३
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३०, अन्तिम पंक्ति
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६४-१८
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८-३२६

✓ सहज—कबीर को वाणी में कुछ गमवाण शब्द हैं। उनका प्रयोग अनेक प्रकार से होता देखा जाता है। महज भी उनमें से एक है। विद्वानों ने 'सहज' शब्द के अनेक स्रोत दखन का प्रयत्न किया है। कोई इसे चीनी शब्द 'ताम्रो' से मन्वित करत है। कोई विष्णु पुराण से जोड़ते हैं और कोई इसे सोजने के लिए अपभ्रंश बंद तक जा पहुँच है। इनमें कोई मन्दह भी नहीं है कि 'सहज' शब्द प्राचीन है और कबीर को परंपरा से प्राप्त हुआ है। कबीर के पहले महज की परंपरा स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में और नाथों की धानियों में भी रही है।

'बौद्ध सिद्धा एव शंभु योगिया ने इसका प्रयोग न केवल किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक भाव के अर्थ में किया, अपितु उन्होंने इसका आशय एक ऐसी भावना से भी मन्वित किया जिसमें कमल प्रज्ञा एवं उपाय तथा शिव एवं शक्ति के सम्मिलन की कल्पना की जाती है। इसके सिवा सिद्धों ने जहाँ 'सहज तत्त्व' में शून्य की धारणा को भी प्रथम दिया वहाँ नाथ पंथी योगिया ने उसमें सहज ज्ञान का भी अस्तित्व माना। सिद्धों के लिए 'सहज तत्त्व' भाव तथा अभाव, दोनों से परे है और मरहवा के अनुसार उसकी स्थिति का महत्त्व निर्वाण में भी अधिक है—

'सहज छट्टि ज गिवाण भाविउ।

गण परमत्य एवक त साहिउ' ।'

नाथों ने सहज की स्थिति में मन्नी की कल्पना भी की है। इसीलिए गोरखनाथ कहते हुए दिखायी पड़ते हैं —

'जिहि धरि चंद सूर रहि ऊर्ण, तिहि धरि होसि उजियारा।

तिहा जे आसण पुरी तौ सहज का भरो पियाला, मेरे ग्यानों' ॥''

कबीर का सहज नाथों से भी अधिक व्यापक है। सहज के योग से उन्होंने अनेक शब्द बना लिये हैं। सहज रूप, सहज सुख, महज शून्य, सहज घुनि, सहज भाव, आदि ऐसे ही शब्द हैं। इन शब्दों के साथ सहज ने जो मूल्य प्राप्त किये हैं उनसे सहज की व्यापकता सिद्ध होती है। सहज का उपयोग कही भी कर लिया गया है। विषय-त्याग, आसक्ति-निवारण, मोह-विसर्जन,

१. देखिये, कबीर साहित्य की परब, पृष्ठ २४८

२. गोरख-वाणी, पृष्ठ ६०

आचररा, समाधि आदि सब कार्यों में कबीर न सहज से काम लिया है। आत्मा या परमात्मा का असली रूप भी सहज रूप है। इन प्रकार कबीर ने सहज की परंपरा का सहज विकास किया है। वे सहज की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "सहज सहज वह तो सभी लेते हैं किन्तु समझने बिरने लोग ही हैं। जहाँ विषयो का परित्याग सहज भाव से हो जाय वही सहज की स्थिति समझनी चाहिये। सहज की स्थिति इन्द्रिय-दमन में नदारि नहीं है, उनके शमन में है" —

“सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्हें कोइ।

जिन्ह महजें विषया तजो, सहज कहीजें सोइ॥”

“सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हें कोइ।

पात्र राखें परसती, सहज कहीजें सोइ॥”

जहाँ सहज भाव से वित्त, पुत्र, कलत्र एवं काम का निपात हो जाता है और सहज रूप से ही एकात्म प्राप्त हो जाता है, वही सहज की स्थिति होती है। जहाँ परमात्मा की प्राप्ति सहजरूप से हो जाती है वही सहज का साक्षात्कार हो जाता है।

“सहज सहजें सब गये, सुत बित्त कामणि काम।

एकमेक ह्वै मिलि रह्या, दासि कबीरा राम ॥”

“सहज सहज सब को कहै, सहज न चीन्हें कोइ।

जिन सहजें हरिजो मिलै, सहज कहीजें सोइ॥”

कबीर की समाधि भी सहज समाधि है जो सिद्धो की शून्यस्थितिमात्र नहीं है, अपितु उमम सुख और शान्ति का निवास भी है।

“सहज समाधि सुख में रहियो, फोटि कलप विश्राम।”

कबीर की सहज समाधि योगियों की निरालस दगा मात्र नहीं है, अपितु कायिक उपाधियों की आनन्दस्वरूप परिणति है —

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४१-४०५

२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०६

३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०७

४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४२-४०८

५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८६-६

तन म होती कोटि उपाधि,
उलटि भई सुख सहज समाधि' ॥''

उसका सहज सुख स्वाय एव हिमा म पूर्ण नहीं है । उसम त्यागमय अहिमा की भावना निहित है । उसम निर्भयता के भाव के साथ-साथ दूसरो को निर्भयता वा आश्वामन भी है —

‘कहे कबीर सुख सहज समाझे,
आप न डरो न और डराऊँ ॥’

कबीर के अनुसार सहज रूप में वाई परिवर्तन नहीं हो सकता । आत्मा का रूप भी सहजरूप है । पचतत्त्व की विवृति उस सहजरूप को आवृत कर लती है किन्तु तत्त्वो के वियुक्त हो जाने पर आत्मा का समावेश भी सहजरूप म हो जाता है —

पच तत्त अविगत थें उत्पना, एकै किया निधासा,
बिछुरे तत फिर सहजि समाना, रेष रही नहीं दासा' ॥''

कबीर का शून्य सहजनामधारी हात टूट भी सिद्धा के शून्य का द्योतक नहीं है । दोनों विलक्षण हैं, किन्तु दोनों की विलक्षणता भी भिन्न है । सिद्धो का मून्य अस्ति-नास्ति-विलक्षण है किन्तु कबीर का सहज निरालव स्थिति व्यवत करता हुआ भी रसमय है उसम कबीर विभोर हो जाते हैं और उछक नहीं सकते —

“सहज सुनि सें जिनि रस चाट्या,
सतगुर सें सुधि पाई ।
दास कबीर इहि रसि माता,
कबहूँ उछकि न जाई' ॥’

कबीर उन सना का चुनींता दन ह जा जप-तप से आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं । उनका कहना है कि सहजानन्द जप तप मे प्राप्न नहीं होता । वह

- १ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६३-१५
२. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६३-१५
- ३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०२-४४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १११-७४

तो आत्म-भाव है, स्वभाव से ही उत्पन्न होता है' । परमात्मा का रूप भी सहजरूप है जो भ्रान्त मन में छिपा हुआ है । जैसे ही मन का भ्रम दूर हो जाता है कि सहजरूप परमात्मा का आविर्भाव हो जाता है' ।

'सहज' का प्रयोग कबीर ने स्वतन्त्र रूप से भी किया है । यहाँ सहज का अभिप्राय मन की स्वस्थावस्था है —

“मितया राम रह्या सहजि समाई,
बिन बिछुरया जीव उरभई जाई ।”

कबीर का 'सहज' 'स्वभाव' या 'परमात्म-भाव' का भवेत् भी करता है किन्तु उसमें भी प्रेमतरंग का विनिवेश करके उसके साथ सम्बन्ध-भावना बना लेते हैं —

“कहै कबीर यहु सहज हमारा,
विरली सुहागनि कत पियारा ॥”

सक्षेप में यह कह देना उचित ही होगा कि कबीर का सहज मौलिक एवं परपरागत उद्भावनाओं से परिपुष्ट एक ऐसी सत्ता है जिसे आत्मा, परमात्मा, मन, भाव, स्वभाव, आनन्द गगन, ब्रह्मरन्ध्र आदि में से किसी में देख सकते हैं । उसका परिचय यही है कि वह किसी विशेष परिभाषा में आवद्ध नहीं है । हाँ, अनुभवगम्य प्रमग में वह अपना भवेत् दे बैठता है ।

कबीर के कुछ प्रश्न

मनुष्य के जीवन में अनेक प्रश्न उठते रहते हैं और वह उनका उत्तर देने का प्रयत्न भी करता है । कभी-कभी उसके उत्तर में कोई जीवन-व्यापार भी निहित रहता है । सच तो यह है कि प्रश्न और उत्तर या व्यापार का समन्वित रूप ही जीवन है । प्रश्नोत्तर में कभी-कभी तो बहुत भारी सघर्ष निहित रहता है जिसको दो रूपों में विभक्त करके देखा जाता है—एक प्रश्न सघर्ष और दूसरा

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३८
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५७-२०३
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३७, पंक्ति ८
४. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २१२-२७१

बाह्य सघष । ऐसे सघष क विकास व लिए प्रबन्ध रचनाप्रां मे अधिक अवकाश होता हे किन्तु मुक्तको म भी सघष वा चित्रण होता दखा जाता है ।

कबीर के जीवन मे ना कुछ प्रश्न उठे ह जिनका उत्तर उन्हाने या तो प्रश्न के साथ ही देने वा प्रयत्न किया है अथवा किसी अन्य स्थल पर उत्तर अवश्य आगया है ।

कबीर क प्रश्ना म प्रमुखत दो प्रकार के प्रश्न दृष्टिगाचर होते हैं— एक तो समाज से सम्बन्धित और दूसरे दशन मे सम्बन्धित । इन प्रश्नों का जीवन से गहन सम्बन्ध है । समाज सम्बन्धी प्रश्न सामाजिक उलभना का रूप प्रस्तुत करते ह और दशन सम्बन्धी प्रश्न जीवन, मरण शरीर, प्राण आदि पर विचार प्रेरित करते ह । प्रस्तुत रचना म इन प्रश्नों वा उत्तर कही न कही अवश्य मिल सकता है और कुछ प्रश्न ना ऐसे महत्वपूर्ण ह जिन पर सोचने के लिए कोई भी व्यक्ति उत्सुक हो उठता है । इन प्रश्ना के बिना यह विवचन अधूरा ही रहता । अतएव इनको एकत्र बरके नाच प्रस्तुत किया जाता है —

क-समाज-सबधी प्रश्न—

- (१) जीव का बध करके धम की बात बरते हा तो फिर अघम किस का नाम है ? यदि आप ही मुनिजन बन बँठ हो तो कसाई किसे बहाग ?
- (२) एक जन्म क लिए सहसा देवा की पूजा क्या बरते हो जिसके भक्त महेश तक ह उस रामदेव की पूजा क्या नहीं बरते ?
- (३) अरे भाई ! बोलना किस कहते है ?

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०१-१६

२ 'एक जन्म के कारण, फत पूजा देव सहसा रे ।
काह न पूजा रामजी, जाको भगत महेशी रे ॥'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६-१२७

३ 'बोलना का कहिये रे भाई ।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६-६७

- (स) ज्ञान बड़ा है कि ज्ञानदाता ?
 (ग) यह मन बड़ा है कि वह जहा मन लीन हो जाता है ?
 (घ) राम बड़ा है कि राम का जानने वाला ?
 (ङ) तीर्थ बड़ा है कि हरि का दास ?
- (२७) बन्धन क्या है और मुक्ति क्या है ?
 (२८) अम्बर का अवलम्ब क्या है ?
 (२९) देहधारी कचन और कामिनी के बीच म रह कर उनसे अप्रसुप्त कर्म रह सक्ता है ?
 (३०) इस जगत् म मेरे जन्म का कारण क्या है ?
 (३१) इन अन्तु स कौन कौन बना गया और कौन कौन रह्या ?
 (३२) तुम कहा थे और तुमको किमने बनाया ?

- २७ कहि धू छूट कवन उरभाला ?
 —कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०० ३८
- २८ 'कहो भइया अबर कासू लाया ?
 —कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२३-१४१
- २९ 'एक कनक अरु कामनी जग म दोई फदा ।
 × × ×
 'देह घर इन भाहि वास, कहु कर्म छूटे ॥
 कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १५१ १८८
- ३० कारनि कवन आइ जग जनन्या ?
 —कबीर प्रथावली, पृष्ठ १४२ १९१
- ३१ 'कौण कौण गया राम कौण कौण न जामो ।
 —कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १७२-२४७
- ३२ 'कहा ये तुम किन कोये ।
 —कबीर प्रथावली पृष्ठ १७५-२५७

- (३३) आपमें परमात्मा का निवास हाते हुए भी वह पवित्र और आप अपवित्र क्यों है ?
- (३४) हे निरजन जहाँ तुम रहते हो वहाँ कुछ है या कुछ भी नहीं है ?

३३ 'अलह पाक तू नापाक बयू ?'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १७५-२५७

३४. 'कहं कबीर जहा बसहु निरजत तहा कुछ आहि कि सुग्य ।'

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४३-१६४

परिशिष्ट—२

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

१	यच्चात्म रामायण	अनुवादक—श्री मुन्निमाल
२	अनंतदाम की परिचई	अनंतदास
३	कबीर	डा० हजारीमहाद द्विवेदी
४	कबीर प्रयावनी	श्री श्यामशुंदरदास द्वारा सम्पादित
५	कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिपुराण्यत
६	कबीर दीपक	हमराज शास्त्री
७	कबीर का जीवन वृत्त	चंद्रबनी पाण्डेय
८	कबीर साहित्य की परम्परा	परगुराम चतुर्वेदी
९	कबीर साहित्य और सिद्धांत	यनदत्त शर्मा
१०	कबीर वचनावली	हरिऔध
११	कबीर मसूर	परमानन्द
१२	कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
१३	कबीर एक सव्ययन	डा० रामरतन भटनागर
१४	कबीर और जायसो का रहस्यवाद	डा० राविन्द त्रिपुराण्यत
१५	कबीर और जायसो का मूल्यांकन	पुरुषोत्तमचन्द्र बाजपेयी
१६	कबीर साहित्य समीक्षा	निधम्वरूप दुष्ट
१७	कबीर पथ	निश्चलराज
१८	गीता रहस्य	तिग्ग
१९	गोरखवाणी	डा० बन्धुवान
२०	जायसो और उनका पदभावत	जीवनप्रसाद जोशी द्वारा सम्पादित
२१	तमच्छुफ और सूफेया	चंद्रबनी पाण्डेय

२२ तुलसी-दर्शन	डा० बलदेवप्रसाद मिश्र
२३ भक्तमाल	नाभादास
२४. भक्तिकाव्य के मूल स्रोत	दुर्गाशंकर मिश्र
२५ भक्ति दर्शन	डा० मरनाममिह शर्मा
२६ दीपशिखा ✓	महादेवी वर्मा
२७ रामचरितमानस	गीना प्रेस
२८ मन्त कवीर	डा० रामदुमार वर्मा
२९ सन्त वाणी सग्रह	
३०. मन्त दर्शन	डा० त्रिवेणीनाथरायण दीक्षित
३१ मन्त कवीर-दर्शन	राजेन्द्रमिह गौड
३० मूरसागर	नागरी प्रचारिणी सभा
३३ साध्यगीत	महादेवी वर्मा
३४ स्कन्दशुद्धि ✓	जयशंकर प्रसाद
३५ मूरदास ✓	रामचन्द्र शुक्ल
३६ हिन्दी साहित्य का इतिहास ✓	रामचन्द्र शुक्ल
३७ हिन्दी भा० का विवेचनात्मक इतिहास	डा० रामदुमार वर्मा
३८ हिन्दी विश्व कोष	वगु
३९ हिन्दुत्व	श्री रामदास गौड
४० विद्यापति की काव्य-भाषना	दशराजमिह भाटी
४१ विद्यापति की पदावली	जीवनप्रकाश जोशी द्वारा सम्पादित
४२ त्रिवेणी ✓	रामचन्द्र शुक्ल
४३ रहस्यवाद ✓	जयशंकर प्रसाद
४४ रहस्यवाद	रामरतन भटनागर
४५ दोहा-कोष	पी० सी० वागची
४६ बहारे अक्षर	मुन्शी टेकचन्द बहार

संस्कृत

- १ कठोपनिषद्
- ✓ मुण्डकोपनिषद्
- ३ शिव महिमा

- ४ ऋग्वेद-साहता
- ५ अथर्ववेद महिता
- ६ ईगोपनिषद्
- ७ श्वताव
- ८ चर्यापद
- ९ गाडल्य सूत्र
- १० छंदोग्य उपनिषद्
- ११ हठयोग प्रतीषिका
- १२ गोरक्ष पद्धति
- १३ लघुयोग महिता तत्र
- १४ सारदा तिलक अध्याय १

अधनी

- | | |
|--|------------------|
| १ एन घाउटलाइन आफ दी रिली
जियम रिटरेचर आफ इंडिया | पकडर |
| २ एन इटाडनगन टु इन्डियन
फिनान्सपी | दत्त एण्ड चटर्जी |
| ३ अर्ली इन्डिया आफ नो वलपव सकट | राय चौधरी |
| ४ आर्कैलाजिकल सर्व आफ इंडिया | |
| ५ इंडियन फिनान्सपी | डा० राधाकृष्णन |
| ६ हिंदू टाइम्स एण्ड गार्स्टम एण्ड
गिप्रज टैड गट बनारस | एम० ए० गौरिस |
| ७ दीन इलाही | राय चौधरी |
| ८ कबीर एण्ड हिज फानोमन | डा० की |
| ९ कबीर एण्ड हिज वायधाफी | डा० मोहनसिंह |
| १० कबीर एण्ड दी कबीर पथ | वस्वट |
| ११ मेडिवल मिस्टिमिम आफ इंडिया | क्षितिमोहन सेन |
| १२ मिस्टिमिम इन दी उपनिषद्स | निबन्धन |
| १३ मिस्टिमिम इन मरहूटा मेडिस | प्रो० रानाडे |
| १४ मिस्टिमिम न फ इस्ताम | निबन्धन |

- | | |
|---------------------------------------|-------------|
| १५. मिस्टिसिज्म इन दी ईस्ट एण्ड वेस्ट | रुडोल्फ |
| १६. निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री | डा० बडध्वान |
| १७. सपेन्ट पावर | आर्थर एवेलन |
| १८. सिक्ख रिलीजन | मैकलिफ |
| १९. घाईज्म इन मेडिवल इंडिया | कारपन्टर |
| २०. दी बीजक आफ कबीर | अहमदशाह |
| २१. दी रिलीजन्स आफ इंडिया | ए० थर्प |

पत्र-पत्रिकाएँ

- | | |
|----------------------------|-------------------|
| १. आलोचना | दिल्ली |
| २. विश्वभारती पत्रिका | शान्ति निबेतन |
| ३. कल्याण (शिवाह) | गोरखपुर |
| ४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका | वाराणसी |
| ५. साहित्य सन्देश | झागरा |
| ६. खोज रिपोर्ट | |
| ७. सरस्वती | प्रयाग |
| गजेटियर | वाराणसी और आजमगढ़ |
- हिन्दुस्तानी भाग १९ अंक ४, अक्टूबर-दिसम्बर १९५८